समकालीन
ारत में सामाजिक समस्याएँ

[SOCIAL PROBLEMS IN CONTEMPORARY INDIA]

लेखक

एम. एल. गुप्ता

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग

एस. डी. राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर

एवं

डी. डी. शर्मा

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग

एस. डी. राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर

द्वितीय पूर्णतः संशोधित संस्करण

1981



साहित्य भवन : आगरा

प्रथम संस्करण : 1978
द्वितीय संस्करण 1981

मूल्य बारह रुपया पचास पैसे

प्रकाशक
साहित्य भवन
हॉस्पिटल रोड,
आगरा–282 003

मुद्रक
रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस,
आगरा–282 002

द्वितीय संस्करण की भूमिका

सर्वप्रथम उन विद्यार्थियों एवं विज्ञ-प्राध्यापकों के प्रति आभार प्रकट करना हम अपना पुनीत दायित्व समझते हैं जिन्होंने प्रथम संस्करण की उपयोगिता एवं उपादेयता को मान्यता प्रदान की। इस द्वितीय संस्करण को पूर्णतः परिशोधित एवं परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसमें भाषा, शैली तथा विषय की स्पष्ट अभिव्यक्ति को प्रमुखतः प्रधानता दी गयी है। साथ ही विषय से सम्बन्धित उपलब्ध नवीनतम प्रामाणिक सूचनाओं को पुस्तक में स्थान देने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

वास्तव में पुस्तक की लोकप्रियता का श्रेय उन सहृदय पाठकों एवं सहकर्मियों को ही है जिन्होंने इसे आशा के अनुरूप पाया। हमें पूर्ण विश्वास है कि पूर्ववत् ही आप इस संस्करण को भी अपनायेंगे। सभी विज्ञ-जनों से अपने रचनात्मक सुझाव भेजने का नम्र निवेदन है।

—एम. एल. गुप्ता
—डी. डी. शर्मा

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय सामाजिक समस्याओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। समस्याएँ प्रत्येक समाज में पायी जाती हैं और साथ ही उन्हें हल करने के प्रयत्न भी चलते रहते हैं। समकालीन भारतीय समाज में भी विविध सामाजिक समस्याएँ अपने वीभत्स रूप में दिखायी पड़ती हैं। स्वतन्त्र भारत में इन समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से प्रयत्न भी काफी हुए हैं। परन्तु प्रयत्न में कहाँ तक सफलता मिली है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। जब तक किसी सामाजिक समस्या को उसके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जाता, उसकी गहराई तक पहुँचने का सही प्रयत्न नहीं किया जाता, उसके विविध अन्तर्सम्बन्धित कारणों का पता लगाने की कोशिश नहीं की जाती, तब तक उसका सही निदान सम्भव नहीं है। किसी समस्या पर एकांगी दृष्टिकोण से विचार करके भी हम सही स्थिति तक नहीं पहुँच सकते। यही कारण है कि लेखकों ने विभिन्न समस्याओं को एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक नहीं मानते हुए उन्हें घनिष्ट रूप से सम्बन्धित माना है। एक समस्या किसी दूसरी समस्या का कारण अथवा परिणाम बन जाती है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक सामाजिक समस्या की तह तक जाने का, उसके विविध कारकों का पता लगाने का, उसको हल करने हेतु किये गये प्रयत्नों तथा उनके मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। साथ ही सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र में किये गये अनुसन्धानों के निष्कर्षों को भी ध्यान में रखा गया है। लेखकों ने सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से अपने आपको मुक्त रखते हुए सर्वत्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बनाये रखने का प्रयास किया है। यहाँ सभी सामाजिक समस्याओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है और उनके निराकरण हेतु रचनात्मक सुझाव दिये गये हैं। हमारी यह मान्यता है कि जब तक व्यक्ति यह नहीं समझ ले कि अन्य व्यक्तियों के हित में उसका हित है, वह दूसरों के लिए कुछ कर सकता है, व्यक्ति और समाज के जीवन को उन्नत बनाने में योग दे सकता है, तब तक समस्याओं को हल करने के प्रयत्न प्रयत्नमात्र ही रहेंगे। अधूरे प्रयत्नों की सफलता संदिग्ध ही रहती है। आज यह बात राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रमाणित हो चुकी है। इन्हीं सब दृष्टिकोणों से सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रमाणित सामग्री को पुस्तक में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

लेखन-शैली में इस बात का ध्यान रखा गया है कि पुस्तक में वर्णित सामग्री को विद्यार्थी सरलतापूर्वक समझ सकें। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए शीर्षकों, उप-

शीर्षकों एवं अवधारणाओं के लिए अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया गया है। विषय के विभिन्न अधिकाधिक विद्वानों के कथनों का आंग्ल भाषा में भी प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातक कक्षाओं के समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेषतः लिखी गयी है।

यहाँ उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शित करना हम अपना परम दायित्व समझते हैं जिनकी रचनाओं का उपयोग पुस्तक के लेखन में किया गया है। हम पुस्तक के प्रकाशक कमल बन्धुओं को धन्यवाद देना चाहेंगे जिनके सद्प्रयत्नों से यह पुस्तक सुन्दर ढंग से प्रकाशित हो पायी है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अवश्य उपयोगी सिद्ध होगी। सहृदय पाठकों एवं विज्ञजनों से नम्र निवेदन है कि वे अपने सुझावों द्वारा अनुगृहीत करें।

—एम. एल. गुप्ता

—डी. डी. शर्मा

विषय-सूची

1

सामाजिक समस्याएँ
(SOCIAL PROBLEMS)

समाजशास्त्र काफी लम्बे समय से सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में रुचि लेता रहा है। यदि यह कहा जाय कि समाजशास्त्र का विकास समस्यामूलक परिस्थितियों को कम करने के प्रयत्न के रूप में ही हुआ, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामाजिक समस्याएँ एक उपयोगी समाजशास्त्रीय अवधारणा है। सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में लोगों की रुचि के बने रहने का कारण यह है कि ये सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग हैं।

मनुष्य कभी भी सामाजिक समस्याओं से पूर्णतः मुक्त नहीं रहा है। इतना अवश्य है कि आज संचार के साधनों तथा शिक्षा के प्रसार के कारण वह इन समस्याओं के प्रति अधिक संवेदनशील हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि असन्तुष्ट लोगों के व्यवहार के प्रति समाज में जागरूकता आयी है। लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि राष्ट्र के साधनों का कुछ भाग सामाजिक समस्याओं को हल करने में किया जाना चाहिए।

तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं में लोगों की रुचि बढ़ती जा रही है। वर्तमान में सामाजिक समस्याओं के निवारण के लिए लोग अर्थशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों के विशिष्ट ज्ञान का लाभ उठाना चाहते हैं। पिछले कुछ ही वर्षों से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। इस अध्ययन में एक सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि सामाजिक समस्या को हल कैसे किया जाय, सामाजिक समस्या कैसे बनती है, सामाजिक समस्या किसे माना जाय तथा किन समस्याओं को प्राथमिकता दी जाय।

सामाजिक समस्याओं के समाधान को लेकर समाजशास्त्रियों में मतभेद पाया जाता है। इसका कारण यह है कि किसी भी समस्या के निराकरण के लिए अनेक विकल्प हो सकते हैं। किसी सामाजिक समस्या का उदाहरण प्रस्तुत करना सरल है परन्तु उसे परिभाषित करना कठिन है। बाल-अपराध, वयस्क-अपराध, बेकारी,

निर्धनता शारीरिक और मानसिक बीमारी, मद्यपान, विवाह-विच्छेद, जातिवाद, युद्ध आदि सामाजिक समस्याओं के उदाहरण हैं। इन सभी समस्याओं के बीच एक पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है। एक लम्बे समय तक बेकारी के बने रहने से निर्धनता उत्पन्न होती है। इसी प्रकार एक लम्बी अवधि तक युद्ध के चलने से विवाह-विच्छेदों, बाल-अपराधों तथा मानसिक बीमारियों की संख्या में वृद्धि होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक समस्याएँ एक दूसरे पर अन्तर-निर्भर होती हैं। अतः इनमें से किसी को भी सुलझाने के लिए इन सभी के निवारण का एक साथ प्रयत्न करना आवश्यक होता है। साधारणतः यह भी विश्वास किया जाता है कि एक समस्या के निराकरण से कोई दूसरी समस्या उत्पन्न हो सकती है।

एक सामाजिक समस्या की किसी भी परिभाषा में तीन तत्त्व पाये जाते हैं: प्रथम, सामाजिक समस्या एक ऐसी दशा है जिसमें सापेक्ष रूप से काफी लोग उलझे होते हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि कितने लोग। द्वितीय, इस दशा को अधिकांश लोगों की मूल्य-व्यवस्था की दृष्टि से समाज के कल्याण के लिए खतरा समझा जाता है। तृतीय, यह मानकर चला जाता है कि सामूहिक प्रयत्न के द्वारा इस दशा को वश में किया जा सकता है। यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि एक सामाजिक समस्या वस्तुनिष्ठ दृष्टि से (यथार्थ में) मौजूद हो सकती है, परन्तु वह व्यक्तिपरक ढंग से अस्तित्व में नहीं आ सकती जब तक कि समाज के बहुत से लोग उसके प्रति जागरूक न हों। अतः यह कहा जा सकता है कि एक सामाजिक समस्या का अस्तित्व उसके प्रति जनता में जागरूकता पर निर्भर करता है। उस समस्या को हल करने के प्रयत्न इस बात पर निर्भर करते हैं कि उसके विरुद्ध जनमत को कितना प्रभावशाली ढंग से संगठित किया जाता है?

सामाजिक समस्या की परिभाषा में एक तत्त्व यह भी है कि यह एक ऐसी दशा है जिसे समाज एक खतरे के रूप में देखता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक विशिष्ट दशा की उपस्थिति मात्र से सामाजिक समस्या निर्मित नहीं होती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लोग उस दशा को किस रूप में परिभाषित करते हैं। वे विभिन्न परिस्थितियों या दशाओं को अपने मूल्यों, मनोवृत्तियों तथा प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि में ही देखने या समझने की कोशिश करते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व मूल्यों का है जो व्यक्ति की मनोवृत्तियों तथा प्रेरणाओं को प्रभावित करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि एक ऐसी सामाजिक दशा को सामान्य रूप से अधिकांश लोगों के मूल्यों की दृष्टि से खतरे के रूप में देखी जाती है, सामाजिक समस्या मानी जाती है। बाल-अपराध तथा वयस्क-अपराध निजी सम्पत्ति तथा जीवन के लिए खतरे के रूप में हैं। इसी कारण इन्हें सामाजिक समस्याओं के रूप में देखा जाता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक सामाजिक दशा को सामाजिक समस्या के रूप में परिभाषित करने में समाज विशेष की मूल्य-व्यवस्था का काफी महत्त्व होता है। जब तक किसी सामाजिक दशा को समाज के अधिकतर लोग अपने कल्याण के लिए

खतरे के रूप में नहीं देखें, तब तक वह सामाजिक समस्या नहीं कहला सकती। बेकारी अथवा मद्यपान उसी समय सामाजिक समस्याओं की श्रेणी में आते हैं जब इनकी मात्रा इतनी बढ़ जाये कि समाज को इनसे खतरा पैदा हो जाय। ये समस्या का रूप उसी समय ग्रहण करते हैं जब बहुत से लोग इनसे प्रभावित हों, इनके प्रति जागरूक हों और इनके हल के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्नशील हों।

सामाजिक समस्या—परिभाषा और अर्थ
(SOCIAL PROBLEM—DEFINITION AND MEANING)

सामाजिक समस्या को परिभाषित करने का कार्य यद्यपि कठिन अवश्य है, परन्तु फिर भी बहुत से विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसे परिभाषित किया है। डा० वेलेस वीवर के अनुसार सामाजिक समस्या एक ऐसी दशा है जो चिन्ता, तनाव, संघर्ष या नैराश्य उत्पन्न करती है और आवश्यकता की पूर्ति में बाधा डालती है।[1]

सामाजिक समस्या उद्वेगात्मक अथवा मानसिक व्याकुलता के लिए उत्तरदायी है। चिन्ता, समस्या में गतिशील तत्व के रूप में पायी जाती है। एक समस्या-मूलक परिस्थिति उन व्यक्तियों को इसका हल खोजने के लिए बाध्य करती है जो इससे प्रभावित हों। समस्या से छुटकारा प्राप्त करने के लिए परिस्थिति को सामाजिक परिवर्तनों के माध्यम से बदलना आवश्यक होता है। सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में ध्यान सामाजिक परिस्थितियों पर केन्द्रित किया जाता है।

राब तथा सेल्जनिक ने सामाजिक समस्या को मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित एक समस्या माना है जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा पैदा करती है अथवा जो व्यक्तियों की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं की प्राप्ति में बाधाएँ उत्पन्न करती है।[2] पाल लैंडिस के अनुसार सामाजिक समस्याएँ व्यक्तियों की कल्याण सम्बन्धी अपूर्ण आकांक्षाएँ हैं।[3] क्लेरेंस मार्शकेस के मतानुसार सामाजिक समस्या का तात्पर्य किसी ऐसी सामाजिक परिस्थिति से है जो एक समाज में काफी संख्या में योग्य अवलोकन-कर्त्ताओं के ध्यान को आकर्षित करती है, और सामाजिक अर्थात् सामूहिक, किसी एक अथवा दूसरे किस्म की क्रिया के द्वारा पुनः सामंजस्य या हल के लिए उन्हें आग्रह करती है।[4]

रिचार्ड सी० फुल्लर तथा रिचार्ड मायर्स के अनुसार व्यवहार के जिन प्रतिमानों या परिस्थितियों को किसी समय समाज के बहुत सदस्य आपत्तिजनक अथवा

---

1 "A social problem is any condition that causes strain, tension, conflict or frustration and interferes with the fulfilment of a need."
—W. Wallace Weaver, *Social Problems*, p. 1

2 "It is a problem in human relationship which seriously threatens society or impedes the important aspirations of many people."
—Roab Earl and Selznick, G. L., *Major Social Problems*, p. 4

3 "Social problems are man's unfulfilled aspirations for welfare."
—Landis, Paul H., *Social Problems*, p. 3.

4 Clarence Marsh Case, *What is a Social Problem?*, The Journal of Applied Sociology, May-June 1924, pp. 268-273.

अवांछनीय मानते हों, वे ही सामाजिक समस्याएं हैं। इन सदस्यों की यह मान्यता रहती है कि इन समस्याओं को हल करने और उनके कार्यक्षेत्र को कम करने के लिए सुधार-नीतियों, कार्यक्रमों एवं सेवाओं की आवश्यकता होती है।[1] मेरिल तथा एल्डरिज ने बतलाया है कि सामाजिक समस्याएँ उस समय उत्पन्न होती हैं जब गतिहीनता के कारण काफी संख्या में लोग अपनी-अपनी अपेक्षित सामाजिक भूमिकाओं में कार्य करने में असमर्थ होते हैं।[2] हार्टन तथा लेस्ले के अनुसार सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है जो बहुत से लोगों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती है तथा जिसका हल सामूहिक क्रिया द्वारा ही हो सकता है।[3]

वाल्स एवं फर्के की मान्यता है कि सामाजिक समस्या सामाजिक आदर्शों का विचलन (deviation) है जिसका निराकरण सामूहिक प्रयास से ही सम्भव है।[4] अरनाल्ड एम० रोज ने लिखा है कि सामाजिक समस्या एक ऐसी परिस्थिति है जो किसी समूह के द्वारा अपने सदस्यों के लिये असन्तोष के एक स्रोत के रूप में देखी जाती है और जिसमें बेहतर विकल्पों को मान्यता दी जाती है ताकि समूह या समूह में व्यक्ति कोई परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित होते हैं। इसे सामाजिक समस्या प्रमुखत इसलिए माना जाता है क्योंकि यह सामाजिक वातावरण में ही पायी जाती है और उत्तरदायी कारणों को इस रूप में देखा जाता है कि वे पर्यावरण में ही मौजूद हैं।[5] शेपर्ड तथा वास के अनुसार एक सामाजिक समस्या समाज की कोई भी ऐसी सामाजिक दशा है जिसे समाज के एक बहुत भाग या शक्तिशाली भाग द्वारा अवांछनीय और ध्यान देने योग्य समझा जाता है।[6]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक समस्याओं के अर्थ को भली भाँति समझा जा सकता है। इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता कि सामाजिक समस्या के अर्थ में निम्नलिखित सामान्य तत्त्व पाये जाते हैं :

(1) सामाजिक समस्या एक ऐसी कष्टप्रद दशा है जो व्यक्ति और समाजों के विकास की दृष्टि से बाधक है।

(2) सामाजिक समस्या का मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक विस्तार इतना होता कि उससे एक महसूस की जाने वाली आवश्यकता की पूर्ति में बाधा पड़ती है।

1 Richard C. Fuller & Richard Myers. "Some Aspects of a Theory of Socia Problems," In American Sociological Review (Feb. 1941), pp. 24 32, an W. S. Kisson, *Social Problems in Our Times*, p. 4

2 Merril, Francis E. & Eldredge, H W., *Culture & Society*, p. 517.

3 Horton, Paul B. and Leslie, Gerald R., *The Sociology of Social Problems* p 4

4 Walsh, Mary E. & Furfey, Paul H., *Social Problems and Social Action*, p. 1.

5 Arnold M Rose "History of Sociology of Social problems" in Hand-bool on the Study of Social Problems, ed. by Erwino Smigel, p 41.

6 Shepard & Voss, *Social Problems*, p 1.

(3) किसी सामाजिक दशा के सामाजिक समस्या कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि समूह या जनता मे उसके प्रति जागरूकता पायी जाय।

(4) असामंजस्यपूर्ण शक्तियों तथा उनके परिणामों को रोकने के लिए सामाजिक क्रिया एवं नियत्रण की आवश्यकता पड़ती है।

(5) पुनः सामजस्य स्थापित करने के लिए पर्यावरण सम्बन्धी परिस्थिति मे सरचनात्मक संशोधन आवश्यक रहता है।

स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याएँ वे सामाजिक दशाएँ या परिस्थितियाँ हैं जो समाज में सामंजस्य, सुदृढ़ता एव सामाजिक मूल्य-व्यवस्था के लिए खतरा मानी जाती हैं। *सामाजिक समस्या और व्यक्तिगत समस्या मे अन्तर पाया जाता है।* व्यक्तिगत समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष के हितों से होता है और उसका हल करने का प्रयत्न भी व्यक्तिगत रूप से ही किया जाता है। सामाजिक समस्या समाज के बहुत से लोगों से सम्बन्धित होती है और उसके निवारण का प्रयत्न भी सामूहिक रूप से ही किया जाता है। किसी व्यक्ति के पारिवारिक जीवन में तनाव का पाया जाना अथवा अपनी लड़की के विवाह के लिए काफी रुपया एकत्रित करना व्यक्तिगत समस्या है। परन्तु जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, बेकारी, निर्धनता, अपराध, मद्यपान आदि ऐसी सामाजिक समस्याएँ हैं जिनसे समाज के बहुत-से लोग प्रभावित होते हैं और जिनके निराकरण के लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक है। अत. सामाजिक समस्याओं को हम उन सामाजिक *दशाओं के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो सामाजिक कल्याण के लिए काफी खतरे के रूप में होती हैं, जिनके प्रति एक समाज के काफी लोग जागरूक होते हैं और निराकरण के लिए सामूहिक रूप से कोई रचनात्मक कार्य या प्रयास करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। किसी सामाजिक समस्या को हल करने हेतु सार्वजनिक धन से व्यय किया जाता है।*

किसी सामाजिक दशा को सामाजिक समस्या के रूप में समझने और हल करने के लिए फुल्लर के अनुसार तीन अवस्थाओं से गुजरना आवश्यक है।[1] प्रथम, किसी परिस्थिति को सामाजिक समस्या मानने के लिए यह आवश्यक है कि लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो कि वह परिस्थिति लोगों की मूल्य-व्यवस्था की दृष्टि से अनुचित है और उसको हल करने के लिए कुछ करना चाहिए। द्वितीय, किसी सामाजिक समस्या के अस्तित्व को स्वीकार करने पर उसके निवारण के लिए अनेक सुझावों मे से किसी एक को मानकर उसके अनुरूप साधन ढूंढ़ने का प्रयास किया जाता है। तृतीय, किसी साधन को ढूंढ़ने के पश्चात् उसको कार्यान्वित कर सुधार लाने की कोशिश की जाती है।

अधिकांश सामाजिक समस्याएं मानव-निर्मित होती हैं और उन्हें सच्चे सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा हल किया जा सकता है। जोन जे० केन ने सामाजिक समस्याओं

1 Richard C. Fuller & Richard Myers, *op. cit.*, pp 320-328.

को दो श्रेणियों में बाँटा है। प्रथम, प्रकट सामाजिक समस्याएँ (Overt Social Problems) और द्वितीय, पर्दाश्रित (गुप्त) सामाजिक समस्याएँ (Covert Social Problems)।[1] एक प्रकट सामाजिक समस्या एक ऐसी सामाजिक दशा है जिसके लिए राज्य या निजी एजेन्सियों अथवा दोनों के द्वारा सामूहिक रूप से उपचारात्मक प्रयत्न किये जाते हैं क्योंकि जनता को इसके प्रति जागरूक कर दिया जाता है और वह ऐसा विश्वास करने लगती है कि यह दशा समाज की मुख्य व्यवस्थाओं के अनुसार समाज के लिए खतरा है।[2] बाल अपराध, अपराध, मद्यपान, बेकारी, निर्धनता तथा जनसंख्या-वृद्धि आदि इसी श्रेणी में आती हैं। एक पर्दाश्रित सामाजिक समस्या वह है जिसके लिए कोई उपचारात्मक सामूहिक कार्यवाही नहीं की गयी हो, लेकिन जो फिर भी समाज के लिए खतरा है, कम से कम जनता के किसी खण्ड या समूह अथवा कई सुयोग्य अवलोकनकर्ताओं के मस्तिष्कों में।[3] स्पष्ट है कि पर्दाश्रित सामाजिक समस्या भी एक वास्तविक समस्या है, लेकिन वह उस समय तक सामाजिक समस्या के रूप में प्रतीत नहीं होती जब तक कि उसके प्रति जनता में जागरूकता पैदा नहीं की जाती और उसके निवारण के लिए कोई सामूहिक कार्यवाही नहीं की जाती। हमारे देश में अस्पृश्यता सैकड़ों वर्षों तक एक पर्दाश्रित सामाजिक समस्या के रूप में रही है, परन्तु वर्तमान में यह एक प्रकट सामाजिक समस्या बन पायी है क्योंकि इसके प्रति अब जनता में जागरूकता पायी जाती है। और इसके निवारण का सामूहिक प्रयत्न किया जा रहा है।

समस्या के आकार को प्रभावित करने वाले कारक
(FACTORS INFLUENCING MAGNITUDE OF A PROBLEM)

किसी समस्या के आकार को प्रभावित करने वाला प्रथम कारक उस परिस्थिति में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या है। द्वितीय कारक समस्या द्वारा उत्पन्न भावना की तीव्रता है। इस भावना को आवेग (passion) के नाम से जाना जाता है। निस्बेट (Nisbet) की मान्यता है कि जो व्यक्ति या समूह किसी परिस्थिति को एक समस्या के रूप में परिभाषित करते हैं, नैतिक रोष अनुभव करते हैं।[4] ये दो कारक, परिस्थिति में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या तथा आवेग अनेक रूपों में पारस्परिक अन्तःक्रिया करते हैं। किसी भी परिस्थिति के आकार वाली समस्या होने के लिए इन दोनों की उपस्थिति आवश्यक है। इन दोनों में से यदि कोई एक कारक पाया जाता है, तो समस्या की सामाजिक प्रकृति महत्त्वहीन होगी। उदाहरण के रूप में किसी समाज के लाखों करोड़ों लोग चाहे निर्धनता के शिकार क्यों न हों, लेकिन

1 John J. Kane, *Social Problems*, p. 7.
2 *Ibid.*, p. 8.
3 *Ibid.*, p. 8.
4 Nisbet, R. A., *Study of Social Problems* in R. K. Merton & R. A. Nisbet (eds.), Contemporary Social Problems. Quoted by Erwin O. Smigel, *op. cit.*, p. 42.

जब तक वे अपनी इस परिस्थिति को अनुचित या परिवर्तनीय नहीं समझते हैं, तब तक उनकी निर्धनता एक बड़ी सामाजिक समस्या नहीं है।

वर्तमान भारत में प्रजातान्त्रिक मूल्यों तथा समाजवादी विचारधारा के प्रसार ने लोगों को निर्धनता के प्रति जागरूक बना दिया है और लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि निर्धनता का बना रहना अनुचित है और इसे प्रयत्न द्वारा कम अथवा समाप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि इसने आजकल बड़े आकार की समस्या का रूप ग्रहण कर लिया है। यह कहा जा सकता है कि एक सामाजिक समस्या का आकार उस समय सबसे अधिक होता है जब लोग काफी संख्या में तीव्रता से उत्तेजित हो उठते हैं और इसलिए कोई कार्यवाही करने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

सामाजिक समस्याएँ, सामाजिक विघटन तथा वैयक्तिक विघटन (SOCIAL PROBLEMS, SOCIAL DISORGANIZATION AND *INDIVIDUAL DISORGANIZATION*)

सामाजिक विघटन को समझने के लिए सामाजिक संगठन को समझना आवश्यक है। इलियट और मेरिल ने बतलाया है कि सामाजिक संगठन वह दशा अथवा स्थिति है, जिसमें किसी समाज की विभिन्न संस्थायें अपने मान्यता-प्राप्त या पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार कार्य करती रहती हैं। सामाजिक संगठन की स्थिति में एक समाज के विभिन्न तत्वों का संचालन सुव्यवस्थित ढंग से होता रहता है। इस रूप में एक समुदाय, धार्मिक अथवा राजनैतिक इकाई या समाज विशेष का अपना सामाजिक संगठन होता है। इलियट व मेरिल के अनुसार सामाजिक संगठन सामाजिक लक्ष्यों की सामान्य परिभाषाओं और उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामान्य रूप से स्वीकृत कार्यक्रम पर निर्भर करता है।[1] प्रत्येक समाज में सामाजिक संगठन भिन्न-भिन्न अंशों में पाया जाता है। कोई भी ऐसा समाज दिखलायी नहीं पड़ता जहाँ सामाजिक संगठन पूर्ण रूप में पाया जाता हो, अर्थात् जहाँ एक समाज के सभी सदस्य सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयत्न में पूरी तरह एक-दूसरे के साथ सहयोगात्मक सम्बन्ध बनाये हुए अपनी भूमिकाएँ निभाते हों। पूर्ण सामाजिक संगठन का तात्पर्य सर्वसम्मतता और व्यवहार प्रतिमानों में स्थायित्व से है जो आज के तीव्र गति से परिवर्तनीय समाजों में सम्भव नहीं है। यहाँ हमें इस बात को ध्यान में रखना है कि सामाजिक संगठन कोई स्थिर या गतिहीन व्यवस्था नहीं है। इस सम्बन्ध में मोरर ने लिखा है कि सामाजिक संगठन कोई स्थिर, गतिहीन वस्तु नहीं है जो एक बार स्थापित हो जाने पर अपरिवर्तित बनी रहती हो। एक अर्थ में तो यह एक उप कल्पना (hypothesis), एक आदर्श-रचना (ideal construct) है जो प्रत्येक समाज में सतत विद्यमान परिवर्तनशील पहलुओं को नहीं बल्कि संस्कृति के सापेक्षत अपरिवर्तनशील प्रतिमानों को अधिक महत्व देती है।[2] जिन समाजों में परिवर्तन की

1 Eliott & Merrill, *Social Disorganization*, p. 4
2 E. R. Mowrer, *Disorganization, Personal and Social*, p. 3

गति बहुत धीमी होती है, वहाँ सामाजिक संगठन में अधिक स्थायित्व पाया जाता है, अपेक्षाकृत उन समाजों के जहाँ परिवर्तन तीव्र गति से होते हैं।

सामाजिक संगठन की उपर्युक्त अवधारणा से स्पष्ट है कि जहाँ लोगों में सामाजिक लक्ष्यों और उनकी प्राप्ति के हेतु अपनाये जाने वाले कार्यक्रमों के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव पाया जाता हो, प्रस्थिति और भूमिका सम्बन्धी अस्पष्टता हो, तीव्र परिवर्तनों के कारण व्यवहार प्रतिमान तेजी से बदल रहे हों जिनके परिणाम-स्वरूप लोगों के सामने यह दुविधा हो कि वे क्या करें और क्या नहीं करें, तब इस स्थिति को सामाजिक विघटन कहा जाता है।

इलियट और मैरिल के अनुसार सामाजिक विघटन उस समय होता है जब शक्तियों के संतुलन में परिवर्तन आता है और सामाजिक संरचना छिन्न-भिन्न होती है, पूर्ववर्ती प्रतिमान जब प्रयोग में नहीं लाये जाते और सामाजिक नियन्त्रण के स्वीकृत स्वरूप प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं करते। समाज की गतिशील प्रकृति में निर्णायक तत्वों का निरन्तर पुनर्समायोजन सम्मिलित है। इन पुनर्समायोजनों से उत्पन्न सामाजिक परिवर्तन संस्थात्मक सम्बन्धों तथा व्यवहार प्रतिमानों को जो किसी समय सामाजिक संरचना के अनिवार्य अंग थे, समाप्त कर देता है। परिवर्तन की तीव्रता नवीन प्रतिमानों की स्थापना को कठिन बना देती है। आधुनिक समाज इसी बीच उन आदर्श नियमों और परिभाषाओं से अप्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित किया जाता है जो उस समाज में उत्पन्न हुए, जो जा चुका है और कभी पुनः नहीं लौटने वाला है।[1] स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समूह के सदस्यों के बीच सम्बन्ध तोड़ दिये या समाप्त कर दिये जाते हैं। समूह, सदस्यों के बीच सामाजिक सम्बन्धों का पुंज है, और सामाजिक विघटन शाब्दिक दृष्टि से समूह को तोड़ने की प्रक्रिया है।[2] फेरिस के अनुसार समूह प्रतिमान व्यक्ति के जीवन में बहुत वास्तविक हैं, यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष रूप से मापा नहीं जा सकता। जब यह प्रतिमान अस्त-व्यस्त हो जाते हैं या टूट जाते हैं तब विघटन पाया जाता है।[3]

सामाजिक संगठन और सामाजिक विघटन के अर्थ से भली-भाँति स्पष्ट है कि ये दोनों सापेक्ष अवधारणाएँ हैं। जैसे-जैसे समाजों में जटिलता बढ़ती है और सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती जाती है, वैसे-वैसे सामाजिक सामंजस्य के दबाव और तनाव अधिकाधिक गहन होते जाते हैं। यदि इनसे छुटकारा प्राप्त नहीं किया जाता है तो सामाजिक विघटन की मात्रा में वृद्धि होती रहती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक अव्यवस्था से सापेक्ष व्यवस्था और पुनः मतैक्य स्थापित करने का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाता है।

1 Eliott & Merrill, *op cit*, p. 20
2 Ralph Kramer, *The Conceptual Status of Social Disorganization*, American Journal of Sociology, 48, 466-474 (Jan 1943).
3 Robert E. L. Faris, *Contemporary & Prospective Social Disorganization*, Sociology & Social Research, 32; 679-680 (Jan-Feb. 1948).

वैयक्तिक विघटन की स्थिति मे समाज के सदस्यो के व्यक्तित्वों मे परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। सामाजिक विघटन के कारण सामाजिक सम्बन्धो में अस्पष्टता, परस्पर विरोध तथा संघर्ष पाया जाता है। ये ऐसी विशेषताएँ हैं जो परिवार, आर्थिक व्यवस्था, शिक्षण संस्था अथवा राज्य तक मे दिखलाई पड़ती हैं। आधुनिक समाज में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधी समाज के सदस्यों के व्यक्तित्वों में विरोध उत्पन्न कर देते हैं। सामाजिक विघटन के फलस्वरूप उत्पन्न इन अन्तर्विरोधो के कारण अनेक व्यक्तियों के महत्त्वपूर्ण समूह सम्पर्क टूट जाते हैं, व्यक्तिगत सुरक्षा की चेतना समाप्त हो जाती है, और यहाँ तक कि स्वयं जीवन के प्रति उनकी रुचि शिथिल पड़ जाती है। ऐसे लोग जीवन से ऊब जाते हैं। सामाजिक विघटन के कारण व्यक्तियो के एक कार्यात्मक समग्र के रूप मे पाये जाने वाले आपसी सम्बन्ध छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति अपनी भूमिकाएँ ठीक प्रकार से नहीं निभा पाते। एक विघटित समाज ऐसे लोगो से ही मिलकर बना होता है जिनके जीवन कम अथवा अधिक मात्रा मे विघटित होते हैं। इलियट तथा मेरिल ने लिखा है कि एक ऐसे समाज में जिसकी संरचना गम्भीर रूप से विघटित है, पूर्णत: संगठित व्यक्तियों का बहुत अधिक संख्या मे पाया जाना असम्भव है। एक अस्त-व्यस्त, विघटित तथा विखण्डित समाज अनिवार्यत: अस्त व्यस्त, विघटित तथा विखण्डित व्यक्तियों को उत्पन्न करता है। व्यक्तित्व सामाजिक पृष्ठभूमि मे ही विकसित होता है जहाँ व्यक्ति समूह के अन्य सदस्यों से व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमान सीखता है। जब ये प्रतिमान अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, जब व्यक्ति यह नहीं जान पाता कि उससे क्या आशा की जाती है, जब वे सम्बन्ध जो उसे उसके परिवार, मित्रो तथा साथियों से बाँधते हैं, स्वयं टूट जाते हैं, तब एक पूर्णत. संगठित व्यक्तित्व के विकास के अवसर वास्तव मे बहुत कम होते हैं। व्यक्ति संक्षेप मे विवश होकर उस समाज की दशा को प्रतिबिम्बित करता है जिसकी वह उपज है।[1] ऐसे व्यक्ति व्यक्तिगत विघटन के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

व्यक्तिगत विघटन और सामाजिक विघटन मे घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। विघटित व्यक्ति जब अपने व्यवहार के द्वारा दूसरो को प्रभावित करता है, तो वह विघटन को और अधिक बढ़ाता है। विघटित व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सन्दर्भ मे अपनी भूमिकाओ को ठीक प्रकार से निभाने मे असमर्थ रहता है और सामाजिक विघटन को बढ़ाने मे सहायता पहुँचाता है। उदाहरण के रूप मे एक स्नायुरोगी पत्नि (Neurotic wife) जो अपनी भूमिका ठीक तरह से नहीं निभा पाती है, अपने पति और बच्चों को विघटित करने मे मदद देती है। जहाँ विघटित व्यक्ति सामाजिक विघटन को बढ़ाने मे योग देता है, वहाँ सामाजिक विघटन भी व्यक्ति के जीवन को विघटित कर देता है। उदाहरण के रूप मे एक ऐसा समाज जहाँ बेकारी काफी

1 *Ibid.*, pp. 39-40.

मात्रा में पायी जाती है, व्यक्तिगत और पारिवारिक विघटन के लिए उत्तरदायी होता है।

सामाजिक समस्याओं और सामाजिक विघटन के बीच घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। जब समाज में सामाजिक समस्याएँ उग्र रूप धारण कर लेती हैं तो ऐसा समाज एक एकीकृत कार्यात्मक समग्र के रूप में कार्य नहीं कर पाता और उसकी प्रगति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। वैयक्तिक विघटन और सामाजिक समस्याओं के मध्य भी एक गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिगत विघटन की अवस्था में व्यक्ति समाज के आदर्श नियमों के अनुरूप व्यवहार नहीं कर पाता। वह यह निश्चित करने में असमर्थ रहता है कि उससे क्या अपेक्षाएँ की जा रही हैं। दुविधा की स्थिति में वह अपनी भूमिकाएँ ठीक से नहीं निभा पाता। ऐसी दशा में समाज में अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस स्थिति का चित्रण करते हुए वीन्सबर्ग (Weinsberg) ने बतलाया है कि जो व्यक्ति समाज के आदर्शों के अनुरूप रहता है, वह सामाजिक दृष्टि से सामान्य व्यक्ति होता है और परिणामस्वरूप अपने आपको सामान्य समझता है। परन्तु जो व्यक्ति आदर्श का उल्लंघन करते हुए पकड़ लिया जाता है, वह पथच्युत कहलाता है। पथच्युत व्यक्ति चाहे वह किसी भी समूह का सदस्य अथवा अकेला हो, सामाजिक समस्या का प्रतिनिधि है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याएँ सामाजिक विघटन और वैयक्तिक विघटन एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। एक विघटित व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को अपने व्यवहार द्वारा प्रभावित करता है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं और सामाजिक समस्याओं के उग्र रूप धारण करने पर समाज में सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सामाजिक समस्याओं के कारण
(CAUSES OF SOCIAL PROBLEMS)

व्यक्तिगत और सामाजिक विघटन सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० टिम्स का कहना है कि सामाजिक समस्याओं को जन्म देने वाली अवस्थाओं को सामाजिक रोग, सामाजिक विघटन, मतभेद और विचलन की अवस्थाएँ कहा गया है।[2] वीवर के अनुसार सामाजिक समस्याओं का प्रमुख कारण, जैसा कि समाजशास्त्रियों ने पाया है, समाज में अन्तर्निहित मानवीय आवश्यकताओं का नैराश्य है जिसने प्रौद्योगिकी को प्राय: क्रान्तिकारी अंशों में परिवर्तित कर दिया है, बिना सामाजिक संगठन में तुलनात्मक परिवर्तन किये।[3] समाजशास्त्रियों की

1 Weinsberg, *Social Problems in Our Times*, p 8
2 Noel Timms, *A Sociological Approach to Social Problems*, p 20
3 W. Wallace Weaver, *op. cit.*, p 38

मान्यता है कि प्रौद्योगिक परिवर्तनों के प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृति का भौतिक पक्ष बदल जाता है। डब्ल्यू० ऑ० ऑगबर्न ने इसे सांस्कृतिक विलम्बना (cultural lag) माना है। संस्कृति के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन की अलग-अलग दर चिन्ता अथवा तनाव उत्पन्न करती है जो सामाजिक विघटन की दशा के लिए उत्तरदायी है। अत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक विलम्बना तथा सामाजिक विघटन सामाजिक समस्याओं के कारणों की व्याख्या प्रस्तुत करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

आजकल यह माना जाता है कि सभी सामाजिक समस्याएँ पारस्परिक रूप से सम्बन्धित हैं और किसी भी समस्या को अन्य समस्याओं से पूर्णत: पृथक करके नहीं समझा जा सकता। अत: सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण एक सामाजिक संरचना में चल रही सामाजिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। सामाजिक प्रक्रिया का तात्पर्य एक समूह के जीवन में होने वाले परिवर्तनों से है।

राब तथा सेल्जनिक ने सामाजिक समस्याओं के पाँच कारणों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं [1]

(1) जब किसी संगठित समाज के सदस्यों के सम्बन्धों को व्यवस्थित करने की योग्यता समाप्त होने लगती है अथवा समाप्त होती प्रतीत होती है तो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(2) जब समाज की संस्थाएँ विघटित होने लगती हैं तो सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

(3) जब किसी समाज के लोग कानूनों का उल्लंघन करने लगते हैं तो सामाजिक समस्याएँ उभरने लगती हैं।

(4) जब लोगों की अपेक्षाओं का ढाँचा लड़खड़ाने लगता है तो सामाजिक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं।

(5) जब समाज के मूल्यों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होना रुक जाता है तो ऐसी दशा में सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

पाल लैण्डिस ने सामाजिक समस्याओं के चार कारण बताये हैं जो इस प्रकार हैं :[2]

(1) व्यक्तिगत समायोजन में असफलता।

(2) सामाजिक संरचनाओं में दोष पैदा होना।

(3) संस्थात्मक समायोजन में असफलता।

(4) सामाजिक नीति में संस्थात्मक विलम्बनाएँ।

1 Raab and Selznick, *op. cit.*, p 6.
2 Paul Landis, *op cit.*, pp. vii-viii.

सामाजिक समस्याएँ और सैद्धान्तिक अवधारणाएँ
(SOCIAL PROBLEMS AND THEORETICAL FRAME OF REFERENCE)

विभिन्न सामाजिक समस्याओं के मध्य न केवल पारस्परिक सम्बन्ध ही पाया जाता है, बल्कि उनका सामान्य आधार भी होता है। इस सामान्य आधार को दृष्टि में रखकर ही चार दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं। सैद्धान्तिक अवधारणाओं के रूप में ये दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं :

(1) सामाजिक विघटन का सिद्धान्त,
(2) सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त,
(3) मूल्य संघर्ष का सिद्धान्त, और
(4) वैयक्तिक विचलन का सिद्धान्त।

(1) सामाजिक विघटन का सिद्धान्त (Theory of Social Disorganization)—कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सामाजिक विघटन के कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। रोलॅण्ड वारेन ने सामाजिक विघटन को एक ऐसी स्थिति माना है जिसमें मतैक्य का अभाव, संस्थाओं के एकीकरण की कमी और सामाजिक नियन्त्रण के अपर्याप्त साधन पाये जाते हैं।[1] मतैक्य के अभाव में समूह के लक्ष्यों के प्रति मतभेद और परस्पर विरोधी भावनात्मक धारणाएँ पायी जाती हैं। यह स्थिति विभिन्न संस्थाओं के कार्य-संचालन में बाधा डालती है और ये संस्थाएँ एक-दूसरे के साथ सामंजस्य नहीं बनाये रख पाती हैं। परिणाम यह होता है कि ये एक दूसरे के विपरीत कार्य करने लगती हैं और एक ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है जिससे व्यक्ति समाज में नियमों के अनुसार कार्य नहीं कर पाते हैं।

भूतकालीन समाजों में सापेक्ष रूप से स्थिरता, सामाजिक परिवर्तन की बहुत धीमी गति और व्यक्ति की प्रस्थिति तथा भूमिका में स्पष्टता थी एवं लोग मान्यता-प्राप्त रीतियों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें व्यक्तियों की क्रियाओं एवं मूल्यों में समन्वय था। धीरे-धीरे परिवर्तन की मात्रा बढ़ती गई और एक ऐसी नवीन स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें या तो पुरानी क्रियाएँ समाप्त हो गयीं अथवा उन्हें अनुपयोगी समझा जाने लगा। व्यवहार के परम्परागत नियमों का प्रभाव कम होने लगा और ये व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने में असफल रहे। इस अव्यवस्थित स्थिति में नवीन नियमों को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और लोग मूल्यों तथा नैतिकता की परवाह किये बिना व्यवहार करने लगे। यह स्थिति सामाजिक विघटन की स्थिति थी जो अनेक सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी थी। फैरिस ने सामाजिक विघटन के लक्षणों

1 "A condition involving lack of consensus, lack of integration of institutions and inadequate means of Social Control."
Roland, L. Warren, "Social Disorganization and the Interrelationship of Cultural Roles." American Sociological Review, Vol 14. 1949, p 84.

के रूप में पवित्र तत्वों के ह्रास, स्वार्थों एवं रुचियों में व्यक्तिवादिता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिगत अधिकारों पर बल, भौतिक सुख सम्बन्धी व्यवहार, एक दूसरे पर अविश्वास, और अशान्ति उत्पन्न करने वाले तत्व, आदि पर जोर दिया है।[1]

रोबर्ट फेरिस तथा कुछ अन्य विद्वानों ने सामाजिक विघटन को सामाजिक समस्याओं का प्रमुख कारण नहीं माना है। इस सम्बन्ध में फैरिस ने लिखा है कि सामाजिक विघटन का सिद्धान्त उस परिस्थिति की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता जिसमें सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है।[2] यह सिद्धान्त उन स्थितियों को स्पष्ट करने में असमर्थ रहा है जो सामाजिक समस्याओं को जन्म देती हैं। किसी समाज में सामाजिक विघटन के नहीं होने पर भी सामाजिक आदर्शों से विचलन की स्थिति या सामाजिक समस्याएं पायी जा सकती हैं। इससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सामाजिक विघटन और सामाजिक समस्याओं में आपस में कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। हम यहाँ वाल्श के विचारों से सहमत हैं जिन्होंने बतलाया है कि यदि सामाजिक विघटन का सिद्धान्त सभी सामाजिक समस्याओं की पूर्ण व्याख्या नहीं है, परन्तु उनमें से बहुत-सी समस्याओं को कम से कम आंशिक रूप में अवश्य समझाता है।[3]

(2) सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त (Theory of Cultural Lag)—सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि सामाजिक समस्याएँ कैसे उत्पन्न होती हैं? परिवर्तन सामाजिक व्यवहार की एक सार्वभौमिक विशेषता है। संस्कृति के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन की असमान दर सामाजिक समस्याओं को जन्म देती है। अनेक विद्वानों के द्वारा इस प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं जिनमें विलियम एम० आगबर्न की 'सांस्कृतिक विलम्बना' की अवधारणा प्रमुख है। सांस्कृतिक विलम्बना सम्बन्धी उपकल्पना तीन बातों पर आधारित है—(1) संस्कृति के अनेक पक्ष या अंग गति की भिन्न-भिन्न दरों के अनुसार परिवर्तित होते हैं, (2) संस्कृति के भौतिक पक्ष अभौतिक या वैचारिक पक्षों की तुलना में अधिक तेजी से परिवर्तित होते हैं; और (3) भौतिक परिवर्तनों को अपनाने और उनके अनुरूप सामाजिक संस्थाओं के विकसित होने के बीच विलम्बना के क्षेत्र में सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। आगबर्न ने श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम, 1923 (Workmen's Compensation Act, 1923) के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार सांस्कृतिक विलम्बना ऐसी परिस्थिति

---

1 Faris, Robert. E. L., *Social Disorganization*, p. 19.

2 *Ibid*., pp. 35-36

3 "If the social disorganization theory is not a full explanation for all social problems, it is at least a partial explanation for many of them."
—Walsh and Furfey, *op. cit*., p. 15.

को उत्पन्न करने में योग देती है जो सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। आगबर्न ने बताया है कि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप लोगों को बड़े-बड़े कारखानों में काम करना पड़ा जहाँ बहुत से श्रमिक समय-समय पर दुर्घटनाग्रस्त हुए। ऐसी स्थिति में उनकी शारीरिक निर्योग्यता के कारण परिवार के भरण-पोषण की समस्या उत्पन्न हुई। औद्योगीकरण के विकास के काफी समय पश्चात् कारखानों में दुर्घटना-ग्रस्त होने की स्थिति में श्रमिक को क्षति-पूर्ति के रूप में कुछ धन-राशि दिलाने का प्रावधान किया गया। भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में औद्योगीकरण के विकास तथा श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम, 1923 के पारित होने के बीच के काल को सांस्कृतिक विलम्बना काल कहा जायेगा। यहाँ स्थिति और आवश्यकता के मध्य एक तनाव पाया जाता है।

आज के गतिशील समाजों में आधुनिक प्रौद्योगिक विकासों ने व्यक्तियों की आवश्यकताओं को बदल दिया है और ऐसी स्थिति में सामाजिक संगठनों के नवीन स्वरूपों के विकास की आवश्यकता है। संस्कृति के भौतिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों को शीघ्रता से अपना लेने और उनके अनुरूप होने वाले वैचारिक परिवर्तनों या अभौतिक संस्कृति के पहलुओं में परिवर्तन की दर के धीमी होने और शीघ्रता से इनको लोगों के द्वारा स्वीकार नहीं किये जाने के कारण सांस्कृतिक विलम्बना की स्थिति उत्पन्न होती है। इस संक्रांति काल में अस्त-व्यस्तता एवं संघर्ष की स्थिति पनपती है जो सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। वर्तमान में भारत में बेकारी की समस्या पायी जाती है परन्तु बेकार लोगों का आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु बेरोजगारी बीमा योजना प्रारम्भ नहीं की गई है। यहाँ बेकारी की स्थिति और बेकार व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता के बीच एक तनाव पाया जाता है जो सांस्कृतिक विलम्बना है। बेकार व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सामाजिक नियमों के विपरीत आचरण कर सकता है और समाज में अपराध के रूप में सामाजिक समस्या उत्पन्न हो सकती है। वास्तविकता यह है कि गतिशील समाजों में परिवर्तन की गति इतनी तीव्र होती है कि ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है जो सन्तोषप्रद ढंग से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। आगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि रूढ़िवादिता, नये विचारों के प्रति आशंका, अतीत के प्रति लगाव, निहित स्वार्थ एवं नवीन विचारों की जाँच में कठिनाई सांस्कृतिक विलम्बना के लिए उत्तरदायी है।

यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि सांस्कृतिक विलम्बना के आधार पर केवल कुछ सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति को ही समझाया जा सकता है, सबकी उत्पत्ति को नहीं। स्थायी प्रकृति के समाजों में भी जहाँ सांस्कृतिक विलम्बना नहीं पायी जाती, निर्धनता दिखायी पड़ती है। बीयर ने बतलाया है कि यदि हम संस्कृति के आधुनिक विद्यार्थियों के अनुसार सम्पूर्ण संस्कृति को अभौतिक या वैचारिक

रूप में परिभाषित करें तो आगबर्न द्वारा अपने सिद्धान्त के आधार के रूप में काम में लिया गया भौतिक और अभौतिक पहलुओं सम्बन्धी अन्तर समाप्त हो जाता है।[1] इसके बावजूद भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संस्कृति के कुछ पहलू अन्य की तुलना में अधिक तेजी से बदलते हैं जो सामंजस्य की समस्या पैदा करते हैं।

(3) मूल्यों में संघर्ष का सिद्धान्त (*Value Conflict Theory*)—*मूल्यों का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। मूल्यों के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि हमें कौन-सा काम करना चाहिए और कौन-सा नहीं। समाज में कुछ मूल्य अन्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।* इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न समूहों के अलग-अलग मूल्यों के होने से मूल्य सम्बन्धी अन्तर पाये जाते हैं। मूल्यों के इसी अन्तर या इनमें पाये जाने वाले मतभेद या मूल्यों के सामान्य अर्थों के बदल जाने से सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं। विभिन्न पारिवारिक समस्याओं का एक मूल कारण पुरानी तथा नयी अथवा प्रौढ़ एवं युवा पीढ़ी के मूल्यों का आपसी संघर्ष है। इस सम्बन्ध में क्यूबर तथा हारपर ने लिखा है कि प्रौढ़ पीढ़ी के मूल्य विवाह की पवित्रता रूढ़ियों में निष्ठा, परम्परा के अनुसार कर्ता का सर्वाधिकार सम्पन्न व्यक्ति होना, आदि को महत्त्व देते हैं, जबकि युवा पीढ़ी के मूल्य अधिनायकवाद, व्यक्तिगत योग्यता तथा समान अधिकार आदि पर जोर देते हैं।[2]

जनसंख्या के विभिन्न वर्गों में मूल्यों के संघर्ष के कारण ही बाल श्रम, निम्न वेतन, असंगठित श्रमिक या बेकार व्यक्तियों को परिस्थिति, विवाह-विच्छेद, तथा प्रजातीय विभेदीकरण सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मूल्यों के संघर्ष के कारण ही पूँजीवाद से सम्बन्धित समस्याएँ पायी जाती हैं। कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था उत्तम है क्योंकि इसमें व्यक्ति को बलप्रयविता, कठोर परिश्रम एवं अधिकाधिक लाभ कमाने को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति भी हैं जो यह समझते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में कुछ ही पूँजीपतियों को लाभ मिलता है और शेष का शोषण होता है। मूल्यों सम्बन्धी इसी मतभेद या टकराव के कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। फुल्लर का कथन है कि हमारे स्वार्थ के कारण अपराध बढ़ते हैं तथा पूँजीपतियों के अधिकाधिक मुनाफेखोरी के कारण श्रमिकों में बेरोजगारी उत्पन्न होती है।[3] *मूल्यों में संघर्ष से नैतिक अस्त-व्यस्तता को प्रोत्साहन मिलता है और ऐसी स्थिति में व्यक्ति विचलित प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं जो सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है।*

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि केवल मूल्यों के संघर्ष के आधार पर सभी सामाजिक समस्याओं को नहीं समझाया जा सकता। लोग सम्पत्ति सम्बन्धी

1 W. Wallace Weaver, *Social Problems*, p. 32.
2 John F. Cuber & Robert A. Harper, *Problems of American Society, Values in Conflict*, pp. 305-306.
3 Richard C. Fuller, *The Problem of Teaching Social Problems*, *American Journal of Sociology*, 1938, p. 419.

अपराध केवल इस कारण नहीं करते कि कुछ समूहों में धन को सांस्कृतिक लक्ष्य के रूप में विशेष महत्व दिया जाता है। अपराध की समस्या को केवल मूल्यों के संघर्ष के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूल्यों में संघर्ष अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देने में योग देता है, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि केवल मूल्य-संघर्ष के कारण ही सब प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

(4) वैयक्तिक विचलन सिद्धान्त (Theory of Personal Deviation) —यहाँ यह पता लगाने की कोशिश की जाती है कि वैयक्तिक विघटन कैसे विकसित होता है और यह किस प्रकार सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है। वैयक्तिक विचलन के अन्तर्गत उन व्यक्तियों की प्रेरणाओं और व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है जो समस्याओं को उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे लोग विचलित व्यक्ति कहलाते हैं जिनका व्यवहार सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति में योग देता है। मार्शल क्लीनार्ड ने विचलित व्यवहार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह मुख्यतः कुछ किस्म के समूह आदर्श-प्रतिमानों (Norms) का उल्लंघन ही होता है। एक विचलित कार्य ऐसा व्यवहार है जो एक विशेष प्रकार से निर्धारित होता है ··· समाज की प्रतिक्रियाएँ जो उस व्यवहार का नामांकित कर देने की सीमा तक भी की जा सकती हैं, इस विचलित व्यवहार के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।[1] क्लीनार्ड के अनुसार, विचलित व्यवहार के अध्ययन में समाज की वह प्रतिक्रिया जिसमें आदर्शों का उल्लंघन करने वालों को विशेष दण्ड दिये जाते हैं, एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। विचलित व्यवहार की श्रेणी में केवल उन्हीं व्यवहारों को रखा जाता है जो समाज द्वारा पूर्णतः अस्वीकृत हों और जो समुदाय की सहनशीलता की सीमा को पर्याप्त मात्रा में पार कर जायें। डा. क्लीनार्ड के अनुसार आदर्शों से विचलित होने के अन्तर्गत अपराध, वेश्यावृत्ति, समलैंगिक व्यवहार, मादक वस्तुओं का सेवन, मदिरापान, मानसिक दोष, आत्महत्या, वैवाहिक तथा पारिवारिक असमायोजन, अल्पसंख्यकों के प्रति भेद-भाव आदि व्यवहारों को भी सम्मिलित किया जाता है।

मिलर (Miller) विचलित व्यवहार को समाजीकरण की प्रक्रिया का ही एक अंग मानते हैं। विचलित व्यवहार व्यक्त करने वाला व्यक्ति समूह की स्वीकृत संस्कृति के विपरीत मूल्यों को समूह में सीखता है। विचलित व्यवहार एकाएक ही नहीं सीखा जाता अपितु धीरे-धीरे समाजीकरण के द्वारा व्यक्तित्व में ढलता है।[2] मिलर की मान्यता है कि निम्न वर्ग के व्यक्तियों को अवसर प्राप्त न होने के कारण

---

1 "Deviant behaviour is essentially violation of certain types of group norms A deviant act is behaviour which is prescribed in certain way ... societal reaction leading to labelling is an important aspect of the study of deviant behaviour" —Marshall B Clinard, *Sociology of Deviant Behaviour*, p 28.

2 Walter B Miller, "Lower Class Culture as a Generating Milieu of Gang Delinquency", Journal of Social Issues, Vol 14, No 3, 1958, pp 5-19.

अपराधी विकल्पों का आश्रय लेना पड़ता है। लेकिन मेटजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है और इसकी तीव्र आलोचना की है।[1]

व्यक्ति के द्वारा विचलित प्रकार का व्यवहार व्यक्त करने के मुख्य रूप से दो कारण माने जाते हैं : (1) *समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त नियमों के पालन की असमर्थता*; तथा (2) समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त नियमों के पालन में असफलता। स्पष्ट है कि वैयक्तिक विघटन उन लोगों में पाया जाता है अथवा यों कहा जा सकता है कि विचलित व्यवहार वे लोग व्यक्त करते हैं जिनका समाजीकरण ठीक प्रकार से नहीं हुआ होता है। वैयक्तिक विचलन के दो प्रमुख प्रकार पाये जाते हैं : (1) *समाज में मान्यता-प्राप्त नियमों से विचलन*, एवं (2) *स्वयं उत्पन्न किये हुए नियमों* वाली विचलित उप-संस्कृतियों का पाया जाना। सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में वैयक्तिक विचलन की विधि का प्रयोग हर्टन तथा लेस्ले ने किया है।[2] यहाँ जिन प्रमुख प्रश्नों पर विचार करना है, वे इस प्रकार हैं कौन-से व्यक्ति एवं समूह नियमों से विचलित होते हैं? क्या विचलित व्यक्ति समाज के लिए समस्या उत्पन्न करते हैं अथवा वे स्वयं समस्या के रूप में हैं? यदि ये लोग समस्या उत्पन्न करते हैं तो किस प्रकार? ऐसी कौन सी अभिप्रेरणाएँ हैं जो व्यक्तियों को विचलित व्यवहार के लिए प्रेरित अथवा बाध्य करती हैं? विचलित प्रकार का व्यवहार प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियों के पुनः समाजीकरण के लिए क्या किया जा सकता है?

उपर्युक्त चार सिद्धान्तों में से प्रत्येक सिद्धान्त सामाजिक समस्या को अति सरल ढंग से समझाने का प्रयत्न करता है और प्रत्येक किसी एक कारक पर जोर देता है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति को इतने सरल प्रकार से नहीं समझाया जा सकता। ये सभी सिद्धान्त मानते हैं कि विभिन्न सामाजिक समस्याओं के बीच एक सम्बन्ध अवश्य पाया जाता है। सभी सामाजिक समस्याएँ समाज से ही उत्पन्न होती हैं और इनके मूल में कोई सामान्य कारक अवश्य है जिसका स्पष्टीकरण इन सिद्धान्तों के माध्यम से नहीं किया जा सका है।

भारत में सामाजिक समस्याएँ
(SOCIAL PROBLEMS IN INDIA)

वर्तमान समय में भारत में अनेक सामाजिक समस्याएँ पायी जाती हैं। यद्यपि भारतवर्ष एक स्वतन्त्र गणराज्य है जिसने धर्म-निरपेक्ष, प्रजातन्त्र तथा आर्थिक समानता के प्रगतिशील मूल्यों को स्वीकार किया है, परन्तु यहाँ निर्धनता पायी जाती है, गरीब-अमीर के बीच एक बहुत बड़ी खाई दिखलायी पड़ती है। यहाँ धर्म, भाषा, प्रजाति, जाति तथा क्षेत्रीयता के आधार पर अनेक भेद-भाव पाये जाते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में सामाजिक और आर्थिक आधार पर ऊँच-नीच का एक संस्तरण पाया जाता है। जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता, युवाविक्षोभ तथा

1 David Matza, "Review of Delinquency & Opportunity", American Journal of Sociology, 46 (May 1961), pp. 631-633.

2 Horton and Leslie, *The Sociology of Social Problems*, p. 35.

बेकारी आदि समस्याएँ यहाँ मौजूद हैं। यहाँ बाल-अपराधी और प्रौढ़-अपराधी भी पाये जाते हैं जो समाज के सम्मुख समस्या उत्पन्न करते हैं। यहाँ जनसंख्या की बढ़ोत्तरी भी तेज़ी के साथ होती जा रही है। निरक्षरता, निम्न जीवन-स्तर, शराबखोरी, जुआ, वेश्यावृत्ति और राजनैतिक एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचार की समस्याओं का भी देशवासियों को सामना करना पड़ रहा है। यहाँ औद्योगीकरण एवं नगरीकरण से सम्बन्धित समस्याएँ भी गम्भीर रूप धारण करती जा रही हैं।

इन समस्याओं पर प्रस्तुत पुस्तक में समाजशास्त्रीय-तार्किक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। यहाँ इतना कहना काफी है कि भारतवर्ष काफी लम्बे समय तक अंग्रेज़ों के अधीन रहा जिन्होंने इस देश की समस्याओं को हल करने और विकास कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने में अपने निहित स्वार्थों के कारण विशेष रुचि नहीं ली। स्वतन्त्र भारत में भी जितना ध्यान इन समस्याओं पर दिया जाना चाहिए था, नहीं दिया जा सका। समस्याओं का निवारण इस तथ्य पर आधारित है कि किसी समाज विशेष का नेतृत्व उन समस्याओं को हल करने के प्रति कितना दृढ़-संकल्प और देशवासियों में समस्याओं के प्रति जनचेतना जाग्रत करने में कितना समर्थ है। कानून बना देने मात्र से सामाजिक समस्याओं से छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज देश में दहेज विरोधी कानून पाया जाता है परन्तु समाज दहेज प्रथा से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सका है।

सामाजिक समस्याओं का निवारण
(REMOVAL OF SOCIAL PROBLEMS)

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सामाजिक समस्याओं को हल किया जा सकता है, क्या इनका निवारण सम्भव है ? इसका उत्तर हाँ में दिया जा सकता है। विश्व के सामाजिक समस्याओं के इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि वास्तव में बहुत-सी सामाजिक समस्याओं को समय-समय पर हल किया गया। गुलामी की प्रथा से लोगों को मुक्त कराया जा सका। प्रतिदिन बारह घण्टे तथा सप्ताह में सात दिन तक मजदूरों से काम लेने की समस्या को हल किया जा सका। इसी प्रकार बाल-श्रम की समस्या का निवारण सम्भव हुआ। आज अनेक देशों ने निर्धनता अथवा अभाव की स्थिति पर काफी नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और बहुत से देश इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। वर्तमान में अनेक बीमारियों की रोकथाम का भी सफलतापूर्वक प्रयत्न किया जा सका है। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ नवीन समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। ऐसी स्थिति में पुरानी समस्याओं का स्थान नवीन समस्याएँ ले लेती हैं। इस दृष्टि से सामाजिक समस्याएँ हल नहीं होतीं, बल्कि उनके स्थान पर नवीन समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए काफी कुछ किया जा सकता है लेकिन यह सब कुछ निश्चित सीमाओं में ही सम्भव है।

सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिये तीए दृष्टिकोणों पर विचार किया जाना चाहिए।

प्रथम, बहुकारकवादी दृष्टिकोण (Multiple factors approach) के अनुसार यह माना जाता है कि किसी भी सामाजिक समस्या का जन्म अनेक कारकों के फलस्वरूप होता है। सामाजिक समस्या के लिए कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं है। उदाहरण के रूप में यह नहीं माना जा सकता कि केवल निर्धनता के कारण ही सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध होते हैं। यदि ऐसा होता तो अनेक धनी व्यक्तियों के द्वारा अपराध क्यों किये जाते? इसी प्रकार बेकारी अथवा छात्र-विक्षोभ के पीछे कोई एक ही कारण नहीं पाया जाता।

द्वितीय, पारस्परिक सम्बन्ध (Inter-relatedness) का तात्पर्य विभिन्न सामाजिक समस्याओं के एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होने से है। यदि हम किसी एक समस्या को पृथक्करण में सुलझाना चाहें, तो यह सम्भव नहीं है। उदाहरण के रूप में, अस्पृश्यता निवारण के लिए यह आवश्यक है कि अछूत समझे जाने वालों को आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के अवसर प्रदान किये जायें। परन्तु इसके साथ ही यह भी अनिवार्य है कि अन्य जातियों के लोगों में उनके प्रति पायी जाने वाली पूर्व-निर्धारित धारणाओं का दूर किया जाय। यह शिक्षा के माध्यम से अज्ञानता को दूर करने से ही सम्भव है। इसके साथ ही अस्पृश्यता-निवारण से सम्बन्धित कानून का कठोरतापूर्वक लागू करने की आवश्यकता भी है। अस्पृश्यों द्वारा अपनाये जाने वाले व्यवसायों के आधुनिकीकरण की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि इन लोगों के व्यवसाय को घृणित अथवा अपमानजनक न माना जाय। स्पष्ट है कि किसी भी समस्या को हल करने के लिए उससे सम्बन्धित अन्य समस्याओं के निराकरण की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है।

तृतीय, सापेक्षिकता (Relativity) का तात्पर्य यह है कि सामाजिक समस्या का स्थान एवं समय के साथ गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। यह सम्भव है कि आज भारत में जिस स्थिति या दशा को एक सामाजिक समस्या के रूप में माना जाता है, वह कुछ समय पूर्व उस रूप में नहीं मानी जाती हो। उदाहरण के रूप में, आज अस्पृश्यता को एक गम्भीर सामाजिक समस्या माना जाता है लेकिन भूतकाल में यह समस्या नहीं मानी जाती थी। अमरीका तथा अफ्रीका में प्रजातीय-भेदभाव समस्या के रूप में है, परन्तु भारत में नहीं। आज जिसे लोग सामाजिक समस्या के रूप में देखते हैं, सम्भवतः वही स्थिति निकट भविष्य में सामान्य स्थिति बन जाय और लोग उसे समस्या नहीं मानें। किसी स्थिति को समस्या के रूप में देखना समाज विशेष के लोगों के दृष्टिकोणों पर भी निर्भर करता है।

उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों के आधार पर ही सामाजिक समस्याओं से छुटकारा प्राप्त करना सम्भव है। परन्तु फिर भी किसी ऐसे समाज की कल्पना करना कठिन है जो समस्याओं से पूर्णतः मुक्त हो। इतना अवश्य है कि अलग-अलग कालों और

समाजों मे सामाजिक समस्याओ की मात्रा और गम्भीरता में अन्तर अवश्य पाया जाता है। किसी सामाजिक समस्या को हल करने मे नेताओ की प्रमुख भूमिका होती है। वे स्वयं के उदाहरण द्वारा जनता को समस्या के निराकरण के सम्बन्ध मे स्वस्थ विचार प्रदान कर और समस्या को हल करने में सफलता प्राप्ति के पूर्व सम्पन्नता की एक हवा या वातावरण तैयार कर लोगों मे एक सामूहिक अभिरुचि उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसा होने पर लोगो मे आवश्यक धारणाएँ निर्मित हो पायेंगी और सामाजिक समस्याओ के निराकरण मे वे सक्रिय योग दे सकेंगे।

सामाजिक समस्याओं को हल करने मे कुछ कठिनाइयाँ भी आती हैं जिनके सम्बन्ध मे जानसन तथा कुछ अन्य विद्वानो द्वारा अपने विचार व्यक्त किये गये हैं। जानसन[1] ने बतलाया है (1) शक्तिशाली मनोभाव (Sentiments) तथा निहित स्वार्थों द्वारा समर्थित सामाजिक संरचना सामाजिक समस्याओ को हल करने मे कठिनाई पैदा करती है। किसी सामाजिक समस्या के बने रहने से कुछ शक्तिशाली लोगो के स्वार्थों की पूर्ति होती है। ऐसे लोग बाहरी तौर पर उस समस्या के हल मे रुचि दिखाते हैं परन्तु आन्तरिक रूप से उनका प्रयत्न यही रहता है कि समस्या समस्या ही बनी रहे। इसके उदाहरण के रूप मे, अमरीका मे पायी जाने वाले प्रजातीय भेदभाव की समस्या का उल्लेख किया जा सकता है। (ii) सामाजिक समस्या के हल मे अन्य कठिनाई यह आती है कि निहित स्वार्थ वाले लोगों के द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि समस्या के निराकरण के लिए प्रस्तावित सुझाव समस्या को हल करने के बजाय उसे और अधिक गम्भीर बना देंगे। (iii) समस्या को हल करने मे तीसरी कठिनाई धीरे-धीरे पीछे की ओर मुड़ने या कार्य करने से सम्बन्धित है। कई लोग काफी समय तक समस्या को समस्या के रूप में [illegible]नने को तैयार नहीं होते। भारत मे लोग राजनीतिक और प्रशासनिक भ्रष्टाचार को मानने को तैयार नही थे। अब लोग यह स्वीकार करने लगे हैं कि वास्तव मे व्यापक पैमाने पर भ्रष्टाचार व्याप्त था और उसे दूर करने की आवश्यकता है। [illegible] [illegible]व है कि केन्द्र में बनी नयी जनता पार्टी सरकार भ्रष्टाचार को मिटाने और [illegible] [illegible]को स्वच्छ प्रशासन प्रदान करने मे सफल हो जाय। यह उसी समय सम्भव है जब [illegible] [illegible]स्या को समस्या के रूप मे समझा जाय और धीरे-धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति को [illegible] [illegible]यो जाय।

सामाजिक समस्याओं के प्रति समाजशास्त्रीय [illegible]

(SO[illegible]IOLOGICAL PERSPECTIVE TOWARDS SOCI[illegible] [illegible]OBLEMS)

सामाजिक समस्याओ के निराकरण के सम्बन्ध मे वाल[illegible] [illegible] [illegible]र्फे ने लिखा है कि प्रत्येक समस्या का निवारण अवलोकन, निर्णय अथवा [illegible] [illegible]न स विश्लेषण और सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक कार्य के द्वारा सम्भव है।[2] [illegible] [illegible]किरन का तात्पर्य वैज्ञानिक विधियों को काम में लेते हुए तथ्यों को एकत्रित [illegible] [illegible]है। निर्णय का

1 Johnson, Harry M , *Sociology—A Systematic Introduction* [illegible]

2 Walsh and Furfey, *op cit*, pp 23-59,

कर्ष प्राप्त किये गये तथ्यों के विश्लेषण से है, अर्थात् यहाँ तथ्यों के आधार पर यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न करने में कौन-सी सामाजिक घटनाएँ विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। क्रिया के अन्तर्गत यह निश्चित किया जाता है कि सामाजिक समस्या के निवारण के लिए कहाँ सामाजिक क्रिया (Social Action) की और कहाँ सामाजिक कार्य (Social Work) की आवश्यकता है। यहाँ हमें इस बात को प्रमुखतः ध्यान में रखना होगा कि किसी भी सामाजिक समस्या को हल करने के लिए व्यक्ति और समूह दोनों का सक्रिय सहयोग आवश्यक है।

समाजशास्त्री समूह-तथ्यों का आनुभविक पद्धतियों के माध्यम से वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। वह विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन के आधार पर सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचता है। वह उन कारकों का विश्लेषण करता है जो सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न करने में योग देते हैं। वह प्रश्नावली, अनुसूची, सहभागिक अथवा असहभागिक अवलोकन, विषय-वस्तु विश्लेषण (Content Analysis) आदि पद्धतियों का प्रयोग करता हुआ उन प्रमाणों को एकत्रित करता है जो सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं। समाजशास्त्री अपने प्रशिक्षण तथा विशेषीकृत ज्ञान के आधार पर किसी सामाजिक समस्या के विस्तार, प्रभाव-क्षेत्र, उसकी उत्पत्ति और विकास तथा उन समाजशास्त्रीय कारकों के सम्बन्ध में, जो समस्या को जन्म देने में महत्त्वपूर्ण हैं, सही जानकारी प्रदान कर पाता है।

सामाजिक समस्याओं के प्रति समाजशास्त्री का दृष्टिकोण दर्शनशास्त्री, नीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री एवं सामाजिक मनोवैज्ञानिक से भिन्न प्रकार का होता है। वह क्या है, का यथार्थ चित्रण करता है। वह सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक समस्या को देखता है। समाजशास्त्री वस्तुनिष्ठ तरीके से तथ्यों का विश्लेषण करता है और सामाजिक समस्याओं के पीछे पाये जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्धों का पता लगाने की कोशिश करता है। वह अपने दृष्टिकोण में सर्वत्र समाजशास्त्रीय-तटस्थता को बनाये रखता है। वह जानता है कि जब कभी समाज संक्रान्ति की स्थिति से गुजरता है तो एक ओर परम्परागत जीवन के ढंग और दूसरी ओर रहन-सहन समस्त विचार करने के आधुनिक तरीकों में टकराव की स्थिति पैदा होती है। यह समस्त ही अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। समाजशास्त्री वैज्ञानिक पद्धतियों को काम में लेता हुआ न केवल सामाजिक समस्याओं का समाधान ही करता है, बल्कि उन्हें हल करने के लिए सामूहिक उपचारात्मक कार्यक्रमों का मूल्यांकन भी करता है।

सामाजिक समस्याओं को हल करने में, समाजशास्त्री विविध रूपों में अपनी भूमिका निभाता है। सर्वप्रथम, वह कार्य-कारण सम्बन्धों का पता लगाने की दृष्टि से अनुसंधान कर सकता है, और इस प्रकार सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध

में *अपनी समझ* को बढ़ा सकता है। द्वितीय, एक *अध्यापक के रूप में अपनी भूमिका* के माध्यम से तथा साधारण जनता के लिए अपने भाषण तथा लेखन से वह लोगों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक बना सकता है। तृतीय, विशिष्ट समस्याओं को हल करने के लिए वह कार्यक्रम सुझा सकता है। चतुर्थ, वह परिवार, विवाह, स्थानीय समुदाय के विकास तथा उद्योग से सम्बन्धित समितियों आदि में सलाहकार के रूप में कार्य कर सकता है।

सामाजिक समस्याओं का अध्ययन क्यों ?

प्रश्न उठता है कि हमें सामाजिक समस्याओं का अध्ययन क्यों करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में *शेपर्ड एवं वॉस ने तीन कारणों का उल्लेख किया है*। प्रथम, सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के द्वारा हम सामाजिक समस्याओं को समझने एवं उन्हें हल करने के लिए समाज-वैज्ञानिकों की भूमिका से परिचित हो सकते हैं। द्वितीय, सामाजिक समस्याओं का ज्ञान लोगों को इस बात की जानकारी प्रदान करता है कि अवांछनीय सामाजिक दशा उनके दैनिक जीवन को कैसे प्रभावित करती है। तृतीय, सामाजिक समस्याओं के अध्ययन से यह ज्ञान होता है कि सामाजिक विचलन (Social Deviance) के कारण ही समस्याएँ पैदा नहीं होतीं बल्कि कई बार सामाजिक अपेक्षाओं को पूरा करने से भी सामाजिक समस्याएँ जन्म लेती हैं।

सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र में प्रमुख समाजशास्त्रीय निष्कर्ष (MAIN SOCIOLOGICAL FINDINGS IN THE FIELD OF SOCIAL PROBLEMS)

वीनबर्ग[1] ने इस सम्बन्ध में तीन निष्कर्षों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है : (i) व्यक्ति को वंशानुसंक्रमण के बजाय पर्यावरण की उपज के रूप में पुनः परिभाषित किया गया है, और विचलित व्यवहार के अनेक स्वरूपों को सीखा हुआ माना गया है, न कि जन्मजात। बाल-अपराधी एवं अ[illegible] उनके स्वयं के सामाजिक अनुभवों की उपज हैं, अल्प-सख्यक समूहों को अब [illegible] रूप से हीन नहीं समझा जाता, बल्कि सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि [illegible] माना जाता है। (ii) इन निष्कर्षों का तात्पर्य है कि समस्या-मूलक व्य[illegible] को समूह तथा [illegible]त्मक प्रभावों को परिवर्तित एवं कम करके बदला ज[illegible] तथा [illegible]। उदाहरण के रूप में, बाल-अपराध या प्रजातीय संघर्ष कुछ सामाजिक [illegible] परिणाम है और इन प्रक्रियाओं को समझकर, समस्या-मूलक व्यवहार [illegible] पता लगाया जा सकता है, उसका उपचार किया जा सकता है और [illegible] सकता है। (iii) समस्या-मूलक व्यवहार के प्रति इस परिवर्तित दृष्टि[illegible] व्यवहार व्यक्त करने वालों की परिभाषा को बदल दिया है। अब उ[illegible] गलत निर्देशित अथवा सुविधाओं से वंचित माना जाता [illegible]।

1 S Kirson Weinberg *op. cit.*, p 82.

उपर्युक्त समाजशास्त्रीय निष्कर्ष सामाजिक समस्याओं के निराकरण में विशेष योग देते हैं। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि समूह मनोबल (Group morale) के पर्याप्त मात्रा में पाये जाने की अवस्था में सामाजिक समस्याओं को हल किया जा सकता है। एक समाज का मनोबल या आत्म-विश्वास न केवल सामान्य जनता पर निर्भर करता है, बल्कि उस नेतृत्व पर भी जो अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए पूर्णत इच्छुक हो। समय नवीन प्रविधियों को काम में लेते हुए दूर करने के लिए पूर्णत इच्छुक हो। यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि सामाजिक समस्याओं के निवारण हेतु नियोजित परिवर्तन के प्रयत्न का जनता विरोध भी कर सकती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक वैज्ञानिक एवं प्रशासक को समुदाय के लोगों की परम्पराओं एवं प्रथाओं को ध्यान में रखना होगा, वरना उत्तम से उत्तम कार्यक्रम के असफल होने की सम्भावना रहेगी। यहाँ भी संजय गांधी के पाँच-सूत्री कार्यक्रम का उदाहरण दिया जा सकता है। आपातकाल के दौरान परिवार नियोजन के लिए नसबन्दी कार्यक्रम को बड़े उत्साह के साथ चलाया गया परन्तु लोक परम्पराओं एवं जन-भावनाओं की उपेक्षा की गयी। परिणामस्वरूप परिवार नियोजन के विरुद्ध प्रबल जन-आक्रोश प्रकट हुआ। सामाजिक समस्याओं के निवारण हेतु बुद्धिमत्तापूर्ण कानून बनाये जाने चाहिए तथा उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से लागू किया जाना चाहिए। कानून उसी समय अपने उद्देश्य की पूर्ति के प्रयत्न में सफल हो सकता है जब लोगों में उसके प्रति आदर के भाव जाग्रत किये जायें और उसके पालन के सम्बन्ध में उन्हें सही जानकारी दी जाय।

प्रश्न

1. 'सामाजिक समस्या' से आप क्या समझते हैं ? भारतीय समाज से उदाहरण देकर समझाइए।
2. समकालीन भारत की समस्याओं में से किन समस्याओं को आप सामाजिक समस्या मानेंगे ? कारण देकर स्पष्ट कीजिए।
3. व्यक्तिगत समस्याओं एवं सामाजिक समस्याओं में अन्तर बताइए।
4. व्यक्तिगत संगठन और सामाजिक समस्या में सम्बन्ध बताइए।
5. सामाजिक समस्याओं के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण समझाइए।
6. सामाजिक समस्या की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। आधुनिक भारत की सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी कारकों की विवेचना कीजिए।
7. सामाजिक समस्या को परिभाषित कीजिए। इसके कारणों और प्रभावों को संक्षेप में व्यक्त कीजिए।
8. निम्नांकित दो के मध्य सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए :
   (अ) सामाजिक समस्या और सांस्कृतिक विलम्बना,
   (ब) सामाजिक समस्या और सामाजिक विघटन,
   (स) सामाजिक समस्या और व्याधिकीय व्यवहार,
   (द) सामाजिक समस्या और संघर्ष (एनोमी)।

2

अपराध
(CRIME)

अपराध शाश्वत है और उतना ही शाश्वत जितना कि समाज। प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे रहे हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत नियमों और आदर्शों के विपरीत व्यवहार करते रहे हैं। अपराध का पूर्णतया उन्मूलन केवल काल्पनिक समाज में ही सम्भव है। अपराध के जन्म की कहानी समाज के जन्म से जुड़ी हुई है। अतः जब तक समाज रहेगा अपराध का अस्तित्व भी रहेगा। उसकी मात्रा कम या अधिक अवश्य हो सकती है। यह भी सत्य है कि समाज के विकास और उसकी जटिलता की वृद्धि के साथ-साथ अपराध की दर भी बढ़ी है। यह तथ्य अमरीका के उदाहरण से स्पष्ट है। एक तरफ अमरीका की गणना विश्व के सर्वाधिक विकसित एवं सभ्य देशों में से है, तो दूसरी ओर दुनिया में सबसे *अधिक अपराध* भी वहीं होते हैं।

प्रत्येक समाज अपनी सामाजिक संरचना और व्यवस्था को बनाये रखने एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ नियमों, प्रथाओं, रूढ़ियों, जनरीतियों एवं सामाजिक मानदण्डों को विकसित करता है। इनमें से कुछ का उल्लंघन करने पर निन्दा *की जाती है, कुछ का उल्लंघन अनैतिक माना जाता है* तो व्यवहार के कुछ प्रतिमान की अवहेलना करने पर समाज कठोर दण्ड देता है। यद्यपि अपराध एक सार्वभौमिक तथ्य है फिर भी समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार इसकी अवधारणा बदलती रही है। एक ही कार्य एक स्थान पर अपराध माना जाता है किन्तु दूसरे स्थान पर उसके लिए पुरस्कृत किया जाता है। साधारणतः यदि कोई किसी की हत्या कर देता है तो हत्यारे को मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास दिया जाता है, जबकि युद्ध में अधिकाधिक दुश्मनों को मारने वाले को राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता है। जाति से बाहर विवाह करना कभी अपराध माना जाता था पर आज नहीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह और दहेज प्रथा किसी समय भारत में उचित व्यवहार माने जाते थे किन्तु आज ये व्यवहार कानून की दृष्टि से दण्डनीय हैं। हिन्दुओं में बहुपत्नीत्व कभी सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक था, किन्तु वर्तमान में कानूनी दृष्टि से अपराध है।

अपराध की अवधारणा राज्य के विकास के साथ-साथ स्पष्ट होती गयी। अति प्राचीन समय में और आज भी आदिम समाजों तथा ग्रामीणों में यह विश्वास है कि अपराध ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन है, अतः वह पाप है। यदि कोई समाज की नजर से बच भी जाये फिर भी वह ईश्वर के द्वारा इस लोक या परलोक में दण्ड अवश्य पायेगा। धर्म एवं नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः अपराध को नैतिक दृष्टि से ऐसा कार्य समझा गया जिसे नीतिशास्त्र अनैतिक मानता है। सामाजिक दृष्टि से अपराध में समाज के नियमों का उल्लंघन होता है और उससे समाज को हानि होती है। बीसवीं सदी में अपराध के प्रति तार्किक एवं सामाजिक दृष्टिकोण विकसित हुआ और इसे समाज-कल्याण विरोधी माना गया। राज्य के शक्ति ग्रहण करने के साथ-साथ व्यक्ति के व्यवहारों को राज्य के नियमों से सम्बद्ध किया गया और ऐसे सभी कार्य जिनसे राज्य के नियमों का उल्लंघन होता हो अपराध माने जाने लगे। इस प्रकार अपराध का सम्बन्ध समय-समय पर धर्म, नैतिकता, समाज और राज्य से जोड़ा जाता रहा है। यही कारण है कि अपराध के एक सार्वभौमिक तथ्य होते हुए भी उसकी व्याख्या देश, काल और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती रही है। हम यहाँ अपराध की सामाजिक एवं वैधानिक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

अपराध—एक सामाजिक अवधारणा
(CRIME—A SOCIAL CONCEPT)

अपराध की सामाजिक व्याख्या अति प्राचीन है। सामाजिक दृष्टि से वे व्यवहार जो समाज विरोधी हैं, अपराध कहे जाते हैं। अनेक विद्वानों ने अपराध को इसी दृष्टिकोण से परिभाषित किया है।

बार्नेस् एवं टीटर्स लिखते हैं, 'अपराध एक ऐसी क्रिया है जिसको समूह पर्याप्त रूप से खतरनाक समझता हो तथा ऐसे कार्य के लिए अपराधी को दण्डित करने और रोकथाम करने के लिए एक निश्चयात्मक सामूहिक प्रतिक्रिया की आवश्यकता हो।"[1]

इलियट और मेरिल के अनुसार, "समाज विरोधी व्यवहार जो कि समूह द्वारा अस्वीकार किया जाता है जिसके लिए समूह दण्ड निर्धारित करता है, अपराध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[2]

गैरोफैलो, "दया और ईमानदारी की प्रचलित भावनाओं के उल्लंघन को ही अपराध मानते हैं।"[3]

---

1 "A crime is any act which the group regards as sufficiently menacing to warrant a decisive group reaction to condemn and restrain the offender of such an act." —Barnes & Teeters, *New Horizons in Criminology*

2 "Crime may be defined as anti-social behaviour which the group rejects and to which it attaches penalties." —Elliott & Merrill, *Social Disorganization*, pp. 542-43.

3 "A violation of prevalent sentiments of pity and probity." —R. Garofalo, *Criminology*, p. 59.

माउरर, 'अपराध को सामाजिक मानदण्डों का उल्लंघन (Violation of Social Norms) मानते हैं।"[1]

काल्डवेल, "अपराध किसी निश्चित स्थान व समय पर संगठित समाज-सम्मत मूल्यों के संग्रह का उल्लंघन है।"[2]

रेडक्लिफ ब्राउन, "अपराध उस आचरण का उल्लंघन है जिसके लिए दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है।"[3]

क्लिनार्ड, "अपराध को सामाजिक नियमों से विचलन (Deviation from Social norms) मानते हैं।"[4]

उपरोक्त सभी परिभाषाएं समाज विरोधी व्यवहार को अपराध के रूप में मानती हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समाज का सदस्य होता है तथा उससे समाज द्वारा निर्धारित रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मूल्यों और आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है। नियमों के पालन से ही समाज सुचारु रूप से चलता है और स्वयं व्यक्ति की भी सुरक्षा बनी रहती है एवं उसके हितों की पूर्ति होती है। समाज में अनेक रुचियों वाले व्यक्ति होते हैं। अतः व्यक्तिगत स्वार्थ-पूर्ति एवं रुचियों की भिन्नता के कारण जब कुछ व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करते हैं तो अपराध का जन्म होता है। समाज ऐसे व्यक्तियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है, यद्यपि प्रत्येक असामाजिक व्यवहार अपराध की श्रेणी में नहीं आता। सन्तान द्वारा माता-पिता की किसी आज्ञा का उल्लंघन या ऊँची जाति के व्यक्ति द्वारा निम्न जाति के व्यक्ति के साथ बैठकर बीड़ी-सिगरेट पीना उतना गम्भीर अपराध नहीं कहा जा सकता जितना कि अपनी जाति से बाहर विवाह करने को। अतः कुछ प्रकार के सामाजिक व्यवहार तो समाज सहन कर लेता है, कुछ के लिए हल्की निन्दा या आलोचना की जाती है किन्तु कुछ के लिए समाज जुर्माने और कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है।

अपराध—एक कानूनी अवधारणा
(CRIME—A LEGAL CONCEPT)

कानूनी दृष्टि से अपराध की व्याख्या अपेक्षतः देर से विकसित हुई। इस व्याख्या के अनुसार वे सारे कार्य जो किसी समय विशेष में किसी राज्य में संविधान अपराधी संहिता (Criminal Code) या राज्य के नियमों के विपरीत घोषित किए गये हों, अपराध कहलायेंगे। वर्तमान सभ्य समाजों में अपराध की वैधानिक व्याख्या

1 E. R. Mowrer, *Disorganization—Personal & Social*, p. 133.

2 "Crime is the violation of set of values acceptable to organized society at a certain time and in a given place." —Caldwell, *Criminology*, p. 4.

3 "A violation of usage which gives rise to the exercise of penal sanction." —Radcliffe Brown, quoted by Sutherland, *Principles of Criminology*, p. 15.

4 Clinard, *Sociology of Deviant Behaviour*, p. 22.

ही स्वीकार की जाती है। यही नहीं बल्कि अपराधशास्त्र मे शोध कार्य के लिए भी वैधानिक परिभाषा ही स्वीकार की गयी है। कानूनी दृष्टि से अपराध की परिभाषा इस प्रकार है :

टाफ्ट के अनुसार, "वैधानिक रूप से अपराध एक ऐसी क्रिया है जो कानून के अनुसार दण्डनीय है।"[1]

सेठना, "अपराध वह कार्य या त्रुटि है जिसके लिए कानून दण्ड देता है।"[2]

माउरर, "अपराध वह कार्य है जिससे कानून का उल्लघन होता है।"[3]

वीवर, "अपराध राज्य द्वारा परिभाषित एक निषिद्ध व्यवहार है। यह राज्य द्वारा उल्लेखित नियमों का उल्लघन है।"[4]

लैंडिस और लैंडिस के अनुसार, "अपराध वह कार्य है जिसे राज्य ने सामूहिक कल्याण के लिए हानिकारक घोषित किया है और जिसे दण्ड देने के लिए राज्य शक्ति रखता है।"[5]

हैकरवाल, "कानून के दृष्टिकोण से अपराध कानून का उल्लघन है।"[6]

गिलिन और गिलिन, "कानून के दृष्टिकोण से अपराध किसी देश के कानून के विरुद्ध कार्यवाही है।"[7]

टैपन, "अपराध अपराधी कानून के उल्लघन का इरादतन कार्य है जो बिना औचित्य अथवा प्रतिरक्षा के किया जाता है।"[8]

उपरोक्त परिभाषाओं मे इस बात पर जोर दिया गया है कि केवल वे ही कार्य माने जाएँगे जो किसी देश के प्रचलित कानूनों के विपरीत हों। देश की न्याय ही यह तय करती है कि व्यक्ति ने अपराध किया है या नहीं। कानून का करने पर भी यदि न्यायालय किसी को निर्दोष घोषित करता है तो वह नहीं माना जायेगा। अपराध निर्धारण करते समय न्यायालय अपराध के भी ध्यान में रखता है और दण्ड निर्धारण में भी यह एक महत्वपूर्ण तथ्य

1 ...ly a crime is an act made punishab e by law." —Toft, D. R., *Criminology*, 1956.

2 ... is an act or omission which the law thinks fit to punish" —M. J. Sethna, *Society and the Criminal*, p. 125.

3 ...e is any act in violation of the law." —Mowrer, *op. cit.*, p. 99.

4 ... behaviour defined and forbidden by the state. It is a violation of ...ribed by the state." —W. W. Weaver, *Social Problems*, p. 355.

5 ... an act which the state has declared harmful to group welfare and ... state has power to punish." —Lendis and Lendis, *Social Living*, p. 146.

6 ...al point of view, crime is a violation of law." —Hackerwal, *Economic and Social Aspect of Crime in India*, p. 17.

7 ...he legal point of view, crime is an offence against law of the land." —Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 734.

8 ... an intentional act in violation of criminal law committed without ... justification." —P. W. Tappan, *Crime, Justice and Correction*.

है। यहाँ हमने अपराध की सामाजिक कानूनी और अवधारणा का उल्लेख किया है। कई बार सामाजिक और कानूनी दृष्टिकोण से किसी एक ही कार्य को अपराध माना जाता है। किन्तु कई बार इन दृष्टिकोणों में टकराव पाया जाता है। मृत्युभोज सामाजिक दृष्टि से अपराध नहीं है किन्तु कानूनन अपराध है। अन्तर्जातीय विवाह कानून की दृष्टि से अपराध नहीं है किन्तु सामाजिक दृष्टि से अर्थात जातीय नियमों के अनुसार अपराध है। चोरी सामाजिक और कानूनी दोनों ही दृष्टियों से अपराध है।

अपराध को और अधिक स्पष्टतः समझने के लिए उसके लक्षणों को समझना होगा।

अपराध के लक्षण
(CHARACTERISTICS OF CRIME)

जिरोम हाल (Jerome Hall)[1] ने उन विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनके आधार पर किसी मानवीय व्यवहार को अपराध घोषित किया जाता है। वे इस प्रकार हैं

(1) हानि (Harm)—अपराधी क्रिया का बाह्य परिणाम ऐसा होना चाहिए जिससे अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक या आर्थिक हानि हो। इस प्रकार *अपराध में समाज को नुकसान होता है।*

(2) क्रिया (Action)—जब तक कोई व्यक्ति अपराधी क्रिया न करे और अपराध करने का केवल मन में विचार ही रखे, तब तक अपराध नहीं माना जायेगा। अपराध के लिए सोच लेना ही पर्याप्त नहीं है वरन् इरादे या विचार का [illegible] के रूप में बाह्य प्रकाशन भी आवश्यक है। [illegible] तना

(3) कानून के द्वारा निषेध (Prohibited by Law)—कोई भी [illegible] विवाह तक अपराध नहीं माना जायेगा जब तक कि उस देश का कानून उसे [illegible] है, घोषित न करे। अत कई बार एक कार्य समाज की दृष्टि से असामाजि[illegible] समाज भी, यदि कानून ने उसे स्वीकार किया है, तो अपराध नहीं मा[illegible] अन्तर्जातीय विवाह सामाजिक दृष्टि से साधारणतः अनुचित माना ज[illegible] कानूनी दृष्टि से अपराध नहीं है। इसलिए जब तक देश के प्रचलित का[illegible] समाज विरोधी कार्य को अपराध घोषित न करें, तब तक हम उसे अप[illegible]। इस में नहीं रख सकते। [illegible] विधान

(4) अपराधी उद्देश्य (Criminal Intention)—अपराध [illegible]पित किए अपराधी उद्देश्य एक महत्वपूर्ण पहलू है। जान-बूझकर इरादतन किया [illegible] व्याख्या विरोधी कार्य अपराध है। अनजाने में बिना इरादे के या भूल से किये [illegible] हम अपराध तो मानते हैं किन्तु उतना गम्भीर नहीं जितना कि पूर्व इर[illegible] गये कार्य को। दण्ड निर्धारित करते समय न्यायाधीश इस बात का भी [illegible]

1 Jerome Hall, *General Principles of Criminal Law*, pp 8-18.

है कि अपराधी द्वारा अपराध जानबूझ कर किया गया है या परिस्थितिवश अथवा अनजाने में। कई बार किसी कार्य का प्रयोजन अच्छा हो सकता है फिर भी वह कार्य यदि कानून द्वारा निषिद्ध है तो अपराध माना जायेगा। उदाहरण के रूप में एक डाकू करोड़पति के यहाँ डाका डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में बाँट देता है या भूस्वामी की भूमि हड़प कर भूमिहीनों को दे देता है। इस कार्य में प्रयोजन अच्छा हो सकता है किन्तु यह कानून द्वारा निषिद्ध है, अतः अपराध माना जायेगा।

(5) उद्देश्य और व्यवहार के सह सम्बन्ध (Co-relation between Intention and Behaviour)—अपराध के लिए अपराधी उद्देश्य का होना भी आवश्यक है। उद्देश्य-विहीन क्रिया या क्रिया-विहीन उद्देश्य अपराध नहीं होगा। दोनों का प्रकाशन साथ-साथ होना चाहिए।

(6) व्यवहार और हानि में सह-सम्बन्ध (Co-relation between Behaviour and Harm)—हानि और व्यक्ति का व्यवहार भी सह-सम्बन्धित होना चाहिए। हत्या अपराध है किन्तु जब तक हत्यारे का पता नहीं चले अपराध का निर्धारण नहीं होगा। अतः हानि और व्यवहार दोनों ज्ञात होने पर ही अपराध का पता लगाया जा सकता है।

(7) दण्ड (Punishment)—अपराध करने पर राज्य और समाज अपराधी को दण्ड देता है। यह दण्ड शारीरिक कष्ट या जुर्माना आदि के रूप में हो सकता है। दण्ड के भय से ही कानून का पालन होता है। बिना दण्ड के कानून खाली नाम है। बिना शक्ति के कानून एक ऐसी आग है जो न जलती है और न रोशनी ही देती है।

कई बार अपराध, पाप, अनैतिकता, दुष्कृति और दुराचार को समानार्थक रूप से प्रयोग में लाया जाता है जबकि इनमें पर्याप्त अन्तर है। पाप का सम्बन्ध धर्म से है। धार्मिक नियमों के विरुद्ध कार्य ही पाप है। पाप एवं पुण्य सापेक्ष शब्द (relative terms) हैं। पाप का सम्बन्ध मन, वचन और कर्म से भी है। अपराध का सम्बन्ध क्रिया से है। पाप में प्रायश्चित का प्रावधान है और इसके लिए दण्ड की व्यवस्था ईश्वर द्वारा होती है, जबकि अपराध में समाज या राज्य स्वयं दण्ड देता है। एक ही कार्य पाप और अपराध दोनों ही हो सकता है।

अनैतिकता का सम्बन्ध नीतिशास्त्र (Ethics) से है। अनैतिकता में व्यक्ति की आत्मा उसे धिक्कारती है। अनैतिकता व नैतिकता का अन्तर अच्छाई व बुराई द्वारा किया जाता है और कभी-कभी ईश्वर के अस्तित्व के आधार पर भी इसकी की जाती है। अपराध का सम्बन्ध 'राज्य एवं समाज के नियमों से है और ...ाध करने पर समाज व राज्य ही दण्ड की व्यवस्था करता है।

दुराचार का अर्थ बुरे व्यवहार से लिया जाता है। दुराचार और सदाचार सापेक्ष शब्द है। हर समाज में सदाचार व दुराचार की धारणा भिन्न-भिन्न है। ...ज द्वारा निर्धारित मूल्यों के विपरीत व्यवहार ही दुराचार है जिसमें व्यक्ति का

अधो पतन होता है। दुराचार में व्यक्ति को हानि होती है जबकि अपराध में राज्य और समाज को।

दुष्कृति का अंग्रेजी शब्द टार्ट (Tort) है जो फ्रेंच भाषा से लिया गया है और जिसका अर्थ 'त्रुटि' है। दुष्कृति में व्यक्तिगत हितों को हानि पहुँचती है और इसके लिए व्यक्ति क्षति-पूर्ति की माँग करता है। अपराध में व्यक्ति के स्थान पर राज्य या समाज को हानि होती है। इन दोनों के बीच अन्तर कभी-कभी बहुत कम ही रह जाता है और कई बार एक ही कार्य दुष्कृति और अपराध दोनों ही श्रेणियों में आता है।

अपराध का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF CRIME)

मानव व्यवहारों में भिन्नता के कारण अपराधों में भी विविधता पायी जाती है। अपराधशास्त्रियों ने अपराध की व्याख्या और विश्लेषण करने के लिए अपराध और अपराधियों का समय-समय पर वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। हम यहाँ कुछ विद्वानों के वर्गीकरणों का उल्लेख करेंगे .

सदरलैंड का वर्गीकरण (Sutherland's Classification)—सदरलैंड[1] ने अपराध की गम्भीरता को ध्यान में रखकर उन्हें दो भागों में बाँटा है—साधारण अपराध और जघन्य अपराध।

साधारण अपराध (Misdemeanors)—चोरी, मारपीट, शराब पीना आदि साधारण अपराध हैं। ऐसे अपराध करने पर अधिक कठोर दण्ड नहीं दिया जाता है और अपराधी को चेतावनी देकर, कम दण्ड देकर या परिवीक्षा पर छोड़ दिया जाता है।

जघन्य अपराध (Felonies)—हत्या, बलात्कार, डकैती, अपहरण, राजद्रोह आदि गम्भीर अपराध हैं जिनके लिए राज्य मृत्युदण्ड अथवा आजीवन कारावास आदि के रूप में कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है। टैपन और जेम्स स्टीकेन ने सदरलैंड के इस वर्गीकरण को उपयुक्त नहीं माना है क्योंकि (i) एक ही अपराध एक देश में साधारण हो सकता है तो दूसरे देश में जघन्य। (ii) साधारण अपराधों के परिणाम कभी-कभी गम्भीर भी हो सकते हैं। (iii) यह वर्गीकरण ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है कि जघन्य अपराध करने वाला व्यक्ति भयंकर और क्रूर है तथा उसका सुधार सम्भव नहीं है।

लेमर्ट का वर्गीकरण (Lemert's Classification)

लेमर्ट[2] ने अपराधों को तीन भागों में बाँटा है—परिस्थिति-जन्य, नियोजित और विश्वासघात।

---

1 Sutherland, *Principles of Criminology*, p 16
2 Edwin M Lemert, *Social Problems*, pp 141-49

परिस्थितिजन्य अपराध (Situational Crime)—इस श्रेणी में वे अपराध आते हैं जिन्हें मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में फँसने के कारण ही करता है। यहाँ परिस्थितियाँ ही व्यक्ति को अपराध करने को मजबूर करती हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति रेल में यात्रा कर रहा है और उसका सामान व रुपये खो जाने पर वह दूसरों से सहायता की अपेक्षा करता है, किन्तु कोई भी उसकी सहायता नहीं करता। अब वह अपने पेट की आग शान्त करने के लिए चोरी करता है तो उस व्यक्ति द्वारा किया गया यह कार्य परिस्थिति-जन्य अपराध कहलायेगा।

नियोजित अपराध (Planned Crime)—ऐसे अपराध जो व्यक्ति योजना बनाकर अपराधी इरादे से करता हो, नियोजित अपराध कहलायेंगे, जैसे मजदूर नेताओं द्वारा तोड़-फोड़ एवं आगजनी या डाकुओं द्वारा किसी के यहाँ डाका डालने की कार्यवाही इस श्रेणी के अपराध हैं।

विश्वासघातक अपराध (Crime against Trust)—ठगी धोखा आदि अपराध इसी श्रेणी में आते हैं। एक व्यक्ति पर जब विश्वास किया जाता हो और वह विश्वास का लाभ उठा कर ऐसा कार्य करे जिससे विश्वास करने वाले को हानि हो तो वह विश्वासघातक अपराध कहलायेगा।

बोंगर का वर्गीकरण (Bonger's Classification)

अपराधी उद्देश्य को ध्यान में रखकर बोंगर[1] ने अपराधों को चार भागों में बांटा है—आर्थिक अपराध, यौन सम्बन्धी अपराध, राजनीतिक अपराध, और विविध अपराध।

आर्थिक अपराध (Economic Crime) का उद्देश्य धन एवं सम्पत्ति प्राप्त करना होता है। चोरी, डकैती, गबन एवं ठगी का उद्देश्य आर्थिक लाभ प्राप्त करना है।

यौन सम्बन्धी अपराध (Sexual Crime) में यौन इच्छाओं की तृप्ति के लिए अपराध किये जाते हैं जैसे पर-स्त्री गमन, बलात्कार, वेश्यावृत्ति आदि।

राजनीतिक अपराध (Political Crime) राजनीतिक लाभ प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। राजद्रोह, तथा भारत रक्षा नियम आदि का उल्लंघन राजनीतिक अपराध हैं।

विविध अपराध (Miscellaneous)—प्रतिशोध या बदले की भावना के कारण किये जाने वाले अपराध इस श्रेणी में आते हैं।

बोंगर के वर्गीकरण को हम पर्याप्त नहीं मान सकते। एक समय में एक अपराध के एकाधिक उद्देश्य हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में बंगला देश के शेख मुजीब की हत्या प्रतिशोध एवं राजनीतिक उद्देश्य दोनों से प्रेरित थी।

---

1. W. A. Bonger, *Criminality and Economic Conditions*, pp. 535-37.

क्लिनार्ड और क्वीने का वर्गीकरण (Clinard and Quinney's Classification)

क्लिनार्ड और क्वीने[1] ने निम्नांकित आठ प्रकार के अपराधों का उल्लेख किया है

हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध (Violent Personal Crime)—आक्रमण, बलात्कार और हत्या आदि अपराध इस श्रेणी में आते हैं। ऐसे अपराधों की समाज में कटु आलोचना एवं भर्त्सना की जाती है और राज्य कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है।

सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध (Occasional Property Crime)—ऐसे अपराधों में धन-लाभ मूल उद्देश्य होता है। दस्तावेजों पर जाली हस्ताक्षर करना, चैक पर झूठे हस्ताक्षर कर उसे भुनाना, कलात्मक वस्तुओं को पार करना एवं दुकानों पर चोरी करना आदि इस श्रेणी में आते हैं।

व्यावसायिक अपराध (Occupational Crime)—कई व्यक्ति अपने व्यवसाय के दौरान ही अपराध करते हैं, जैसे मिलावट करना, कालाबाजारी करना, गबन और झूठे विज्ञापन देना आदि। ऐसे अपराध समाज के उच्च एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा अधिक किये जाते हैं।

राजनीतिक अपराध (Political Crime)—इनका उद्देश्य राजनीतिक लाभ प्राप्त करना होता है, जैसे जासूसी, तोड़-फोड़, राजद्रोह आदि।

सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी अपराध (Public Order Crime)—आवारागर्दी, वेश्यावृत्ति, सड़क के नियमों का पालन न करना, शराब पीकर बखेड़ा खड़ा करना, समलैंगिकता आदि ऐसे अपराध हैं जो सार्वजनिक रूप से अव्यवस्था पैदा करते हैं।

परम्परागत अपराध (Conventional Crime)—डकैती, लूटमार, अपहरण और गिरोह तथा संगठन बनाकर अपराध करना या चोरी करना इस श्रेणी के अपराध हैं। जीविकोपार्जन के अन्य साधनों के साथ ही इन अपराधों को भी अपनाया जाता है।

संगठित अपराध (Organised Crime)—इसमें कई व्यक्तियों द्वारा मिलकर एक संगठन बनाया जाता है और योजनाबद्ध रूप से अपराध किया जाता है। विभिन्न देशों के बीच सोना, अफीम, गांजा, चरस आदि का व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय अपराधी गिरोहों द्वारा किया जाता है।

पेशेवर अपराध (Professional Crime)—इस श्रेणी में वे अपराध आते हैं जिनको व्यक्ति व्यवसाय के रूप में ही करता है। जेब काटना, चोरी करना, उठाईगीरी करना, नकली नोट छापना आदि इसी श्रेणी के अपराध हैं।

---

1 Clinard and Quinney, *Criminal Behaviour Systems—A Typology*, pp 14-18.

सांख्यिकीय आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Statistics)

सरकार ने अपराधों की संख्या के आधार पर अपराध को प्रमुखतः पाँच भागों में बाँटा है :

व्यक्ति के विरुद्ध अपराध (Crime against Person) जैसे हत्या, मारपीट, बलात्कार आदि।

सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध (Crime against Property) में चोरी, डकैती, लूट आदि आते हैं।

राज्य के विरुद्ध अपराध (Crime against State) जैसे राजद्रोह, जासूसी आदि।

व्यवस्था के विरुद्ध अपराध (Crime against Order) जैसे मदिरापान, जुआ, वेश्यावृत्ति और उपद्रव पैदा करना आदि।

न्याय के विरुद्ध अपराध (Crime against Justice) जैसे अपराधी घोषित होने पर सजा न भुगतना, न्यायालय का अपमान करना आदि।

भारत में तीन प्रकार के अपराध माने गये हैं .

(i) भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) द्वारा दण्डनीय अपराध जैसे हत्या, मारपीट, अपहरण, चोरी, लूट, सार्वजनिक अशान्ति पैदा करना, मान-हानि, विश्वासघात, धोखा आदि।

(ii) दण्ड प्रक्रिया संहिता (Code of Criminal Procedure) द्वारा दण्डनीय अपराध जैसे दुर्व्यवहार करना और शान्ति भंग करना।

(iii) ऐसे अपराध जो स्थानीय एवं विशिष्ट विधियों के द्वारा दण्डनीय हैं, जैसे उन राज्यों में शराब पीना जहाँ पूर्ण नशाबन्दी लागू कर दी गयी है, अपराध है जबकि अन्य राज्यों में नहीं।

उपरोक्त वर्गीकरणों से स्पष्ट है कि विभिन्न अपराधशास्त्रियों ने अपराध के वर्गीकरण के विभिन्न आधार अपनाये हैं। किसी ने उद्देश्य को आधार माना है, तो किसी ने गम्भीरता और संख्या को, तो किसी ने वैधानिकता को।

अपराधी कौन ?
(WHO IS CRIMINAL)

सामान्य रूप से अपराधी उसे माना जाता है जो समाज के नियमों की अवहेलना करता है, अनैतिक और धर्म के विरुद्ध कार्य करता है, राज्य के नियमों के विरुद्ध आचरण करता है। इलियट और मैरिल कहते हैं "तकनीकी तौर पर अपराधी वह है जो दण्डनीय दुर्व्यवहार करे।"[1] टाफ्ट भी ऐसे व्यक्ति को अपराधी मानते हैं जिसने कानून निषिद्ध व्यवहार किया है।[2] कुछ लोगों की मान्यता है कि अपराधी

1 "Technically the criminal is one guilty of a criminal offense."
—Elliott and Merrill, *op. cit.*, p. 91.

2 "A criminal is one who has committed such a legally forbidden act."
-D. R. Taft, *Criminology*, 1959

मानसिक रूप से अयोग्य और भावात्मक रूप से अव्यवस्थित व्यक्ति है, परिस्थितियों के साथ उसका सामंजस्य नहीं हुआ है तथा उसमें सांस्कृतिक व नैतिक शिक्षा का अभाव है। कानूनी रूप से हम उसी व्यक्ति को अपराधी कहते हैं जिसको न्यायालय ने दोषी ठहराया है और दण्ड की आज्ञा दी है। सामाजिक दृष्टि से हर कानून के उल्लंघनकर्त्ता को अपराधी नहीं माना जाता। अंग्रेजों के शासन काल में अंग्रेजी सत्ता को हटाने हेतु विविध गतिविधियाँ—सत्याग्रह एवं आन्दोलन आदि अपराध थे किन्तु हम सामाजिक दृष्टि से उनको अपराध नहीं कह सकते।

अपराधियों के अध्ययनों में अपराधी की कानूनी परिभाषा ही स्वीकार की गयी है। इस सन्दर्भ में एक समस्या यह है कि कोई भी कानून यह घोषित नहीं करता कि कोई भी व्यक्ति कितने समय तक अपराधी कहलायेगा? क्या केवल अपराध करने के दौरान या दण्ड पाने की अवधि तक या आजीवन?

टाफ्ट[1] ने एक व्यक्ति को अपराधी ठहराने के लिए कुछ आधारों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं :

(1) उपयुक्त आयु (Competent Age)—किसी भी व्यक्ति को अपराधी घोषित करने से पूर्व उसकी आयु का भी ध्यान रखा जाता है। इंगलैंड के कानून के अनुसार यह आयु 7 वर्ष है। अमरीका में व्यक्ति की आयु और उसकी लम्बाई तथा शारीरिक बनावट देखकर ही उसे अपराधी घोषित किया जाता है। सामान्यतः किसी भी देश में 6 या 7 वर्ष से कम की आयु के व्यक्ति द्वारा किया गया कानून विरोधी कार्य अपराध नहीं माना जाता क्योंकि इस आयु तक बच्चे में अपराधी भावना का उदय नहीं हो पाता, वह अच्छाई और बुराई में अन्तर नहीं कर पाता। अतः इस भावना के उदय के बाद ही किसी व्यक्ति को अपराधी कहा जा सकता है।

(2) स्वेच्छ क्रिया (Voluntary Act)—कोई भी व्यक्ति अपराधी उसी समय माना जायेगा जब उसने अपनी इच्छा से कानून विरोधी कार्य किया हो न कि किसी दबाव के कारण। एक व्यक्ति रात्रि को ताला बनाने वाले को घर से उठा ले जाता है और उसे किसी के यहाँ तिजोरी खोलने को कहता है और ऐसा न करने पर उसे जान से मारने की धमकी देता है। ऐसी स्थिति में वह यदि तिजोरी का ताला खोलता है तो अपराध नहीं है क्योंकि यहाँ उसे अपराध के लिए बाध्य किया गया है। किन्तु दबाव का निश्चय भी न्यायालय ही करता है।

(3) अपराधी इरादा (Criminal Intent)—अपराध का कार्य व्यक्ति द्वारा जान-बूझकर अपराधी इरादे से किया जाना चाहिए, यद्यपि लापरवाही और कानून के प्रति अनभिज्ञता क्षमा योग्य नहीं है।

(4) अपराध कानूनी रूप से राज्य के लिए हानिप्रद हो (Crime must be classed legally as an act injurious to the state)—अपराध से राज्य को

---

1. D. R. Taft, *Criminology*, 1965, pp 6-8

हानि होनी चाहिए। व्यक्ति के विरुद्ध किया गया कार्य अपराध की श्रेणी में नही आता वरन् उसे हम दुष्कृति (Tort) कहेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कानूनी दृष्टि से अपराधी वह है जिसने इच्छा-पूर्वक बुरी नियत से ऐसे कार्य किये हों जो दण्डनीय हैं।

अपराधियों का वर्गीकरण (CLASSIFICATION OF CRIMINALS)

अपराध की भाँति ही अपराधशास्त्रियों के अपराधियों का भी विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। यहाँ कुछ विद्वानों के वर्गीकरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

सदरलैंड का वर्गीकरण (Sutherland's Classification)

सदरलैंड[1] ने अपराधियों को दो भागों में बाँटा है—निम्नवर्गीय अपराधी और श्वेत-वस्त्रधारी अपराधी।

निम्नवर्गीय अपराधी (Lower Criminals)—ये वे व्यक्ति हैं जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। ये दरिद्र या गरीब हैं, मजदूरी करते हैं और धन के अभाव में न्याय प्राप्त करने में असमर्थ हैं अत वे शीघ्र ही पुलिस की निगाह में आ जाते हैं।

श्वेत वस्त्रधारी अपराधी (White Collar Criminals)—ये समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं। इनके पास धन और शक्ति होती है। ये न्याय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति व्यवसाय के दौरान अपराध करते हैं। वकील, उद्योगपति, न्यायाधीश, इंजीनियर, डाक्टर, प्राध्यापक आदि जब अपने व्यवसाय के दौरान अपराध करते हैं तो वे इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु इन लोगों का सम्बन्ध न्यायाधीशों, राजनीतिज्ञों, पुलिस कर्मचारियों आदि से होता है। अत वे न्यायिक प्रक्रिया के दौरान बच निकलते हैं। काल्डवेल, टेपन और जार्ज वोल्ड ने सदरलैंड के इस वर्गीकरण को अनुचित ठहराया है। काल्डवेल कहते हैं कि सदरलैंड ने ऐसे कोई निश्चित आधार नहीं बताये हैं जिनसे अपराधी का वर्ग ज्ञात किया जा सके और न ही उसने उन कार्यों का ही उल्लेख किया है जिन्हें करने वालों को श्वेतवस्त्रधारी अपराधी माना जा सके।

लोम्ब्रोसो का वर्गीकरण (*Lombroso's Classification*)

लोम्ब्रोसो[2] ने अपराधियों को प्रमुख चार भागों में बाँटा है :

जन्मजात अपराधी (Born Criminal)—ऐसे अपराधियों में जन्म से ही कुछ शारीरिक लक्षण ऐसे होते हैं जिनके आधार पर उन्हें पहचाना जा सकता है। लोम्ब्रोसो ने 15 विभिन्न शारीरिक लक्षणों का उल्लेख किया है और कहा है कि

1. Sutherland, "White Collar Criminality", *American Sociological Review*, Feb 1940, pp 1-12.
2. Cesare Lombroso, *Crime, Its Cause and Remedies*, trans. by H. P. Hartoo, 1911.

यदि इनमें से 5 लक्षण किसी व्यक्ति में पाये जाते हैं तो वह अवश्य ही अपराध करेगा। उनकी मान्यता थी कि अपराधी विशेषतायें व्यक्ति को वंशानुक्रमण से प्राप्त होती हैं।

पागल अपराधी (Insane Criminal)—इस श्रेणी में वे अपराधी आते हैं जो मानसिक रूप से किसी न किसी बीमारी से ग्रस्त होते हैं और उनका मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है। वे मानसिक असन्तुलन के कारण अपराध करते हैं।

कामुक अपराधी (Criminal by Passion)—ऐसे व्यक्ति यौनतृप्ति की लालसा के कारण ही अपराध करते हैं।

आकस्मिक अपराधी (Occasional Criminal)—इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो शारीरिक व मानसिक दोषों से ग्रसित नहीं होते वरन् परिस्थितियोंवश ही अपराध करते हैं। इन अपराधियों को लोम्ब्रोसो ने तीन उप-भागों में बाँटा है :

अर्द्ध या नकली अपराधी (Pseudo Criminal)—ऐसे अपराधी खतरनाक नहीं होते वरन् आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए या अनपेक्षित परिस्थितियों के कारण ही अपराध करते हैं।

आदतन अपराधी (Habitual Criminal)—ये व्यक्ति जन्मजात अपराधी तो नहीं होते किन्तु प्रतिकूल वातावरण के कारण अपराध करते हैं।

अपराधीसम (Criminaloid)—इस श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो जन्मजात अपराधी और ईमानदार व्यक्ति के बीच के होते हैं। परीक्षण करने पर ऐसे व्यक्ति अपभ्रष्ट (degenerated) पाये गये।

लिण्डस्मिथ और डनहेम[1] का वर्गीकरण (Classification of Lindsmith and Dunham)

आपने अपराधियों को दो भागों में बाँटा है—व्यक्तिगत और सामाजिक।

व्यक्तिगत अपराधी (Individual Criminal)—व्यक्तिगत कारणों से किये जाने वाले अपराध जैसे आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यक्तियों द्वारा अपराध करना इस श्रेणी के अन्तर्गत आयेंगे।

सामाजिक अपराधी (Social Criminal)—जब व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर अपराध करता है तो उसे सामाजिक अपराधी कहा जाता है। संगठित रूप से अपराध करने वाले जैसे स्मगलर, डकैत आदि ऐसे ही अपराधी हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने एक तीसरे प्रकार का अपराधी भी बताया है जो दोनों के बीच की श्रेणी का होता है जिसे वे अभ्यस्त परिस्थितिगत (Habitual-Situational) अपराधी कहते हैं।

---

1 A R. Lindsmith and W. H I unham, *Some Principles of Criminal Typology* in Social Forces, March 1, pp 307-14.

अलेक्ज़ेण्डर और स्टाब[1] का वर्गीकरण (Classification of Alexander and Staub)

इन्होंने अपराधियों को दो प्रमुख भागों में बाँटा है—आकस्मिक और असाध्य।

आकस्मिक अपराधी (Acute Criminal) उन्हें माना जाता है जो आकस्मिक रूप से या असामान्य परिस्थितियों के कारण अपराध करते हैं।

असाध्य अपराधी (Chronic Criminal) वे हैं जो जान-बूझकर अपराध को एक पेशे के रूप में अपनाते हैं। इन अपराधियों को तीन उप-भागों में बाँटा गया है:

(i) सामान्य अपराधी (Normal Criminal)—ये सामाजिक परिस्थितियों की देन होते हैं और इनका समाजीकरण त्रुटिपूर्ण होता है। माता-पिता का भी इन पर कुप्रभाव होता है।

(ii) न्यूरोटिक (Neurotic)—ये मनोवैज्ञानिक कारणों की उपज होते हैं। इनकी इड (Id) प्रवृत्तियों का दमन नहीं हो पाता है और ये अपने आपको समाज के प्रतिमानों के अनुरूप ढालने में असमर्थ होते हैं।

(iii) वैकारिकीय (Pathological)—इस श्रेणी के अपराधी प्राणिशास्त्रीय कारणों से अपराध करते हैं। इनमें शारीरिक व मानसिक दोष पाये जाते हैं। अतः वे सामान्य व्यक्ति की तुलना में सामाजिक प्रतियोगिता में पिछड़ जाते हैं।

हेज का वर्गीकरण (Classification of Hedge)

हेज ने अपराधियों को चार भागों में बाँटा है .

प्रथम अपराधी (First Criminal)—जो पहली बार अपराध करता है।

आकस्मिक अपराधी (Occasional Criminal)—जो कभी-कभी परिस्थितियों के दबाव में आकर अपराध करता है।

आदतन अपराधी (Habitual Criminal)—जो आदत के वशीभूत होकर अपराध करते हैं, चाहे उन्हें लाभ हो या न हो।

पेशेवर अपराधी (Professional Criminal)—जो आजीविका के साधन के रूप में अपराध करता है और अपराध ही जिसका व्यवसाय बन जाता है।

हैवलोक ऐलिस[2] का वर्गीकरण (Classification of Havelock Ellis)

आपने व्यावहारिक दृष्टि से अपराधियों को दो प्रमुख भागों में बाँटा है . एक वे जो सही अर्थों में अपराधी होते हैं (actual criminal) और दूसरे वे जिन पर अपराध थोप दिया जाता है (nominal criminal)। अपराध की प्रवृत्तियों के आधार पर उन्होंने अपराधियों को अग्रांकित सात भागों में बाँटा है

---

1 F. Alexander and H. Staub, *The Criminal the Judge and the Public*, trans. G. Zilboorg 1931, pp. 145-52.

2 Havelock Ellis, *The Criminal*, pp 1-24

(i) राजनीतिक अपराधी, (ii) पागल अपराधी, (iii) पेशेवर अपराधी, (iv) नैतिक रूप से पागल अपराधी, (v) कामुक अपराधी, (vi) आकस्मिक अपराधी, (vii) आदतन अपराधी।

रेकलेस[1] का वर्गीकरण (Classification of Reckless)

रेकलेस ने अपराधियो को तीन भागों में बाँटा है :

साधारण (Ordinary), सगठित (Organized), तथा पेशेवर (Occupational)।

सेठना[2] का वर्गीकरण (Classification of Sethna)

सेठना ने अपराधियो को तकनीकी दृष्टि से दो भागों मे बाँटा है :

नाममात्र के या अवास्तविक (Nominal or unreal) तथा वास्तविक अपराधी (Real criminal)।

आपने आयु के आधार पर भी अपराधियों को दो भागों में बाँटा है :

युवा अपराधी (Adult Criminal) तथा बाल अपराधी (Juvenile Offender)।

अपराध के आधार पर उन्होंने अपराधियों को इस प्रकार से बाँटा है :

लुटेरे और जालसाज (Robbers and Forgers) तथा नैतिकता और जनस्वास्थ्य के विरुद्ध अपराधी (Offenders Against Good Morals and Public health)।

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त कुछ अन्य वर्गीकरण इस प्रकार से हैं :

हेण्डरसन[3] ने अपराधियों को तीन भागों मे बाँटा है :

(i) वे जो स्वभाव से अपराधी नहीं हैं (Offenders who are not criminal in character),

(ii) जो ऊपरी तौर पर अपराध करते हैं (Offenders whose criminality is superficial),

(iii) जिनकी प्रकृति और आदत ही अपराध करने की हो गयी है (Offenders whose antisocial disposition is deep in nature and habit)।

क्लिनार्ड[4] ने अपराधियों को दो भागों में बाँटा है :

(i) जो अपराध को आजीविका का मुख्य साधन मानकर व्यवसाय के रूप मे अपनाते हैं (career offenders), तथा

(ii) वे जो अपराध को जीविका का साधन नहीं मानते (Non careers)।

उपरोक्त वर्गीकरणो से स्पष्ट है कि विद्वानों ने विभिन्न आधारों को ध्यान मे

1 W. Reckless, *The Crime Problems*, chapter 9 and 10
2 M. J Sethna, *Society and the Criminal*, p. 97.
3 Henderson, *Atlantic Monthly*, July 1946, p. 46, & *The Causes and Cure of Crime*, pp. 17-18.
4 Clinard, *Sociology of Deviant Behaviour*, chapter 8.

रखकर अपराधियों का वर्गीकरण किया है किन्तु किसी ने भी अपराधियों का सर्वमान्य वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया है। वर्गीकरण के प्रमुख आधारों में अपराधी की आयु, उद्देश्य, अपराध की प्रकृति एवं परिस्थितियाँ आदि प्रमुख हैं। अपराधियों का उचित वर्गीकरण हमें उनकी प्रवृत्तियों, उद्देश्यों, प्रकृति आदि को समझने में योग देता है। अपराध के सिद्धान्तों के निर्माण में भी अपराधियों का वर्गीकरण एक महत्वपूर्ण पहलू है।

अपराध के कारणों सम्बन्धी सिद्धान्त
(THEORIES OF CAUSATION OF CRIME)

समाज में अपराध के क्या कारण हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए समय-समय पर अनेक विद्वानों ने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं जिन्हें हम अपराध-शास्त्र के सम्प्रदाय (Schools of Criminology) या अपराध के कारण सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Crime Causation) के नाम से पुकारते हैं। इन सिद्धान्तों को हम प्रमुखतः दो भागों में बाँट सकते हैं

एक वे जो अवैज्ञानिक (Unscientific) हैं और जिनका प्रचलन अठारहवीं एवं उन्नीसवीं सदी के मध्य रहा। इनमें हम प्रेतशास्त्रीय सिद्धान्त, स्वतन्त्र इच्छा का सिद्धान्त और शास्त्रीय सिद्धान्त आदि की गणना कर सकते हैं। दूसरे वे जो वैज्ञानिक अनुसन्धानों और निष्कर्षों पर आधारित हैं (Scientific) जो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ होकर अब तक चले आ रहे हैं। इनमें हम भौगोलिक सम्प्रदाय, इटालियन सम्प्रदाय, मनोवैज्ञानिक, शरीर रचना सम्बन्धी एवं समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय आदि को गिनते हैं। हम यहाँ प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

प्रेतवादी सिद्धान्त (Demonological Theory)

यह सिद्धान्त अति प्राचीन है जो कि आत्मा और प्रेतात्मा में विश्वास पर आधारित है। आदिम समाजों और ग्रामीण लोगों में आज भी यह मान्यता है कि जब व्यक्ति के शरीर में कोई बुरी आत्मा (Evil Spirit) प्रवेश कर जाती है तो वह उसे भड़काती है और अपने वश में कर लेती है। इस स्थिति में व्यक्ति ईश्वर एवं समाज से नहीं डरता है, वह समाज-विरोधी व्यवहार करता है और समाज से बदला लेता है। अपराधी को प्रेतात्मा के चंगुल से मुक्त कराने के लिए बलि देनी होती थी या अपराधी को इतना दण्ड दिया जाता था कि प्रेतात्मा भयभीत होकर उसके शरीर से निकलकर भाग जाय। शायद यह कहावत भी उसी समय बनी होगी कि मार के आगे भूत भागता है। इस समय दण्ड की कठोर व्यवस्था प्रचलित थी क्योंकि यह माना जाता था कि व्यक्ति तो निर्दोष है, वह तो साधन-मात्र है असली अपराधी तो प्रेतात्मा ही है जिसे दण्ड देकर भगाया जा सकता है। मध्ययुग तक यह धारणा प्रचलित रही किन्तु वर्तमान युग के इस अवैज्ञानिक एवं अप्रायोगिक धारणा को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यह सिद्धान्त अतार्किक है तथा अपराध

के कारणों को व्यक्ति एवं समाज से बाहर खोजता है जोकि किसी भी रूप में उचित नहीं है। जब 18वीं सदी में शास्त्रीय सिद्धान्त का उदय हुआ तो इस सिद्धान्त की मान्यता समाप्त हो गयी।

स्वतन्त्र इच्छा का सिद्धान्त (Concept of Free Will)

इस सिद्धान्त का उदय 16वीं एवं 17वीं सदी में हुआ। यह वह समय था जब मृत व्यक्तियों और पशुओं पर भी मुकदमा चलाया जाता था, उन्हें भी फाँसी की सजा और अन्य प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। इस सिद्धान्त की मूल धारणा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र है। उस पर किसी भी व्यवहार को अपनाने के लिए दबाव नहीं डाला जा सकता और न ही सामाजिक नियमों को मानने के लिए उसे बाध्य किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति व्यवहार का चुनाव करने में स्वतन्त्र है क्योंकि उसमें स्वतन्त्र इच्छा (Free will) पायी जाती है। यही कारण है कि एक व्यक्ति अपराधी व्यवहार का चुनाव करता है और दूसरा नहीं। किन्तु इस सिद्धान्त को भी उचित नहीं माना गया क्योंकि इसमें सामाजिक और अन्य कारणों की उपेक्षा की गयी है।

शास्त्रीय सिद्धान्त (Classical Theory)

इस सिद्धान्त का उदय 18वीं सदी के अन्त में हुआ। इसके प्रमुख समर्थकों में बैकरिया, बेन्थम और फ्यूअरबेक थे। ये सिद्धान्तवादी सुखवादी दर्शन (Hedonistic Philosophy) से प्रभावित थे। इस दर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पूर्व उससे मिलने वाले सुख व दुख का हिसाब लगाता है और वही कार्य करता है जिससे उसको सुख मिलता है।

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम इटली के अपराधशास्त्री बैकरिया[1] ने प्रस्तुत किया। अपराध के प्रति बैकरिया की धारणा के मूल आधार ये थे :

(i) अधिकांश लोगों का अधिकांश सुख (Greater pleasure of the greatest number)।

(ii) अपराध करते समय व्यक्ति दुख की तुलना में सुख का अधिक अनुभव करता है।

(iii) अपराध का अर्थ है समाज को हानि पहुँचाना और क्षति की मात्रा ही अपराध की मात्रा निर्धारित करे।

(iv) दण्ड का उद्देश्य बदला लेना नहीं हो वरन् अपराध निरोध हो। अतः दण्ड इतना दिया जाय कि अपराध से मिलने वाले सुख की तुलना में वह अधिक हो।

(v) दण्ड अपराध के अनुपात में ही दिया जाय।

बैकरिया दण्ड को व्यवस्थित करना चाहते थे। वे बिना किसी भेदभाव के समान अपराध के लिए समान दण्ड के पक्ष में थे। बैकरिया का मत इंगलैंड और

1 Beccaria Cesare, *Essay on Crime and Punishment*, pp. 11-32.

यूरोप मे बहुत समय तक प्रचलित रहा और वहाँ की जेल व्यवस्था मे अनेको सुधार आपके सिद्धान्त के आधार पर किये गये।

इगलैंड मे बैकरिया का समर्थक बेन्थम (Bentham) था जो कि एक दार्शनिक और राजनेता था। बेन्थम भी सुखवादी दर्शन से प्रभावित था। उसका मत था कि कानून का निर्माण समाज के हित के लिए किया जाता है और जो व्यक्ति इन कानूनों का उल्लघन करते हैं, वे समाज की प्रसन्नता मे बाधक हैं। अत. वे अपराधी हैं। अपराध को रोकने के लिए दण्ड अनिवार्य है। दण्ड देते समय अपराध की परिस्थितियो व अपराधी की मानसिक स्थिति का ध्यान रखा जाय और पागल, मूर्ख, बालक एवं वृद्धों को दण्ड नही दिया जाय।

शास्त्रीय सिद्धान्त के तीसरे समर्थक जर्मनी के फ्यूअरबेक (Feurback) थे। फ्यूअरबेक ने अपराध, दण्ड और कानून का सह-सम्बन्ध स्थापित किया और कहा कि कानून के अभाव मे अपराध को नही समझा जा सकता और बिना अपराध के दण्ड भी सम्भव नही है। दण्ड से ही समाज मे व्यवस्था एव स्थायित्व सम्भव है।

इस सिद्धान्त को भी हम एकांगी होने के कारण स्वीकार नही कर सकते। यह भी सही नहीं है कि हर समय व्यक्ति सुख-दुख से प्रेरित होकर ही कोई कार्य करता है। कई बार वह मजबूरी, निराशा एव दुखों से मुक्ति के लिए भी अपराध करता है। अपराध के सामाजिक कारणो की इस सिद्धान्त मे अवहेलना की गयी है।

(3) भौगोलिक सम्प्रदाय (Geographical School)

इस सम्प्रदाय के अभिमत का प्रचलन 18वी सदी से 20वी सदी तक रहा है। भूगोलवेत्ताओ ने भौगोलिक पर्यावरण, भूमि की रचना, वर्षा, तापमान, जलवायु, आदि को अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराया है। इसके प्रमुख समर्थको मे क्वेटलेट, ग्वेरी, मान्टेस्क्यू, डेक्सटर, लैकेसन, कोहन और क्रोपोटकिन आदि हैं।

फ्रांस के क्वेटलेट और ग्वेरी के अपराध का ताप सम्बन्धी सिद्धान्त (Thermic Law of Crime) दिया। उन्होने कहा कि गर्मियो मे व्यक्ति के विरुद्ध अपराध और सर्दियो में सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध अधिक होते हैं। उपजाऊ भूमि, अनुकूल वर्षा एवं प्राकृतिक साधनों की अधिकता होने पर अपराध कम होंगे और इनके विपरीत स्थितियों में अपराध अधिक होंगे। उनकी मान्यता थी कि भौगोलिक पर्यावरण मानव व्यवहार को भी प्रभावित करता है।

फ्रांस के मोन्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'कानून की आत्मा' (Spirit of Laws) मे लिखा है कि "ज्यो-ज्यों हम भूमध्य-रेखा के पास जाते हैं, अपराध बढ़ते जाते हैं। ध्रुवों की ओर शराब पीकर किये जाने वाले अपराधो की सख्या अधिक है।"[1]

1 "Criminality increases in proportion as one approaches the equator and drunkenness is more prevalent as one approaches the poles."
—Montesquieu, quoted by Barnes and Teeters, *op. cit.*, p. 143.

डेक्स्टर[1] (Dexter) ने मौसमी तत्वों जैसे तापक्रम, नमी, वायुमण्डल का दबाव आदि के आधार पर अपराधी प्रवृत्ति का अध्ययन किया और कहा कि आर्द्रता के बढ़ने पर हिंसा के अपराध घटते हैं। वायु के दबाव के साथ हिंसा के अपराध बढ़ते हैं। गर्मियों में लड़ाई झगड़े व आक्रमण के अपराध अधिक होते हैं तथा वर्षा-काल में हिंसात्मक अपराध कम होते हैं।

लैकेसन ने अपराध सम्बन्धी एक कैलेन्डर बनाया और यह दर्शाया कि किस महीने में कौन से अपराध होते हैं। वह कैलेन्डर इस प्रकार से है—

भ्रूण हत्या···· ···· ····	जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल
हत्या व गम्भीर अपराध···· ····	जुलाई
पितृ हत्या···· ···· ····	जनवरी, अक्टूबर
प्रौढ़ों में बलात्कार ···· ···· ····	जुलाई, अगस्त
युवकों में बलात्कार···· ···· ····	जून
सम्पत्ति के अपराध···· ···· ····	दिसम्बर, जनवरी
व्यक्ति के विरुद्ध अपराध ···· ····	मई, जून

लोम्ब्रोसो ने कहा कि समतल भूमि में अपराध कम और घाटियों व पहाड़ की चोटियों पर अधिक होते हैं। पीटर क्रोपोट्किन (Peter Kropotkin)[2] ने किसी महीने की औसत हत्या निकालने का एक सूत्र दिया है। किसी महीने के औसत तापमान को 7 से गुणा करके उसमें महीने की औसत आर्द्रता को जोड़कर उसे 2 से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, वह उस महीने की औसत हत्या होगी। इसी आधार पर हम किसी भी महीने में अपराध की औसत संख्या की भविष्यवाणी कर सकते हैं।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव मानव स्वभाव पर पड़ता है, किन्तु पर्यावरण और अपराध का सीधा सम्बन्ध नहीं है। यदि भौगोलिक कारक ही अपराध के लिए उत्तरदायी है तो क्या कारण है कि एक ही प्रकार के भौगोलिक पर्यावरण में रहने पर एक व्यक्ति अपराध करता है और दूसरा नहीं। साथ ही इस सिद्धान्त में सामाजिक कारणों की उपेक्षा की गयी है। यह सिद्धान्त एकपक्षीय धारणा ही प्रस्तुत करता है।

प्रारूपवादी सम्प्रदाय (Typological School)

इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि अपराधी का एक विशेष प्रारूप (Type) होता है जिसे देखकर ही पहचाना जा सकता है। उसकी शारीरिक रचना सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होती है। ये शारीरिक विशेषतायें अपराधी को वंशानुक्रमण में मिलती हैं। वे विशेष लक्षण कौन-से हैं जो एक अपराधी को सामान्य व्यक्ति से भिन्न बनाते हैं, इस बारे में मतभेद है। किसी ने शारीरिक लक्षणों को, तो किसी

1 E. G. Dexter, *Weather Infuence*, pp 142-52.
2 Peter Kropotkin, quoted by Barner and Teeters, *op. cit.*, p. 143.

मानसिक लक्षणों को अपराधी प्रारूप के निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण माना है । इसलिए
प्रारूपवादी सम्प्रदाय की तीन अलग-अलग शाखायें विकसित हुई हैं :

(i) इटैलियन सम्प्रदाय,

(ii) मानसिक परीक्षा सम्बन्धी सम्प्रदाय, तथा ।

(iii) मनोविश्लेषणात्मक सम्प्रदाय ।

हम तीनों का यहाँ संक्षेप मे उल्लेख करेंगे ।

इटैलियन सम्प्रदाय (Italian School)

इस सम्प्रदाय के समर्थकों मे लोम्ब्रोसो, गैरोफैलो और एनरिकोफेरी प्रमुख हैं। चूंकि ये सभी विद्वान इटली के निवासी थे, अतः इस सम्प्रदाय का नामकरण इसी आधार पर किया गया है ।

इस सम्प्रदाय के लोगों ने अपराध के कारणों की व्याख्या अपराधी की शरीर रचना के आधार पर की है । साथ ही यहाँ अपराधी की मानसिक विशेषताओं को भी अपराध के लिए उत्तरदायी माना है । मानसिक विशेषताओं के निर्धारण मे शरीर पर की जाने वाली गुदवाई (tattooing) एक महत्त्वपूर्ण पक्ष माना गया है ।

लोम्ब्रोसो[1] इटली की सेना मे डाक्टर थे । अपने सेवाकाल के दौरान उन्होंने देखा कि कुछ सैनिक अनुशासन-प्रिय हैं किन्तु कुछ उद्दण्ड हैं । अपराधी सैनिकों की शरीर रचना और सामान्य सैनिकों की शरीर रचना मे उल्लेखनीय अन्तर थे । अपराधी सैनिकों ने अपने शरीर पर भद्दी और उत्तेजक तस्वीरें गुदवा रखी थीं जब कि साधारण सैनिकों ने सरल तस्वीरें । ये तस्वीरें उनके स्वभाव की सूचक थीं । उन्होंने इटली की जेलों का भी अध्ययन किया और पाया कि शरीर रचना और मानसिक विशेषताओं मे घनिष्ट सम्बन्ध है । उन्होंने इस समय के एक प्रसिद्ध डाकू की खोपड़ी (skull) और मस्तिष्क (Brain) का अध्ययन किया तो पाया कि उसमे अनेक विचित्रतायें हैं जो साधारण मनुष्य मे नहीं होतीं । इसके अतिरिक्त उन्होंने 383 अपराधियों की खोपड़ियों का भी अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपराधी की शारीरिक रचना आदिमानव और पशुओं से बहुत-कुछ मिलती है । इसलिए ही उनमे जंगलीपन और पशुता के गुण हैं जो उन्हें अपराध के लिये प्रेरित करते है । ये शारीरिक विशेषतायें वशानुक्रमण मे मिलती हैं और अपराधी को विशेष प्रारूप प्रदान करती हैं । यही कारण है कि अपराधी जन्मजात होते हैं । उन्होंने तो अपराधियों की खोपड़ी, सिर, नाक, कान, आँख, ठुड्डी, बाल, ओठ, दाँत आदि का वर्णन करके बताया कि इनकी किस प्रकार की रचना होने पर एक व्यक्ति अपराधी होगा; हत्या, यौन अपराध और आदतन अपराधी के शरीर की बनावट कैसी होगी । उन्होंने लगभग 15 शारीरिक अनियमितताओं का उल्लेख किया और बतलाया कि जिसमे इनमें से 5 अनियमितताएँ होंगी वह निश्चित रूप से अपराधी होगा । आपने

1 C. Lombroso. *The Criminal Man*, pp. xi—xx.

अपराधियों को चार भागों में बाँटा है—जन्मजात पागल, कामुक और/ आकस्मिक। वे अपराधियों को दंड देने के साथ साथ बाल अपराधियों के सुधार के पक्ष में भी थे। लोम्ब्रोसो पहले अपराधशास्त्री थे जिन्होंने अपराध विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किये और प्रेतशास्त्रीय सिद्धान्त को समाप्त किया। इसीलिए है टैफ्ट लिखते हैं कि अपराध-शास्त्र और दण्ड विधान के क्षेत्र में लोम्ब्रोसो की अमूल्य देन होने के कारण ही वह एक लम्बे समय तक अपराधशास्त्र के पिता के रूप में जाना जाता रहा है।[1]

गैरोफेलो (Garofalo) लोम्ब्रोसो के विचारों से प्रभावित और उसके समर्थक थे। उन्होंने भी यह स्वीकार किया कि अपराधी एक 'प्रारूप' होता है किन्तु वे शारीरिक विशेषताओं के स्थान पर मानसिक विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। उन्होंने कहा कि अपराधियों में दया और ईमानदारी की भावना का अभाव होता है। ईमानदारी के अभाव के कारण वह सम्पत्ति के विरुद्ध और दया के अभाव के कारण व्यक्ति के विरुद्ध अपराध करता है।

एनरिको फेरी (Enrico Ferrie) लोम्ब्रोसो का शिष्य था। अपने अपराधियों की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं के साथ-साथ भौतिक व सामाजिक पर्यावरण को भी अपराध के लिये उत्तरदायी माना है। इस दृष्टि से वे आधुनिक सिद्धान्तों के नजदीक हैं। वे लिखते हैं, '*जिस प्रकार एक निश्चित तापक्रम में पानी* का एक पिंड रसायन वस्तु की एक निश्चित मात्रा को घुला देगा, उसी प्रकार निश्चित व्यक्तिगत और भौतिक दशाओं के साथ एक निश्चित सामाजिक पर्यावरण में, एक निश्चित संख्या में, न कम और न ही अधिक अपराध किये जायेंगे।'[2]

इटैलियन सम्प्रदाय की अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। उनमें गोरिंग और यार्स्टन सेलिन प्रमुख हैं। गोरिंग[3] ने 12 वर्ष तक तीन हजार अपराधियों का अध्ययन करके बताया कि अपराधी और गैर-अपराधी की शारीर रचना में कोई अन्तर नहीं होता। यदि अपराधी आदिमानव का प्रारूप है तो क्या सभी आदिमानव अपराधी थे? आज यह भी कोई नहीं मानता कि अपराधी जन्मजात होते हैं और उन्हें शारीरिक एवं मानसिक लक्षण वंशानुक्रमण में मिलते हैं। गैरोफेलो की यह भी बात भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि अपराधी में दया और ईमानदारी का अभाव होता है।

मानसिक परीक्षकों का सिद्धान्त (Theory of Mental Testers)

जब लोम्ब्रोसो का सिद्धान्त अस्वीकार किया गया तो मानसिक परीक्षकों ने

---

1 D. R. Taft, *op cit*., 1959, p 76.

2 "As a given volume of water at a definite temperature will dissolve a fixed quantity substance, so in a given social environment with definite individual and physical conditions, a fixed number of delicts, no more and no less, can be committed" —T Ferrie, quoted by D R Taft, *Criminology*, 1959, p 82.

3 *Charls Goring, The English Convict : A Statistical Study*, 1913, p. 173.

क नया अभिमत प्रस्तुत किया । इन लोगो ने अपराध के लिए शारीरिक लक्षणो के स्थान पर मानसिक दुर्बलता (Feeble mindedness) को उत्तरदायी माना है। इनकी मान्यता थी कि अपराधी प्रवृत्ति नहीं अपितु मन्दबुद्धि ही बच्चो को वशानुक्रमण मिलती है और मानसिक पिछड़ापन ही अपराध का कारण है। इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक गोडार्ड थे। आपने विभिन्न अपराधियो के मानसिक परीक्षण के बाद बुद्धिलब्धि (I Q) ज्ञात करने का एक सूत्र प्रदान किया जो इस प्रकार से है।

$$\text{बुद्धिलब्धि (I Q)} = \frac{\text{मानसिक आयु} \times 100}{\text{शारीरिक आयु}}$$

किसी भी व्यक्ति की मानसिक आयु को 100 से गुणा करके उसमे उसकी शारीरिक आयु का भाग देने पर बुद्धिलब्धि (I Q) प्राप्त होती हैं। उनके सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं

(i) मानसिक दुर्बलता ही अपराध का कारण है क्योंकि मन्दबुद्धि वाला व्यक्ति अपराध की गम्भीरता को नहीं समझता और अपराधी व्यवहार करता है।

(ii) मन्दबुद्धि मेन्डल के वंशानुक्रमण के सिद्धान्त के आधार पर ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।

(iii) अपराध को रोकने के लिए अपराधियों का वन्ध्याकरण (Sterilization) किया जाना चाहिए।[1] गोडार्ड ने 1912 मे अपने अध्ययन मे 25% और 1914 मे 50% अपराधियों की मन्दबुद्धि पाया। गोडार्ड के अभिमत से प्रभावित होकर अमेरिका मे कुछ समय तक अपराधियो का वन्ध्याकरण भी किया गया।

गोडार्ड के सिद्धान्त की सत्यता जाँचने के लिए अनेक व्यक्तियो ने अमेरिका मे अपराधियो का मानसिक परीक्षण किया जिनमे शेल्डन और ग्लूक, मेरिल टर्मन, मरिल, बर्ट, जेलेनी आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों के अध्ययनो से ज्ञात हुआ कि यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति मानसिक रूप से कमजोर हो, वे अपराध करेंगे ही और यह भी पाया गया कि कई अपराधी मानसिक रूप से काफी विकसित थे। बुद्धिलब्धि को उपर्युक्त सांस्कृतिक वातावरण प्रदान कर बढ़ाया जा सकता है।

मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Phychiatric School)

अपराध के शारीरिक लक्षणो के स्थान पर इस सिद्धान्त में संवेगात्मक उत्तेजना या अस्तव्यस्तता (Emotional disturbances) को महत्त्व दिया गया। हीली[2] ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि मानसिक अव्यवस्था को अभिव्यक्त करने के लिए ही व्यक्ति अपराध करता है। निराशा, व्यक्ति-संघर्ष और असंतुलन ही अपराध के लिए उत्तरदायी हैं।

1 H. H Goddard, *Feeble Mindedness*, 1921, also Human Efficiency and Levels of Intelligence, pp 73-74.
2 Healey, *The Individual Delinquent*, 1915.

फ्रायड की मान्यता है कि व्यक्ति अपनी 'इड' प्रवृत्तियों को पूरी तरह दबा नहीं पाता है तो अर्द्धदमित इच्छायें (Half repressed desires) अक्सर उभर भड़क उठती हैं और व्यक्ति ऐसे कार्य भी कर बैठता है जो समाज के भय के कारण पहले नहीं कर सका था। इसके अतिरिक्त फ्रायड की मान्यता है कि ईडिपस काम्प्लेक्स (Oedipus complex) के कारण भी अपराध किये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपने निकट सम्बन्धियों से यौन सम्बन्ध रखने की इच्छा होती है। किन्तु समाज के भय से वह उसे पूर्ण नहीं कर पाता। इस इच्छा की अभिव्यक्ति वह चोरी और अन्य किसी अपराध के रूप में भी कर सकता है। तब अपराधी का वास्तविक उद्देश्य चोरी करना नहीं वरन् निकट सम्बन्धियों से यौन सम्बन्ध की इच्छा है।

एडलर (Adler) की मान्यता है कि अपराधी हीनता की भावना (inferiority complex) से ग्रसित होता है। जीवन में अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब व्यक्ति को हीनता महसूस होती है। इस हीन भावना की क्षति-पूर्ति वह अपराध द्वारा करता है।

मन चिकित्सा शास्त्र मे मानसिक अवस्था को दो वर्गों में बांटा गया है: न्यूरोसिस (Neurosis) तथा साईकोसिस (Psychosis)।

इस आधार पर अपराधी व्यक्तित्व भी दो प्रकार के होते है—

न्यूरोटिक अपराधी एवं साइकोपैथिक अपराधी।

न्यूरोटिक अपराधी (Neurotic criminal) की सामाजिक कुशलता कम होती है। ऐसे व्यक्ति माता-पिता के कठोर नियन्त्रण, असुरक्षा तथा अति प्रबन्ध के कारण होते हैं। इनका 'अहम्' (ego) दुर्बल हो जाता है और वे 'इड' (id) प्रवृत्तियों को नियन्त्रण मे नहीं रख पाते। ऐसे व्यक्ति अनावश्यक रूप मे भय, चिन्ता तथा थकान महसूस करते हैं। परिणामस्वरूप वे सन्तोषप्रद जीवन व्यतीत नहीं कर पाते।

साइकोपैथिक अपराधी (Psychopathic criminal) संवेगात्मक असामान्यता (emotional abnormality) के कारण अपराध करते हैं। इनका 'परा अहम्' (Super ego) अपर्याप्त रूप से विकसित होता है। वे ऐसे वातावरण की देन हैं जहाँ नियन्त्रण, प्रेम एवं स्नेह का पूर्ण अभाव होता है। अपने घर मे वे बिन-बुलाये मेहमान की तरह होते हैं। उनमे न तो कोई प्रेम करता है और न ही कोई उन्हें आदर देता है। प्रतिक्रियास्वरूप वे हिंसात्मक हो जाते हैं और अपराध करते हैं।

कपाल विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त (Phrenological Theory)

इस सिद्धान्त की मान्यता है कि अपराधियों और साधारण व्यक्तियों की खोपड़ी की संरचना में अन्तर होता है। कपाल के बाह्य रूप और मस्तिष्क के आकार में अन्तः सम्बन्ध है। जोसेफ गाल (Joseph Gall) इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में से हैं। गाल ने सन् 1809 में जेलों और पागलखानों में लोगों की खोपड़ियों का नाप के आधार पर अध्ययन किया। उनकी मान्यता थी कि मस्तिष्क में अलग-अलग

विभाग (faculties) होते हैं। हर विभाग का सम्बन्ध किसी न किसी लक्षण से है। ये लक्षण लड़ाकूपन, विनाश, लाभ की इच्छा आदि हो सकते हैं। खोपड़ी के नाप के आधार पर ही मस्तिष्क के विभागों के विकास को जाना जा सकता है और उसी आधार पर यह समझा जा सकता है कि व्यक्ति किस प्रकार का व्यवहार प्रकट करेगा। उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति में विनाशता के लक्षण हैं तो वह हत्या एवं मारपीट करेगा। यदि लाभ की इच्छा है तो चोरी और आर्थिक अपराध करेगा। किन्तु गाल का यह सिद्धान्त भी उपयुक्त नहीं माना गया क्योंकि मानव व्यवहार एक जटिलता है जिसे गाल ने अति सरल रूप में प्रकट किया है।

अन्तःस्रावी सम्प्रदाय (Endocronological School)

हमारे शरीर में कुछ ऐसी ग्रन्थियाँ हैं जो नलिकाओं रहित हैं और जो विशेष प्रकार के रसों को पैदा करती हैं। ये रस हमारे शारीरिक लक्षणों और व्यवहारों को तय करने में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। जो विज्ञान इन नलिकाओं रहित ग्रन्थियों का अध्ययन करता है उसे 'एण्डोक्रोनोलोजी' (Endocronology) के नाम से पुकारते हैं। इस क्षेत्र में शेल्डन और हूटन ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। एण्डोक्रीन ग्रन्थियों से कुछ विशेष प्रकार के रसों का स्राव होता है। इन स्रावों की कमी या अधिकता का व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक व्यवस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

थाइराइड (Thyroid) ग्रन्थियों से यदि आवश्यकता से कम स्राव होता है तो बच्चों को मिक्सेडीमा (Myxedema) रोग हो जाता है जिससे बच्चे का सामान्य शारीरिक व मानसिक विकास रुक जाता है और इसकी पूर्ति के लिए वह अपराध करता है। यदि इस ग्रन्थि से आवश्यकता से अधिक रस निकलता है तो व्यक्ति उद्वेगशीलता, संवेगात्मक तनाव तथा उत्तेजना महसूस करता है, फलस्वरूप वह समाज-विरोधी कार्य करता है।

इसी प्रकार से पिट्यूटरी ग्रन्थियों (Pituitary secretions) के त्रुटिपूर्ण ढंग से कार्य करने पर व्यक्ति में हीनता और पार्थक्य की भावना पैदा हो जाती है जिसकी क्षति-पूर्ति वह अपराध द्वारा करता है। इसी प्रकार यौन ग्रन्थियों से रसों के कम स्राव के कारण व्यक्ति में यौन शिथिलता और हीनता की भावना पैदा होती है और अधिक स्राव होने पर अत्यधिक कामुकता पैदा होती है जो यौन अपराध को जन्म देती है।

इस सिद्धान्त को भी एकांगी होने के कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हूटन एवं शेल्डन का सिद्धान्त (Hooton and Sheldon's Theory)

अमेरिका के प्रो० हूटन[1] ने 1930 में पुनः लोम्ब्रोसो के सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयास किया। इसलिए उनके सिद्धान्त को नवीन लोम्ब्रोसो का

---

1. E. Hooton, *Crime and the Man*, 1931.

सिद्धान्त (Neo-Lombrosian Theory) भी कहते हैं। उनकी मान्यता थी कि अपराधियों को उनकी शरीर-रचना और बाह्य आकृति के आधार पर पहचाना जा सकता है। अपराध और समाज विरोधी कार्य शारीरिक और प्रजातीय कारकों के कारण हैं (Crime and other forms of anti social behaviour are due to almost exclusively physical and racial factors)। अपराध को रोकने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि बन्ध्यकरण (Sterilization) द्वारा अपराधियों के समूह को ही समाप्त कर दिया जाय। इससे जैवकीय हीनता अगली पीढ़ी में नहीं पहुँच सकेगी।

शेल्डन ने भी 1949 में शारीरिक बनावट (Physical constitution) को अपराध से सम्बन्धित किया। उन्होंने हाथ-पाँव, सिर, चेहरा, गर्दन, भुजा, कंधे एवं जाँघ की रचना के आधार पर तीन प्रकार के शारीरिक ढाँचों का उल्लेख किया—

(i) मझले कद की शरीर रचना वाले—ये शारीरिक रूप से शक्तिशाली होते हैं।

(ii) गोलाकार शरीर रचना वाले—ऐसे व्यक्ति आराम पसन्द व विलासी होते हैं।

(iii) लम्बाकार शरीर वाले—ये संवेदनशील होते हैं।

किन्तु हूटन एवं शेल्डन के मतों का भी खण्डन किया गया है। उनकी यह बात सर्वदा सत्य नहीं है कि शारीरिक दोष एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को पहुँचेंगे ही और न यह कहना ही उपयुक्त है कि शारीरिक लक्षण ही अपराध के लिए उत्तरदायी हैं।

चार्ल्स गोरिंग का सिद्धान्त (Charls Goring's Theory)

आनुवंशिकता को अपराध के लिए उत्तरदायी मानने वालों में चार्ल्स गोरिंग प्रमुख हैं। उन्होंने सन् 1913 में इंग्लैण्ड में 3000 अपराधियों की शरीर रचना और वंशानुक्रमण का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपराध पर्यावरण के कारण नहीं अपितु वंशानुक्रमण के आधार पर ही होता है। सदरलैण्ड ने गोरिंग के सिद्धान्त की आलोचना की और वंशानुक्रमण पर अत्यधिक जोर देने को उचित *नहीं बताया।*

आर्थिक सिद्धान्त (Economic Theory)—कुछ विद्वानों ने अपराध के लिए आर्थिक परिस्थितियों को उत्तरदायी ठहराया है। सन् 1814 में इटली के फोरनासारी डी वर्से (Fornasari di Verce) ने अपने अध्ययन में बताया कि 60% अपराधी गरीब वर्ग के थे। सन् 1916 में डच निवासी विलियम बोंगर (William Bonger)[1] के अध्ययन में अधिकांश अपराधी गरीब वर्ग के थे। उन्होंने

1 W. A. Bonger, *Criminology and Economic Conditions*, 1916, p 643.

कहा कि गरीब लोग शराब का सहारा लेकर अपराध करते हैं। अमेरिका और इंगलैण्ड में भी अनेक समाजशास्त्रियों व अपराधशास्त्रियों ने आर्थिक दशा, आय और अपराध के बीच सह-सम्बन्धों को ज्ञात करने के लिए अनेक अध्ययन किये। इनमें से रसैल (Russel) द्वारा सन् 1847 में, वाल्श (Walsh) द्वारा सन् 1844 से 1845 तक इंगलैण्ड में तथा रीनमैन (Reenemann) द्वारा फिलाडेलफिया में किये गये अध्ययन महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त सिरिल, बर्ट, रेकलेस, काल्डवेल आगवर्न, न्यूब, हिली और ब्रूनर आदि के अध्ययनों में भी यह बात पायी गयी कि निम्न आर्थिक स्थिति ही अपराध के लिए उत्तरदायी है।

कार्ल मार्क्स और एंजिल्स ने भी गरीबी को अपराध का कारण माना है। उनका मत है कि आर्थिक विषमता ही अपराध को जन्म देती है। यह सिद्धान्त कुछ सीमा तक सही भी है क्योंकि आर्थिक असुरक्षा, वस्त्रों की कमी, बेकारी, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव आदि अपराधी मनोवृत्ति को जन्म देने में सहायक हैं। गन्दी बस्तियों में रहने वाले लोगों के अध्ययन इस बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। फिर भी सदा ही गरीबी अपराध को जन्म दे, यह आवश्यक नहीं है क्योंकि कई लोग भूखे मरना अधिक पसन्द करेंगे बजाय अपराध करने के।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theories)

19वीं सदी में समाजशास्त्रीय अभिमत और भौगोलिक अभिमत का साथ-साथ उदय हुआ। दोनों ने ही पर्यावरण को अपराध का कारण माना। किन्तु भौगोलिक अभिमत भौगोलिक पर्यावरण को महत्त्वपूर्ण मानता है जबकि समाजशास्त्रीय अभिमत सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण को। सदरलैण्ड लिखते हैं कि इस सिद्धान्त का केन्द्रीय तत्त्व यह है कि अपराध उन्हीं प्रक्रियाओं का फल है जिनसे दूसरे प्रकार के सामाजिक व्यवहार उत्पन्न होते हैं।[1] टाफ्ट लिखते हैं कि समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय मुख्य रूप से सामूहिक जीवन के प्रभाव, सामाजिक दृष्टिकोण और व्यवहार के सामूहिक प्रतिमानों से सम्बन्धित है, इसके साथ ही यह व्यक्ति के सामाजिक पद एवं भूमिका और इस सम्बन्ध में उसकी धारणा और इसके अतिरिक्त सामाजिक परिस्थितियों तथा सम्बन्धों से सम्बन्धित है।[2] 19वीं सदी में गैबरियल टार्ड ने शरीर रचना सम्प्रदाय (Constitutional Shool) की आलोचना की और आपने 'अनुकरण' (Imitation) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। उनका मत था कि व्यक्ति

---

[1] "The central thesis of the sociological school is that criminal behaviour results from the same process as other social behaviour."
—E. Sutherland, *Principles of Criminology*, p. 37.

[2] "The sociological approach is concerned with the effects of group life, social attitudes and group patterns of behaviour, as well as the social status, the role of the individual plays and his conceptions of it, and of various other types of social situations and relationships."
—Taft, D. R., *Criminology*, 1959, p. 84.

का व्यवहार सामाजिक अनुकरण द्वारा सम्भव होता है। यदि कोई चोरी करना सीखता है तो वह भी किसी का अनुकरण कर रहा होता है। समाजशास्त्रीय अभिमत की मान्यता है कि अपराधी प्रवृत्ति जन्म-जात नहीं है वरन् सीखा हुआ व्यवहार है। एक गैर-अपराधी व्यक्ति जब अपराधियों के सम्पर्क में आता है तो वह भी अपराध करना सीखता है। रूथकेवन (Ruthcavan) अपराधी व्यवहार को सामूहिक साहचर्य का प्रतिफल मानते हैं। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग सामाजिक कारकों को अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराया है। हम यहाँ उनमें से कुछ के विचारों का उल्लेख करेंगे।

1 सदरलैण्ड का मत—सदरलैण्ड अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्री हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक *'अपराधशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Criminology)* में सर्वप्रथम अपराध की वैज्ञानिक आधार पर सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने अपराध का कारण अपराधी लोगों से सम्पर्क माना है और इस आधार पर सन् 1939 में विभेदक या विभिन्न सम्पर्क (Differential Association) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने अपराध की दो व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं—(i) परिस्थिति सम्बन्धी व्याख्या, और (ii) जन्म सम्बन्धी या ऐतिहासिक व्याख्या। परिस्थिति सम्बन्धी व्याख्या में अपराध को परिस्थितियों का प्रतिफल माना जाता है, उदाहरण के लिए एक नौकर घर पर मालकिन के अभाव में उसके आभूषण चुरा कर ले जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मालकिन की अनुपस्थिति ने नौकर को चोरी करने के के लिए अनुकूल परिस्थिति प्रदान की। ऐतिहासिक या जन्म-सम्बन्धी व्याख्या अपराध को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखती है। इसका तात्पर्य यह है कि अपराधी कार्य परिस्थिति के परिणामस्वरूप नहीं किया गया वरन् वह एक लम्बे समय की सीख (learning) का परिणाम है जो व्यक्ति ने अपराधी लोगों के सम्पर्क में आकर सीखा। सदरलैण्ड इसी मत को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि अधिकांश अपराधी व्यवहार अपराधी प्रतिमानों के सम्पर्क में आकर सीखे जाते हैं। अन्य शब्दों में व्यक्ति अपराधी इसलिए बनते हैं कि वे अपने दैनिक जीवन में अपराधी या अर्द्ध-अपराधियों के सम्पर्क में गैर-अपराधियों की तुलना में अधिक आते हैं। सदरलैण्ड अपराध को संगति और सीख का परिणाम मानते हैं। उन्होंने तीन प्रकार की संगति मानी है—व्यक्तिगत मित्रता, निष्क्रिय समूहों की सदस्यता (जैसे किसी भाषण या श्रोता-समूह में भाग लेना), अन्त क्रियात्मक समूह (जैसे खेल का मैदान, गैंग और क्लब आदि) से उत्पन्न संगति। संगति में आने पर व्यक्ति में सुझाव ग्रहणशीलता (Suggestibility) बढ़ जाती है और वह नेता की पूजा व अनुकरण को महत्त्व देने लगता है। किसी भी बुरी संगति में आने पर व्यक्ति में कई प्रकार की अपराधी आदतें उत्पन्न होती हैं, जैसे वह समुदाय के प्रति संघर्षशील दृष्टिकोण को अपनाता है, उसमें विध्वंसक प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं और वह अपराधी

नेता द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त कर गैंग की अपराधी संहिता को अपना लेता है, आदि। एक मिलनसार व्यक्ति अमिलनसार की तुलना मे अपराध शीघ्र सीख लेता है।

सदरलैण्ड के सिद्धान्त की निम्नांकित प्रमुख उपकल्पनाएँ हैं :

(i) अपराधी व्यवहार सीखा जाता है, वंशानुक्रमण मे प्राप्त नही होता।

(ii) अपराध अन्य लोगो से अन्त क्रिया द्वारा या सचार के माध्यम से ग्रहण किया जाता है।

(iii) अपराधी व्यवहार प्राथमिक समूहो के सम्पर्क की देन है।

(iv) अपराध मे एक व्यक्ति अपराध की विधियाँ, प्रेरणा, मनोवृत्तियाँ आदि सीखता है।

(v) अपराध की प्रेरक शक्तियों को व्यक्ति कानून संहिताओ (Legal Codes) की स्वीकृत या अस्वीकृत परिभाषाओ द्वारा सीखता है। एक अपराधी कानून के अनुकूल परिभाषाओ के स्थान पर प्रतिकूल परिभाषाओं को अधिक अपनाता है अर्थात् वह गैर-अपराधी प्रतिमानो की तुलना मे अपराधी प्रतिमानों के सम्पर्क मे अधिक आता है।

(vi) सम्पर्क भी समय, तीव्रता, प्राथमिकता और पुनरावृत्ति के आधार पर भिन्न-भिन्न होता है। एक व्यक्ति अपराधी बनेगा या नहीं, यह इस बात पर भी बहुत निर्भर है कि वह कितने समय तक कितनी तीव्रता से और कितनी बार अपराधियों के सम्पर्क मे रहा।

(vii) अपराधी व्यवहार सीखने की विधियो एव कानून सम्मत व्यवहार सीखने की विधियो मे समानता है।

(viii) अपराधी और गैर-अपराधी व्यवहार सामान्य आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति है। इसलिए केवल आवश्यकता व मूल्यो के आधार पर ही अपराध को नही समझा जा सकता।

(ix) सदरलैण्ड की मान्यता है कि सगठित समाज मे असगठित समाज की तुलना मे अपराध कम होते हैं। सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन समाज में असामजस्य को जन्म देते हैं जिसके परिणामस्वरूप अपराध होते हैं।

आलोचना—सदरलैण्ड के उपरोक्त सिद्धान्त की अनेक विद्वानो ने आलोचना की है। सदरलैण्ड ने अपने सिद्धान्त मे भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक तथा प्राणीशास्त्रीय कारणो की उपेक्षा की है।

यह आवश्यक नहीं है कि सगति के कारण ही अपराध सीखा जाए। इसे सगति मे आने से पूर्व और बाद मे भी सीखा जा सकता है।

इसमें प्राथमिक समूहों पर अधिक जोर देकर द्वैतीयक समूहों के महत्व को ...ना दिया गया है।

जार्ज वोल्ड (George Vold) कहते हैं कि अपराधियों के सम्पर्क मे आने कुछ ही व्यक्ति अपराधी बनते हैं, शेष क्यों नहीं?

इस सिद्धान्त में सीखने की प्रक्रिया को अत्यधिक सरल रूप में प्रस्तुत कि
गया है।

क्लारेन्स रे जेफरी (Clarnce Ray Jeffery) का कहना है कि यह सिद्धा
यह नहीं बताता कि आयु, लिंग एवं शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्र के आधार पर अपरा
की दरों में भिन्नता क्यों है?

डेनियल ग्लेजर[1] (Daniel Glazer) ने सदरलैण्ड के सिद्धान्त को संशो
कर 'विभिन्न तादात्मीकरण' (Differential Identification) का सिद्धान्त दि
और बताया कि अपराधियों के सम्पर्क में आने पर भी सभी व्यक्ति अपराधी इसलि
नहीं बन पाते कि उनके सन्दर्भ समूह (Reference group) भिन्न भिन्न होते हैं
एक व्यक्ति उसी सन्दर्भ-समूह के अनुसार अपने व्यवहार को ढालने का प्रयास कर
है जो उसके लिए सकारात्मक होता है और जिसको वह अपने अनुकूल मानता है।

II क्लोवार्ड और ओहलिन का सिद्धान्त (Cloward and Ohlin
Theory)—क्लोवार्ड और ओहलिन[2] का सिद्धान्त दुर्खीम एवं मर्टन के व्याधि
(Anomie) तथा सिक्कोर्ड शा और सदरलैण्ड के सिद्धान्तों पर आधारित है। इ
'विभिन्न अवसर का सिद्धान्त' (Differential Opportunity Theory) कहा ग
है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति जब वैध साधनों
नहीं कर पाता है तो वह गैरकानूनी साधनों का सहारा लेता है। किन्तु ये गैरकानू
साधन भी सभी व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं होते। प्रमुखतः निम्न वर्ग के युवा स
जब मध्यम वर्ग के मूल्यों और उद्देश्यों को वैध तरीकों से प्राप्त नहीं कर पाते
वे अवैध तरीके प्रयोग में लाते हैं। अवैध साधनों की उपलब्धि में अन्तर के का
ही अपराध की मात्रा में भी अन्तर पाया जाता है।

क्लोवार्ड और ओहलिन ने अपराधी उप-संस्कृति (Delinquent Su
culture) की व्याख्या भी दी। अपराधी उप-संस्कृति में अपराध केन्द्र बिन्दु हो
है और अपराधी क्रियाओं का इस संस्कृति द्वारा समर्थन किया जाता है। अपरा
उप-संस्कृति के तीन प्रकार हैं:

(i) अपराधी उप-संस्कृति—इसमें अपराधी गिरोह भौतिक लाभ के लि
अवैध साधनों जैसे चोरी, कपट, धोखा आदि का सहारा लेता है। ये लोग हिंसा
प्रयोग नहीं करते। ये साधारणतः समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं।

(ii) संघर्ष उप-संस्कृति—इसमें गिरोह धमकी, मारपीट, हत्या आदि
सहारा लेते हैं।

1 Daniel Glazer, *Criminology—Theories and Behaviour Images*, Americ
Journal of Sociology, March 1956, p. 440.

2 R. Cloward and L. Ohlin, *Delinquency and Opportunity: A Theory o
Delinquent Gang*, 1966, pp. 142-152.

(iii) पलायनवादी उप-संस्कृति (Retreatist Sub-culture)—इसमें नशीली वस्तुओं जैसे शराब, अफीम, गांजा, चरस आदि का प्रयोग किया जाता है।

क्लोवार्ड ओहलिन का मत है कि अपराधी उप-संस्कृति में निम्न वर्ग के लोग अपनी आर्थिक स्थिति ऊँची करने के लिए सम्मिलित होते हैं। इसका कारण यह है कि वे स्वीकृत नियमों का पालन करके अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करना व्यावहारिक दृष्टि से कठिन मानते हैं।

आलोचना—(i) क्लोवार्ड-ओहलिन द्वारा अवसरों को वैध और अवैध में विभक्त करना उचित नहीं है क्योंकि एक ही अवसर एक व्यक्ति के लिए वैध है तो दूसरे के लिए अवैध।

(ii) यह सिद्धान्त केवल अपराधी उप-संस्कृति द्वारा समर्थित क्रियाओं की ही व्याख्या करता है, सभी प्रकार के अपराधों की नहीं।

III. मर्टन का व्याधिकी (एनामी) सिद्धान्त (Merton's Anomic Theory)—मर्टन ने एनामी की अवधारणा दुर्खीम से ग्रहण की। दुर्खीम ने ही सर्वप्रथम एनामी की अवधारणा का प्रयोग समाज में श्रम-विभाजन को स्पष्ट करने के दौरान किया था। दुर्खीम की मान्यता है कि जब व्यक्ति की आकांक्षाएँ असीमित हो जाती हैं और जब उन पर नियन्त्रण शिथिल हो जाता है तो उनकी पूर्ति भी असम्भव हो जाती है। असीमित आकांक्षाएँ व्यक्ति पर समाज विरोधी व्यवहार के लिए दबाव डालती हैं जिससे नियमहीनता पैदा होती है। आपकी मान्यता है कि समाज में श्रम-विभाजन के बढ़ने पर समाज के विभिन्न अंगों में सामंजस्य नहीं रह पाता और समाज की एकता घट जाती है तथा विभिन्न वर्गों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इससे समाज में नियमहीनता या व्याधिकी (Anomic) की स्थिति पैदा हो जाती है। सामाजिक नियन्त्रण के अभाव की यह स्थिति ही अपराध को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है।

दुर्खीम के इस सिद्धान्त को मर्टन[1] ने और अधिक विकसित किया। आपने बतलाया कि प्रत्येक समाज में कुछ सांस्कृतिक लक्ष्य होते हैं। इन सांस्कृतिक लक्ष्यों को किस तरह से प्राप्त किया जा सकता है, इसके संस्थागत साधन भी समाज द्वारा स्वीकृत और निश्चित होते हैं। जब सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थागत साधनों में सामंजस्य नहीं होता है तो ऐसी स्थिति को मर्टन व्याधिकी (एनामी) कहते हैं। यह स्थिति ही व्यक्ति पर अपराध करने के लिए दबाव डालती है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। धन कमाकर सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाना हमारी संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्य है। साथ ही समाज यह भी कहता है कि धन ईमानदारी और वैध साधनों द्वारा कमाया जाय। किन्तु यदि कोई व्यक्ति चोरी, कालाबाजारी, मिलावट

Social Theory and Social Structure, Merton, R. K.

चोरी आदि करके पैसा कमाकर उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तो इन लोगों में जो ईमानदारी से धन अर्जन कर रहे हैं, क्षोभ पैदा होता है। यदि अधिकांश व्यक्ति धन कमाने के लिए संस्थागत तरीकों के विपरीत तरीके काम में लेते हैं तो समाज में नियमहीनता की स्थिति पैदा होगी और यह अन्य लोगों को भी अपराध करने के लिए प्रेरित करेगी। इस प्रकार अपराध एक प्रस्तुत परिस्थिति के प्रति प्रति-क्रिया है (Crime is a response to a given situation)। मर्टन ने अपने सिद्धान्त में सामाजिक नियन्त्रण को आवश्यक महत्त्व नहीं दिया है।

IV. टाफ्ट का सिद्धान्त (Taft's Theory)—टाफ्ट अपराध के लिए संस्कृति को उत्तरदायी मानते हैं। उनके अनुसार कोई भी संस्कृति जो भौतिकवादी और प्रति-स्पर्धा वाली होगी तथा जिसमें प्रतिष्ठा और प्रस्थिति (prestige and status) की होड़ लगी होगी वहाँ अपराध अधिक होंगे।[1] ऐसी संस्कृति में 'तुम्हारे पास क्या है' (What you have) का महत्त्व नहीं होता वरन् 'तुम क्या प्रदर्शन करते हो' (What you show) और किस उत्कृष्ट वस्तु का उपभोग करते हो (conspicuous consumption) का अधिक महत्त्व होता है। ऐसी संस्कृति प्रतिस्पर्धा पैदा करती है और जो प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाते हैं उनमें निराशा पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप वे अपराध करते हैं। वे अमरीकी संस्कृति को अपराधी संस्कृति मानते हैं क्योंकि इसमें हमें प्रतिस्पर्धा, दिखावा, उत्कृष्ट वस्तु का उपभोग, भौतिकवाद, उच्च पद को महत्त्व एवं कानून की अवहेलना आदि लक्षण देखने को मिलते हैं।

थार्सटेन सेलिन, मैबिल इलियट, बिनार्ड एवं मिल्टन बैरन आदि ने भी संस्कृति को ही अपराध के लिए उत्तरदायी माना है। सेलिन[2] का मत है कि किसी समाज की सांस्कृतिक जटिलता ही विभिन्न समूहों के प्रतिमानों में संघर्ष पैदा करती है और विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिमानों के कारण ही व्यक्ति अपराधी व्यवहार करता है। मैबिल इलियट[3] का मत है कि जिस संस्कृति में कानून को मानने की अनिच्छा होती है वहाँ अपराध अधिक होते हैं। अमेरिकन संस्कृति में हमें यह विशेषता दिखाई पड़ती है।

V. क्लिफोर्ड शा का सिद्धान्त (Theory of Clefford Shaw)—क्लिफोर्ड शा[4] ने अपराध के लिए परिस्थितियों की दशाओं (ecological conditions) को उत्तरदायी ठहराया है और अपराधी क्षेत्र (delinquency area) की अवधारणा दी। उन्होंने कहा कि अपराध किसी भी नगर के केन्द्र में अधिक होते हैं। ज्यों ज्यों हम

1 "In any culture that is highly competitive and materialistic in which the striving for prestige and status is so strongly impelled by social forces, much crime must inevitably take place." —Taft, D R., *Criminology*

2 Thorsten Sellin, *Culture, Conflict and Crime*, 1938, p. 130.

3 Mebel Elliott, *Crime in Modern Society*, 1952, p. 273.

4 Shaw, C. R. and Mackay, H. D., *Juvenile Delinquency, Urban Areas*, 1942.

इस केन्द्र से दूर होते जाते हैं, अपराध घटते जाते हैं। शहर के मध्य में ही अपराध अधिक क्यों होते हैं, इसका कारण बताते हुए आप कहते हैं कि वे स्थान भीड़-भाड़ युक्त होते हैं, जहाँ लोग वैयक्तिक होकर गली में घूमते हैं, जिसका लाभ अपराधी लोग उठाते हैं। साथ ही मध्यक्षेत्र में अपराधी प्रवृत्तियों की बाहुल्यता उन क्षेत्रों में अधिक पायी जाती जहाँ मकानों का अभाव, गन्दी बस्तियाँ और व्यक्तिगत सम्बन्धों की कमी थी। बेकारी व निर्धनता, विदेशी पर्यटकों का आवागमन, नियन्त्रण का अभाव एवं शहर का केन्द्रीय भाग भी अपराध बढ़ाने में योग देते हैं। सदरलैण्ड के अनुसार शॉ का यह मत सही नहीं है कि एक व्यक्ति इसलिए अपराध करता है कि वह अपराधी क्षेत्र में रहता है वरन् निराशा और विघटित व्यक्तित्व के कारण भी अपराध होते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—डेविड अब्राहेम सेन[1] का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ मौजूद होती हैं। जब कभी वह अपराध कार्य कर बैठता है तो दण्ड भी पाना चाहता है। इस अचेतन इच्छा के कारण ही वह आगे अपराध करता है। रेकलैस का मत है कि प्रबल और दुर्बल दो प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं। दुर्बल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति सामाजिक वातावरण के अनुसार अपने को ढाल नहीं पाता। अतः वह अपराध की ओर अग्रसर होता है।

टैननबाम ने समूह को अपराध के लिए उत्तरदायी बताते हुए लिखा है कि विघटित परिवार, बुरा पड़ोस, शहरीकरण और परम्परात्मक समुदायों का विघटन होने से ही अपराध होते हैं।

लोवेल कार (Lowell Carr) का मत है कि व्यक्ति में अनुरूप और प्रतिकूल दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। प्रतिकूल प्रवृत्ति वाला व्यक्ति ही आगे चलकर अपराध करता है। लेमर्ट का मत है कि उचित समायोजन के अभाव में ही अपराध होते हैं।

कैवन की मान्यता है कि जब व्यक्ति अपने पदों के अनुरूप भूमिका नहीं निभाता है तब अपराध होते हैं। ऑगबर्न का मत है कि सामाजिक परिवर्तन समाज में संक्रमण की स्थिति पैदा करता है जो कि अपराध के लिए उत्तरदायी है।

थामस का मत है कि जब समाज किसी व्यक्ति को मान्यता नहीं देता और तिरस्कृत कर देता है तो वह अपराधी व्यवहार द्वारा सामाजिक मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

11. बहुकारकवादी सिद्धान्त (Multiple Factory Theory)—अनेक विद्वानों ने अपराध के लिए किसी एक ही कारक को नहीं वरन् अनेक कारकों को

---

1 Abrahamsen David, Psychology of Crime p. 31.

बहु-उपस्थिति को उत्तरदायी माना है। एनरिको फेरी व हिली इसके समर्थक हैं। बहुकारण की धारणा का विकास 19वीं सदी में सकुंचित धारणाओं के सिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। इसके प्रमुख समर्थक इंग्लैंड के अपराधशास्त्री सिरिल बर्ट[1] हैं। उनकी मान्यता है कि अब तक अपराधशास्त्रियों द्वारा दी गई सम्भावित व्याख्याएँ अत्यधिक सकुंचित हैं। सामान्य रूप से कभी-कभी वह (अपराधशास्त्री) चार-पाँच सर्वव्यापी प्रमुख कारणों से, तो कभी-कभी एक से ज्यादा नहीं, की खोज से सन्तुष्ट हो जाता है। अपराध अनेक कारणों के मिलने से घटित होता है। सब मिलाकर लगभग 170 विशिष्ट परिस्थितियाँ पायी गयी हैं जिनमें से प्रत्येक, बच्चे के अप्रत्याशित व्यवहार के लिए उत्तरदायी हो सकती है। उन्होंने प्रमुख छः कारकों का उल्लेख किया है—आनुवंशिक, पर्यावरण सम्बन्धी, शारीरिक, बुद्धि सम्बन्धी, स्वभाव सम्बन्धी तथा संवेग और मनोग्रन्थि सम्बन्धी कारक।

बर्ट ने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि अपराध में चार प्रभाव समूह हैं - मुख्य प्रभावक, मुख्य सहायक प्रभाव, छोटी मोटी परिस्थितियाँ, और ऐसी परिस्थितियाँ जो उपस्थित रहने पर भी क्रियाशील नहीं रहती।

टाफ्ट ने भी अपराध के लिए एकाधिक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और पर्यावरण सम्बन्धी कारकों को महत्त्वपूर्ण माना है।

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए एलबर्ट कोहन[2] लिखते हैं कि बहुकारणवाद में 'एक प्रभावक' को अलग नहीं किया गया है। कई बार एक सिद्धान्त में अनेक प्रभावकों को सम्मिलित किया जाता है।

बहुकारणवादियों ने प्रभावकों (factors) एवं कारणों (causes) में भेद नहीं किया है। बहुकारणवादी यह मानते हैं कि बुरे कारणों का प्रभाव बुरा व्यवहार होता है। ऐसा करके उन्होंने अपराध के कारणों की खोज बेकारीय परिस्थितियों जैसे विघटित परिवार और मनोविकार आदि में की है। किन्तु यह बात भी सदा सही नहीं है।

अपराध के कारक
(FACTORS OF CRIME)

अपराध किसी एक कारक के परिणामस्वरूप घटित नहीं होता वरन् अनेक कारकों की अन्त क्रिया के फलस्वरूप प्राकृतिक दशायें, शारीरिक एवं मानसिक दोष, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ सम्मिलित रूप में अथवा पृथक रूप में अपराध के लिए उत्तरदायी है। हम भौगोलिक कारकों का पहले उल्लेख कर चुके हैं। कुछ अन्य कारकों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है :

---

1 Cyril Burt, *Young Delinquent*

2 Albert Cohen, *Deviance and Control*, 1966, and *Delinquent Boys*, 1955.

शारीरिक कारक (Physical Factors)—लोम्ब्रोसो ने अपराध के लिए शारीरिक कारकों को उत्तरदायी ठहराया। कुछ विद्वानों ने एण्डोक्रिन ग्रन्थियों के असंतुलित कार्य को अपराध के लिए उत्तरदायी माना।

पैतृकता (Heredity)—कई विद्वानों ने अपने अध्ययनों में यह पाया कि अपराधी माता-पिता की सन्तानें भी अपराधी थीं। गोरिंग ने सन् 1913 में 3000 अपराधियों का अध्ययन करके पाया कि माता-पिता से दूर रहने पर भी उनकी सन्तानों ने वही अपराध किये जो उनके माता-पिता ने किये थे। कई विद्वानों ने प्रसिद्ध और कुख्यात परिवारों का अध्ययन वंशानुक्रमण के आधार पर किया। विनशिप ने एडवर्ड परिवार का अध्ययन करके बताया कि इसके कोई पूर्वज अपराधी नहीं थे। अतः इसके वंशजों ने भी अपराध नहीं किए। डुग्डेल[1] व इस्टाब्रुक[2] ने ज्यूक परिवार का और गोडार्ड ने सन् 1912 में कालीकॅक परिवारों का अध्ययन करके पता लगाया कि उनके सभी वंशज अपराधी थे। अपराध का वंशानुक्रमण से सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए लैंग (Lange), फ्रीमैन (Freeman), न्यूमैन (Newman) और होल्जिंगर (Holjingar) ने भी समान और असमान जुड़वाँ बच्चों के अध्ययन किये। सभी ने अपराध के लिए वंशानुक्रमण को उत्तरदायी ठहराया है किन्तु अपराध को हम वंशानुक्रमण का ही परिणाम नहीं मान सकते। सामाजिक परिस्थितियाँ भी इसके लिए उत्तरदायी हैं।

शारीरिक अयोग्यता—कुछ विद्वानों ने शारीरिक स्थिति को भी अपराध के लिए उत्तरदायी माना है। राल्फ बाने (Ralf Banay) ने यह बताया कि अपराध और शारीरिक कुरूपता के बीच सम्बन्ध है क्योंकि इससे उनमें हीनता की भावना पैदा होती है जिसकी क्षतिपूर्ति वे अपराध द्वारा करते हैं। साधारणतः यह माना जाता है कि छोटा कद, विकृत त्वचा, मुड़े हुए हाथ और पाँव, बड़े कान, कमजोर दृष्टि, अधिक मोटापा तथा बड़ा सिर उन लोगों में गम्भीर व्यक्तित्व सम्बन्धी अथवा संवेगात्मक कठिनाइयाँ पैदा करते हैं जो कि इनसे ग्रसित होते हैं। उनमें क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त कार्य करता है जिसके परिणामस्वरूप वे अपराध करते हैं।[3]

बीमारी—अधिक समय तक बीमार रहने से व्यक्ति में चिड़चिड़ापन व निराशा पैदा हो जाती है जो कि आगे चलकर अपराध को जन्म देती है। इसी प्रकार से किसी के शरीर में अधिक शक्ति, कमजोरी, शरीर का अत्यधिक विकास

---

1 R. Dugdale, *The Jukes, a Study in Crime, Pauperism and Heredity*, 1877.
2 A. H. Estabrook, *The Jukes*, 1915.
3 "Usually short stature, skin blemish, crippled arms and legs, oversized ears, poor eye sight, abnormal obesity, encephalities cause serious personality or emotional difficulty among those thus afflicted. Compensatory behaviour develops in such a manner that forms of delinquency develop."
—Taft, D. R., *Criminology*, 1959.

और अविकसित अग आदि व्यक्ति में हीन भावना के लिए उत्तरदायी हैं। यह हीन भावना ही व्यक्ति को अपराध की ओर अग्रसर करती है।

II मानसिक कारक—मानसिक कारक भी अपराध के लिए उत्तरदायी हैं :

मन्द बुद्धि—जो व्यक्ति मन्द बुद्धि के होते हैं वे उचित व अनुचित व्यवहार मे भेद नही कर पाते हैं। कई बार व्यक्ति की शारीरिक आयु तो अधिक होती है किन्तु मानसिक आयु कम होती है वे न्यूरोटिक व साइकोपैथिक रोगों से ग्रस्त होते हैं।

भावात्मक अस्थिरता—अत्यधिक भावुक होने पर व्यक्ति शीघ्र ही उत्तेजित हो जाता है और उसमे व्याकुलता पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप वह अपराध करता है।

हीनता की भावना भी व्यक्ति को अपराध के लिए प्रेरित करती है।

भय भी व्यक्ति मे अपराधी भावना उत्पन्न करता है।

मानसिक तनाव और संघर्ष भी व्यक्ति मे असामाजिक व्यवहार उत्पन्न करते हैं।

III. पारिवारिक दशाएँ—परिवार व्यक्ति का समाजीकरण करता है। घर का अनुपयुक्त वातावरण, अपराधी माता-पिता, भाई-बहिन और विघटित परिवार अपराध को जन्म देते हैं। यदि स्त्री-पुरुष में आपसी सहयोग का अभाव है और उनमे मनमुटाव रहता है या तलाक तथा पृथक्करण हो गया है तो इसका बच्चो पर भी कुप्रभाव पडता है। ऐसी स्थिति मे बच्चों का उचित ढग से समाजीकरण नहीं हो पाता और न ही उन्हें आवश्यक सुरक्षा मिल पाती है। कई बार बच्चा माता-पिता, भाई-बहन आदि से भी अपराधी व्यवहार सीखता है। यदि माता-पिता का बच्चों पर पूर्ण नियन्त्रण न हो या उन्हें आवश्यकता से अधिक लाड प्यार से रखा जाता हो ऐसी स्थिति मे बच्चे बिगड़ जाते हैं और अपराध की ओर प्रेरित होते हैं। बच्चे का अत्यधिक तिरस्कार भी उनमे हीनता की भावना उत्पन्न करता है। परिवार ही बच्चों में सामाजिक मूल्यों के प्रति आदर व नैतिकता की भावना पैदा करता है जिसके अभाव में वह अपराध की ओर प्रवृत्त होते हैं।

IV. आर्थिक कारक—आर्थिक कारक और परिस्थितियाँ भी अपराध के लिए उत्तरदायी हैं.

बेकारी के कारण व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताओ को जुटा पाने में असमर्थ रहता है और ऐसी स्थिति में उसमें समाज के प्रति विद्रोह की भावना पैदा होती है। इसे वह अपराध करके प्रकट करता है।

अकाल से भी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह अपराध का सहारा लेता है।

निर्धनता ही चोरी, रिश्वतखोरी, वेश्यावृत्ति आदि अनेक अपराधों को जन्म देती है।

इसी प्रकार से व्यापार चक्र मे आने वाली मन्दी अपराध को बढ़ावा देती है। सन् 1929-32 मे जब विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी आयी थी तो सभी देशों मे अपराध की दरें बढ़ गयी थी।

औद्योगीकरण--वर्तमान मे उत्पादन मशीनों से होने लगा है जिसने नगरीकरण एवं औद्योगीकरण को जन्म दिया है। औद्योगीकरण से पारिवारिक विघटन हुआ है, गतिशीलता बढ़ी है तथा सामाजिक नियन्त्रण मे शिथिलता आयी है। इन सबके परिणामस्वरूप अपराध बढ़े हैं, घेराव, तालाबन्दी, हड़ताल, आगजनी जैसे सामूहिक अपराध पनपे हैं। औद्योगिक बस्तियों मे जुआखोरी, शराबवृत्ति, आदि की प्रवृत्ति बढ़ी है।

V. मनोरंजन—वर्तमान मे मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ है। समाचार-पत्र सनसनीखेज खबरें छापते हैं। अश्लील, उत्तेजक और जासूसी उपन्यास का व्यक्ति के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सिनेमा मे अपराधी को कभी-कभी आकर्षक बना कर या प्रतिष्ठित बनाकर दिखाया जाता है या उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की जाती है। अर्द्धनग्न नायिकाओं के चित्र देखने पर यौन भावनायें भड़कती हैं जो यौन-अपराधों के लिए उत्तरदायी हैं।

VI युद्ध—युद्ध के कारण कई परिवार नष्ट हो जाते हैं, बच्चे एवं स्त्रियाँ अनाथ हो जाते हैं, तथा परिवार मे नियन्त्रण रखने वाला कोई शेष नहीं बचता। अतः बच्चे अपराधी हो जाते हैं एवं स्त्रियाँ भरण-पोषण के लिए वेश्यावृत्ति अपना लेती हैं। पिछले दो महायुद्धों के दौरान विश्व मे अपराध की दरें बढ़ी थी। कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, चोरी छिपे माल ले जाने की प्रवृत्ति आदि मे युद्ध के दिनों मे विशेष वृद्धि होती है।

VII. न्याय एवं पुलिस व्यवस्था—वर्तमान मे न्याय प्राप्त करना बहुत कठिन और महँगा कार्य है। राजनैतिक दल जब अपराधियों को संरक्षण देते हैं तो अन्य लोगों में भी अपराध की भावना पनपती है। पुलिस भी अपराधियों की रोकथाम मे कोई विशेष रुचि नहीं दिखाती, वरन् कई बार तो पुलिस की अपरोक्ष स्वीकृति से ही अपराध होते हैं। जेलों का अनुपयुक्त वातावरण भी कच्चे अपराधी को दक्ष अपराधी बना देता है।

शिक्षा के अभाव ने भी लोगों को अपने उत्तरदायित्व को समझने और उनके पर्याप्त समाजीकरण में बाधा उत्पन्न की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपराध किसी एक ही कारक का परिणाम नहीं वरन् अनेक कारकों का प्रतिफल है।

भारत में अपराध
(CRIME IN INDIA)

भारत में अपराध की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो कुछ मायने मे दूसरे देशों से मिलती-जुलती हैं, तो कुछ मायने में भिन्न। स्त्रियों की तुलना मे पुरुषों द्वारा अपराध अधिक किये जाते हैं। गाँवों की तुलना में शहरों में अपराध अधिक होते

है। बालकों की तुलना में युवकों द्वारा अपराध अधिक किये जाते हैं। भारत में जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ अपराधों में भी वृद्धि हुई है। प्रान्तों में अपराधों की मात्रा का वितरण जनसंख्या के अनुरूप ही है, अर्थात् सबसे अधिक जनसंख्या उत्तर प्रदेश की है, उसके बाद मध्य प्रदेश की, तो सर्वाधिक अपराध भी उत्तर प्रदेश में ही होते हैं, उसके बाद मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, पश्चिमी बंगाल में।

अपराधों की वृद्धि का एक कारण यह भी है कि पहले अधिकांश झगड़े गाँवों में ही जाति-पंचायतों एवं ग्राम-पंचायतों द्वारा सुलझा दिये जाते थे किन्तु अब इनका प्रभाव इस दृष्टि से शिथिल हुआ है और मुकदमों का न्यायालयों में पहुँचना बढ़ गया है। भारत में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रियाओं ने अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में योग दिया है जिससे निराशा और विरोध की दशा पैदा हुई है, जिसने अपराध को प्रेरित किया है। साथ ही हमने विदेशों की नकल की है और इस प्रवृत्ति ने भी अपराधों को बढ़ावा दिया है। बड़े शहरों जैसे मद्रास, बंगलौर, कानपुर, बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, में अन्य शहरों की तुलना में अपराध अधिक होते हैं।

हमारे यहाँ सर्वाधिक अपराध आर्थिक प्रकार के हैं जिनमें चोरी, सेंधमारी तथा डाकाजनी आदि प्रमुख हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ अपराध के लिए आर्थिक कारकों का प्रभाव अधिक है। अधिकांशतः हमारे यहाँ, डाका, लूटमार, हत्याएँ, जमीन के झगड़े, बलात्कार, गुण्डागर्दी, संगठित अपराध, श्वेत-वसन अपराध एवं बाल-अपराधों की संख्या बढ़ी है। प्रत्येक 6-7 अपराधों में एक मामला हत्या और डाकाजनी का होता है। प्रत्येक घण्टे में एक हत्या होती है।[1]

सन् 1968 में राजस्थान में पिछले वर्षों की तुलना में 7·3 प्रतिशत अपराध बढ़े थे। 1967 में 34000 अपराध के मामले पुलिस द्वारा दर्ज किये गये जबकि 1968 में 37000 मामले। इनमें से अधिकांश अपराध डाकाजनी, लूटपाट, हत्या, तोड़-फोड़ तथा चोरी से सम्बन्धित थे। अपराध में इस वृद्धि का कारण अकाल पड़ने से भारी मात्रा में पशुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, औद्योगीकरण की वृद्धि, छात्र असन्तोष तथा केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की हड़ताल आदि हैं।[2] मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश में मानव बलि के अपराध भी हुए हैं।

भारत में भी अपराध के वही कारण हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। फिर भी यहाँ की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अन्य देशों से भिन्न हैं। अतः कुछ मात्रा में यहाँ अपराध-सम्बन्धी कारणों में भिन्नता पाई जाती है। भारत में अपराध के प्रमुख निम्नांकित कारण हैं :

---

1 *The Hindustan Times* New Delhi, June 18, 1971.
2 *Patriot*, New Delhi March 17, 1969

संयुक्त-परिवार प्रथा के ह्रास के कारण पारिवारिक नियन्त्रण मे शिथिलता आती है।

अनमेल विवाह के कारण पति पत्नी के व्यवहारो मे साम्यता नही आ पाती और निराशा अपराध को जन्म देती है। विधवा विवाह के निषेध ने यौन अपराधो मे वृद्धि की है। दहेज प्रथा के कारण आर्थिक और यौन अपराधो मे वृद्धि हुई है। कई सामाजिक प्रथाएँ भी अपराध के लिए उत्तरदायी है, जैसे देवदासी प्रथा, गंगा मे जाने की प्रथा, पर्दा प्रथा, कुलीन विवाह, बहुपत्नी व बहुपति प्रथा, नरबलि, मृत्यु-भोज आदि। विवाह के मूल्यो व आदर्शों मे परिवर्तन के कारण पृथक्करण और तलाकों मे वृद्धि हुई है। इससे स्त्रियो मे भी नियन्त्रण शिथिल हुआ और वे स्वच्छन्द प्रकृति की हुई है तथा अपराधी कार्यों मे भी भाग लेने लगी है।

बढ़ती जनसंख्या ने भी अपराध को जन्म दिया है। अकाल, अतिवृष्टि, गरीबी एव ऋण ने भी अपराधो को जन्म दिया है।

बढ़ते हुए औद्योगीकरण के कारण उद्योग सम्बन्धी नवीन अपराधो ने जन्म लिया है जैसे हड़ताल, तोड़फोड़, तालाबन्दी, आगजनी, घेराव आदि। औद्योगिक शहरो मे जुआखोरी, शराबखोरी एव वेश्यावृत्ति बढ़ी है।

बेकारी के कारण चोरी मे वृद्धि हुई है। कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, चोरी-छुपे माल ले जाने व जखीरेबाजी (hoarding) के अपराध भी बढ़े हैं।

वर्तमान मे साहित्य मे जासूसी उपन्यासो, भड़काने वाली सनसनीखेज खबरो और सस्ती कथाओ, पत्र-पत्रिकाओ आदि ने भी अपराध को बढ़ावा दिया है।

चलचित्रो मे भद्दे, भोंडे, नग्न और अर्द्धनग्न दृश्यो तथा चोरी, डाके व अपराध के दृश्यों ने एवं अश्लील गानो ने भी अपराधो को बढ़ावा दिया है।

बढ़ती शिक्षा ने श्वेतपोश अपराधो मे वृद्धि की है। बढ़ते हुए फैशन एवं अंग-प्रदर्शन ने यौन-अपराधो के लिए उत्तेजना का कार्य किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारा देश एक संक्रमण अवस्था से गुजर रहा है और यहाँ अनेकानेक सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक परिवर्तन घटित हो रहे है जिनके परिणामस्वरूप अपराधो मे वृद्धि हुई है।

दण्ड व्यवस्था
(PUNISHMENT SYSTEM)

अपराधी को अपने किये हुए कार्यों का प्रतिफल मिलना चाहिए जिससे कि अन्य व्यक्ति उस प्रकार के कार्य करने से डरते रहे तथा अपराधी भविष्य मे इस प्रकार के व्यवहारो की पुनरावृत्ति न करें। इसलिए ही समाज व राज्य अपराधो के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। दण्ड नहीं देने से अन्य लोगो मे अपराधी प्रवृत्ति के बढ़ने और कानून तथा न्याय की अवहेलना करने की सम्भावना रहती है। दण्ड द्वारा अपराधी को सुधारने का प्रयास भी किया जाता है। नीमेसिस की मान्यता है कि "दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी के मस्तिष्क मे यह बात बैठाना है कि अच्छे

कार्य के लिए सदैव पुरस्कार मिलता है और बुरे कार्य के लिए उसे उसका वैसा ही फल भुगतना होता है।"[1] कुछ लोग अपराधी को दण्ड देना नैतिक और धार्मिक दृष्टि से उचित मानते हैं।

दण्ड को परिभाषित करते हुए सेठना लिखते हैं :

"दण्ड एक प्रकार की सामाजिक निन्दा है और इसमें आवश्यक नहीं कि पीड़ा या कष्ट सम्मिलित हो।"[2]

अँग्रेजी की कॉनसाइज डिक्शनरी के अनुसार : "दण्ड में दर्द, जुर्माना, ईश्वर, व न्यायानुसार दण्ड, शारीरिक पीड़ा अथवा डाँट-फटकार सम्मिलित है।"[3]

टाफ्ट के अनुसार, "हम दण्ड की परिभाषा उस जागरूक दबाव के रूप में कर सकते हैं जो समाज को शान्ति भंग करने वाले व्यक्ति को अवांछनीय अनुभवों वाला कष्ट देता है। यह कष्ट हमेशा ही उस व्यक्ति के हित में नहीं होता है।"[4]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि दण्ड अपराधी को राज्य या समाज द्वारा दिया जाता है। दण्ड में किसी न किसी प्रकार का कष्ट अवश्य होता है और यह शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक कष्ट के रूप में दिया जा सकता है। दण्ड का उद्देश्य और प्रभाव क्या हो, इस बात को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इसी आधार पर दण्ड के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। मैकन्नल (Mc Connell) ने दण्ड के पाँच सिद्धान्त बताये हैं। हम उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

(1) प्रायश्चित का सिद्धान्त (Theory of Expiation)

यह सिद्धान्त धर्म पर आधारित है। धार्मिक दृष्टिकोण से अपराध पाप है जिसका अपराधी को प्रायश्चित करना चाहिए। दण्ड प्रायश्चित का ही रूप है। हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों और पुराणों में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो इस बात को प्रकट करते हैं कि व्यक्ति ने कोई बुरा कार्य किया और उसके प्रायश्चित स्वरूप उसने दण्ड भुगता। इन्द्र ने गौतम की नारी के साथ दुर्व्यवहार किया तो उसे प्रायश्चित के रूप में दण्ड भुगतना पड़ा। वर्तमान में यह सिद्धान्त किसी भी राज्य द्वारा नहीं अपनाया गया है।

---

1 "The object of punishment is to bring home to the mind of the wrong doer that a good act is always rewarded and a bad one meets its own merited fate." —Nemesis

2 "Punishment is some sort of social censure, and not necessarily the involving or infliction of Physical Pain." —M. J Sethna, *op cit*., p 205.

3 "Punishment involves the infliction of pain or forfeiture, the judicial visitation with a penalty, chastisement or castigation." —Annandale C., *The Large-Type Concise English Dictionary*.

4 "We may define punishment as the conscious infliction upon a disturbing individual of undesired experiences not in the interest of his welfare." —Taft, D R., *Criminology*.

(2) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)

यह सिद्धान्त 'जैसे के साथ तैसा,' 'आँख के बदले आँख' और 'दाँत के बदले दाँत' (Tit for tat, eye for an eye, teeth for teeth) पर आधारित है। इस सिद्धान्त के समर्थक अरस्तू, दार्शनिक काण्ट, स्टीफेन, कोहलर, ग्रीन आदि हैं। यह सिद्धान्त प्राकृतिक नियम और नैतिक न्याय पर आधारित है जो यह विश्वास करता है कि अच्छे कार्य का फल अच्छा और बुरे कार्य का बुरा होता है। दण्ड के द्वारा अपराधियों का सुधार किया जाता है, बदला नहीं लिया जाता। ऐसा माना जाता है कि दण्ड से व्यक्ति के अधिकारों का अपहरण नहीं होता वरन् जो उसने कमाया है वही उसे मिल रहा है।

(3) प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory)

यह सिद्धान्त सुखवादी दर्शन पर आधारित है। इसके समर्थकों में बैकरिया, बेन्थम और जान स्टुअर्ट मिल आदि हैं। सुखवादी दार्शनिकों का मत था कि एक व्यक्ति को इतना दण्ड दिया जाय कि वह अपराध से मिलने वाले सुख की तुलना में अधिक हो ताकि वह भविष्य में अपराध न करे। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड देकर भविष्य में पुनः ऐसा करने से रोकने के साथ-साथ दूसरे लोगों के मन में भी अपराध के लिए भय उत्पन्न करता है। इस प्रकार दण्ड द्वारा भविष्य में होने वाले अपराधों को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। यह सिद्धान्त सही नहीं है क्योंकि दण्ड के भय से अपराध कम नहीं हुए हैं। कई देशों ने मृत्यु-दण्ड समाप्त कर दिया, फिर भी वहाँ अपराधों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई है।

(4) निरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive Theory)

इस सिद्धान्त की मान्यता है कि अपराधियों को अपराध करने से रोका जाय। उसका एक तरीका यह है कि उन्हें समाज से अलग करके कारावास में डाल दिया जाय या फिर प्राण-दण्ड देकर समाप्त ही कर दिया। इस सिद्धान्त को मानने वालों में लोम्ब्रोसो, उनके सहयोगी एवं प्रत्यक्षवादी सम्प्रदाय के विद्वान आते हैं।

(5) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)

उपरोक्त सभी सिद्धान्तों के आधार पर भी जब समाज में अपराध की दरों में कमी नहीं हुई तो वर्तमान में अपराधियों के सुधार पर जोर दिया गया। यह सिद्धान्त वंशानुक्रम को अपराध का कारण नहीं मानता। इस सिद्धान्त को मानने वाले अपराध को एक रोग समझते हैं जिसे उचित उपचार द्वारा ठीक किया जा सकता है। अतः अपराधियों के सामाजिक वातावरण को सुधारा जाय, उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाय तथा उन्हें पुनः देश का सुनागरिक बनाया जाय। इस सिद्धान्त के कारण ही वर्तमान में अनेक देशों ने मृत्यु-दण्ड समाप्त कर दिया है और अपराधियों को जेल में विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाने लगा है।

अपराधों की रोकथाम
(PREVENTION OF CRIME)

समाज अपने को अपराधों से मुक्त कैसे रख सकता है, यह उसके सामने एक बड़ी समस्या रही है। इसके लिए समय-समय पर अनेक उपाय किये गये हैं। प्रारम्भ से ही दण्ड की व्यवस्था द्वारा अपराध रोकने का प्रयास किया गया है। जेल प्रणाली, परिवीक्षा और पैरोल तथा उत्तर संरक्षण सेवाओं आदि के माध्यम से इस दिशा में प्रयत्न किये गये हैं। दण्ड के बारे में ऊपर विचार किया जा चुका है। अत: हम जेल व्यवस्था, परिवीक्षा, पैरोल तथा उत्तर संरक्षण सेवाओं का उल्लेख करेंगे।

जेल व्यवस्था (Jail System)

जेल एक ऐसा स्थान है जहाँ अपराधी को समाज से पृथक् रखा जाता और उसमें अपराध के प्रति पश्चाताप की भावना पैदा की जाती है। उसे यह महसूस करने का अवसर प्रदान किया जाता है कि जिस समाज को उसने हानि पहुँचाई है, उसके नियमों की अवहेलना करने पर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। अपराधियों को जेल में रखकर उनमें सुधार किया जाता है तथा समाज ऐसे व्यक्तियों को उनकी त्रुटि के कारण कहीं समाप्त न कर दे, इसलिए उनकी रक्षा भी की जाती है।

प्राचीन समय में जेलें अँधेरी कोठरियाँ हुआ करती थीं। वहाँ का वातावरण अस्वास्थ्यकर होता था। उस समय लिंग, आयु और अपराध की प्रकृति के आधार पर अलग-अलग जेलों की व्यवस्था नहीं थी। वहाँ अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था तथा खाने-पीने की उचित व्यवस्था नहीं थी। अंग्रेजों के काल में लार्ड मैकाले प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने जेलों में व्याप्त अव्यवस्था की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया और सन् 1838 में प्रथम जेल सुधार समिति का निर्माण किया। सन् 1862 में द्वितीय जेल सुधार समिति बनी। उसके बाद समय-समय पर इस प्रकार की समितियों का गठन किया जाता रहा। 1919 20 में भारतीय बन्दीगृह समिति का निर्माण किया गया जिसने अनेक सुधारों की सिफारिश की जैसे—बन्दीगृहों की देखभाल प्रशिक्षित अधिकारी करें, बन्दियों को चिकित्सा की सुविधाएँ दी जायें, उन्हें कोड़ों की सजा न दी जाय, पत्र लिखने और सम्बन्धियों से मिलने की छूट दी जाय, पौष्टिक आहार दिया जाय, पढ़ने-लिखने की सुविधा दी जाये तथा पैरोल पर छोड़ने एवं अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार अलग-अलग रखने आदि की व्यवस्था की जाय।

सन् 1946 में भी जेल सुधार समिति की स्थापना की गयी जिसने अपराधियों का वर्गीकरण बाल अपराधी, युवा अपराधी, महिला अपराधी, आकस्मिक अपराधी एवं मनोवैज्ञानिक व शारीरिक रूप से विकृत अपराधियों के रूप में किया। सन् 1956 में काले पानी की सजा समाप्त कर दी गयी,

वर्तमान में हमारे देश मे चार प्रकार की जेलें पायी जाती हैं : आदर्श जेलें, प्राचीर-विहीन जेलें (Wall-less Prisions), बाल जेलें (Juvenile Jails) तथा अधिक सुरक्षा वाली जेलें।

आदर्श जेलों मे उन्हीं अपराधियो को रखा जाता है जिनकी सजा की अवधि लम्बी हो, जिन अपराधियो की आयु 21 से 25 वर्ष के बीच हो तथा जिनका स्वास्थ्य और व्यवहार उपयुक्त हो। इन जेलो मे अपराधियो की पचायतें होती है जो उनके भोजन, सफाई और नियन्त्रण का कार्य करती हैं। ऐसे बन्दीगृह सभी राज्यो मे हैं। राजस्थान मे अजमेर मे आदर्श जेल है। इन जेलो मे कैण्टीन पुस्तकालय, अस्पताल व शिक्षा की सुविधाएँ होती हैं। इनमें कृषि व अन्य व्यवसायो का प्रशिक्षण दिया जाता है।

प्राचीर-विहीन जेलें—डा० सम्पूर्णानन्द के सुप्रयासों के परिणामस्वरूप सन् 1952-53 मे चन्द्रप्रभा नदी पर अपराधियो का एक शिविर लगाया गया जिसमें उनके भोजन, वस्त्र, शिक्षा और मनोरजन की व्यवस्था की गयी। ऐसे शिविरो में अपराधियो को बन्दी बनाकर नहीं रखा जाता है और न ही उनके लिए चौकीदारी की व्यवस्था की जाती है। वे अपने परिवार को भी वहाँ अपने साथ रख सकते हैं। ये अपराधी पैसा कमाकर अपना खर्च चलाते हैं। ऐसे शिविरो मे केवल उन्हीं अपराधियो को रखा जाता है जिनकी आयु 21 से 50 वर्ष के बीच हो तथा जिनकी सजा की अवधि नौ माह से कम न हो और जो अधिकांश सजा भुगत चुके हों एव साथ ही जो अच्छे आचरण का प्रमाण देते हो। ऐसी जेलों का उद्देश्य अपराधी में आत्म निर्भरता और उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना है। राजस्थान मे इस प्रकार की तीन जेलें दुर्गापुर, सांगानेर एवं अनूपगढ़ में हैं।

बाल बन्दीगृह—इन बन्दीगृहों मे बाल-अपराधियो को रखा जाता है तथा उनका मानसिक विश्लेषण करके सुधार का प्रयास किया जाता है। उत्तर प्रदेश मे इस प्रकार के कई बन्दीगृह हैं जो आगरा, बरेली, नैनी, बनारस, लखनऊ, फतहगढ़ और अन्य स्थानों पर स्थित हैं। सजा की अवधि एव उनमे निवास की क्षमता के आधार पर इन जेलों को विभिन्न भागो मे बाँटा गया है।

अधिक सुरक्षा वाली जेलें—इनमे उन अपराधियो को रखा जाता है जो दण्ड भुगत रहे हैं और जिनके विरुद्ध अदालतों मे मुकदमे चल रहे हैं। ऐसे अपराधियो को यहाँ कृषि कार्यों, निवाड़ व दरी बनाने, सुपारी एवं सुहारी आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। इन जेलों मे बन्दियों को काम के बदले पैसे देने का प्रावधान भी है।

परिवीक्षा (Probation)

परिवीक्षा मे अपराधी को सजा के बदले सशर्त मुक्त कर दिया जाता है और उससे अपेक्षा की जाती है कि वह परिवीक्षा में अपना आचरण उत्तम रखेगा। इलियट

के अनुसार, "परिवीक्षा इस प्रकार, दंड देने वाली संस्था से इस शर्त पर कि अपराधी अच्छा व्यवहार करेगा, मुक्ति मिलने को कहते हैं।"[1]

सदरलैंड के अनुसार, "परिवीक्षा दण्डनीय ठहराये गये अपराधी की उस समय की अवस्था है जिसमें अपराधी की सज़ा को मुअत्तिल करा दिया गया है और जिसमें *अच्छा व्यवहार बनाये रखने की शर्तों के साथ अपराधी को स्वतन्त्रता दे दी जाती है।* इसके साथ ही राज्य अपने व्यक्तिगत निरीक्षण के द्वारा अपराधी को अच्छा व्यवहार बनाये रखने में सहायता देने का प्रयास करता है।"[2]

इस प्रकार प्रथम अपराधी को दण्ड के बजाय परिवीक्षा पर छोड़ा जाता है। दण्ड सुनाने के बाद ही परिवीक्षा पर छोड़ा जाता है। छूटने से पूर्व उसे परिवीक्षा काल में उत्तम आचरण रखने का प्रमाण पत्र देना होता है। अपराधी को सरकार की ओर से निर्देशन एवं सहायता प्रदान की जाती है जिससे कि वह समाज के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके। परिवीक्षा अधिकारी सरकार की ओर से परिवीक्षा पर छोड़े गये अपराधियों की देख-रेख करता है। वही अपराधी की छानबीन कर प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। भारत में सन् 1888 में अपराधियों को परिवीक्षा पर छोड़ने की *व्यवस्था की गयी थी। सन् 1958 में भारत सरकार ने परिवीक्षा अधिनियम पास* किया जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों ने अलग-अलग अधिनियम पारित किये। अलग-अलग राज्यों में परिवीक्षा को कल्याण विभाग व कानून विभाग से सम्बन्धित किया गया है। सन् 1967 से ही राजस्थान में प्रत्येक जिले में एक परिवीक्षा अधिकारी की नियुक्ति की गयी है। साधारणतः समाज कल्याण अधिकारी ही परिवीक्षा का कार्य सँभालते हैं।

परिवीक्षा पर छोड़ने से अनेक लाभ होते हैं। अपराधी की मनोवृत्ति में परि*वर्तन होता है और उसे भविष्य में समाज-विरोधी कार्य न करने को प्रोत्साहन मिलता* है। वह जेल के दूषित वातावरण से बच जाता है। उसमें अनुशासन की भावना उत्पन्न होती है। साथ ही इससे राज्य को आर्थिक लाभ भी होता है क्योंकि जेल में रखने पर उस पर खर्चा होता है जो परिवीक्षा पर छोड़ने से बच जाता है।

कुछ लोग यह आशंका व्यक्त करते हैं कि अपराधी जिस पर्यावरण की देन है, परिवीक्षा पर छोड़ने से वह पुनः उसी पर्यावरण में चला जाता है। *अतः उसके सुधरने* की आशा नहीं की जा सकती।

---

1 "Probation is thus the conditional release from commitment to a penal institution, contingent upon good behaviour."
—Elliot, *Crime in Modern Society*, p. 531.

2 "Probation is the status of a convicted offender during a period of suspension of the sentence in which he is given liberty conditioned on his good behaviour and in which the state by personal supervision attempts to assist him to maintain good behaviour."
—Sutherland, E. H. & Cressey, D. R., *Principles of Criminology*, p. 442.

पैरोल (Parole)

पैरोल पर उन अपराधियों को छोड़ा जाता है जिन्हें लम्बी अवधि की सजा मिली हो और उसका कुछ भाग वे काट चुके हों। सजा काटने के दौरान यदि अपराधी का आचरण अच्छा रहता है तो अधिकारी की सिफारिश पर उसे शेष सजा से मुक्ति मिल जाती है। पैरोल की परिभाषा करते हुए इलियट लिखते हैं, "पैरोल अपराधी के कारागार या सुधारालय से उसकी समयावधि से पूर्व ही मुक्ति को कहते हैं, ऐसा पैरोल अधिकारी की सिफारिश पर होता है।"[2]

पैरोल का उद्देश्य भी अपराधी का सुधार करना है। पैरोल पर छूटने वाले से अपेक्षा की जाती है कि वह कुछ शर्तों का पालन करेगा। ऐसा न करने पर उसे पुन: दण्ड भुगतने को कहा जाता है। पैरोली की देखभाल के लिए पैरोल अधिकारी होता है। पैरोल से भी राज्य के खर्च में कमी आती है तथा अच्छे आचरण को बढ़ावा मिलता है। जेल के दूषित वातावरण से अपराधी को शीघ्र मुक्ति मिल जाती है और उसे समाज से सामंजस्य करने का एक अवसर मिल पाता है।

परिवीक्षा व पैरोल में यह अन्तर है कि :

(i) परिवीक्षा पर प्रथम अपराधी को छोड़ा जाता है जबकि पैरोल में अपराधी को सजा का कुछ भाग काटना होता है।

(ii) परिवीक्षा में दण्ड नहीं दिया जाता है जबकि पैरोल में दण्ड दिया जाता है।

(iii) परिवीक्षा न्यायालय द्वारा स्वीकृत किया जाता है जबकि पैरोल एक प्रशासकीय इकाई द्वारा।

(iv) परिवीक्षा में दण्ड की भावना कम व सुधार की भावना अधिक होती है जबकि पैरोल में दण्ड का तत्व प्रमुख रूप से पाया जाता है।

उत्तर-सरक्षण सेवाएं (After-Care Services)

उत्तर सरक्षण सेवाओं का सम्बन्ध अपराधी के जेल से छूटने के बाद के जीवन से है। जेल से छूटने के बाद अपराधी के सामने यह समस्या आती है कि वह क्या करे? परिवार, समुदाय और समाज में उचित स्थान कैसे प्राप्त करे? जब एक अपराधी जेल से छूटने के बाद समाज के साथ सामंजस्य नहीं कर पाता और समाज उसे स्वीकार नहीं करता है तो वह पुनः अपराध करता है। अपराधी को सामाजिक, मानसिक और आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से ही उत्तर-सरक्षण सेवाएं प्रारम्भ की गयी हैं। इन सेवाओं के पीछे यह भावना होती है कि अपराधी को एक रोगी की तरह समझा जाय और उसका इस प्रकार से उपचार

---

[2] "Parole may be defined as the conditional release of prisoner from a prison or reformatory prior to the expiration of his sentence, on the recommendations of parole authority." —Elliot, *op. cit.*, p 729.

किया जाय कि वह पुनः अपराध की ओर प्रवृत्त न हो। जेल से छूटने के बाद वह देखता है कि वह दुनिया जिसमे वह जेल मे जाने से पहले रहता था बहुत बदल गई है और उसे वह सम्मान नही मिल पा रहा है जो कभी मिला करता था। अब लोग उसकी ओर उँगली उठाते हैं, ताने देते हैं और उससे घृणा करते हैं। वह उत्तेजित हो उठता है और पुन अपराध करने लगता है। अपराधी को इस प्रकार की मनःस्थिति से छुटकारा दिलाना, उसे आर्थिक सरक्षण देना और पुन समाज का योग्य नागरिक बनाने के लिए योजनाबद्ध कार्य करना उत्तर-सरक्षण सेवाओं का मूल उद्देश्य है। उत्तर-सरक्षण सेवाओ मे अपराधी की सहायता की जाती है जिससे वह स्वय अपनी सहायता कर सके। साथ ही उसके पुनर्वास का कार्य भी किया जाता है।

भारत मे गैर-सरकारी तौर पर उत्तर-सरक्षण सेवा का कार्य सन् 1894 में उत्तर प्रदेश मे प्रारम्भ हुआ। हमारे यहाँ अधिकांशतः उत्तर-सरक्षण सेवा का कार्य गैर-सरकारी सस्थाओं द्वारा ही किया जा रहा है क्योकि सरकार ने इस ओर विशेष रुचि नही दिखाई है। मद्रास मे ऐसी अनेक सस्थाएँ हैं जो इस प्रकार की सेवा में रत हैं, जैसे—मद्रास बन्दी मुक्ति सहायता समाज, आर्कोट बन्दी मुक्ति सहायता समाज आदि। इसके अतिरिक्त बेलार, चित्तूर, कोयम्बटूर, गोदावरी, कोरापुट, मालाबार, त्रिचनापल्ली आदि स्थानों पर भी इस प्रकार की समितियाँ बनी हुई हैं। बम्बई में सन् 1946 से बम्बई प्रदेश मुक्ति बन्दी समिति कार्य कर रही है। राजस्थान मे इस प्रकार की सेवायें नहीं हैं।

सन् 1954 में भारत सरकार ने उत्तर सरक्षण सेवाओं के सम्बन्ध में सिफारिश करने हेतु डॉ॰ एम॰ एस॰ गोरे की अध्यक्षता मे एक समिति स्थापित की जिसे न केवल अपराधियों के लिए वरन् भिखारियों, अनाथों, विधवाओं, रोगियों और अपाहिज लोगों के सरक्षण के लिए भी सुझाव देने कार्य सौंपा गया। इस समिति ने कई सुझाव दिये जैसे अपराधियों के जेल से छूटने के बाद नौकरी के लिए आवेदन पत्र दिलाना, उन्हें नौकरी दिलाना, रोजगार के लिए अवसर देना और ऋण देना तथा उद्योग-धन्धे खुलवाना आदि। साथ ही यह भी सिफारिश की गई कि ऐसे अपराधियों के लिए उत्तर-सरक्षण होस्टल खोले जायँ, उन्हें कानूनी सहायता प्रदान की जाय तथा भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शन, परामर्श व रक्षा की सुविधायें दी जायें केन्द्रीय व प्रान्तीय स्तर पर भिन्न-भिन्न समितियों की व्यवस्था की जाय जो सरक्षण सेवाओं की देख-रेख और व्यवस्था करे।

अपराध-निरोध के लिए दण्ड, जेल, परिवीक्षा एवं पैरोल तथा उत्तर-सरक्षण सेवाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य सुझाव इस प्रकार से दिये जा सकते हैं : प्रभावपूर्ण कानूनों का निर्माण किया जाय, अपराधियों पर अनुसधान किया जाय व अपराध के सही कारणों की खोज की जाय ताकि उन्हें दूर करके अपराध को कम किया जा

है। पूर्व-बाल अपराधियों का पता लगाया जाय तथा अपराधियों के पुनर्वास की वस्था की जाय जिसमें निर्देशन कार्य भी सम्मिलित किया जाय। स्कूलों के वाता-रण में सुधार किया जाय, बालकों के चारित्रिक गठन का प्रयत्न किया जाय और उनके व्यक्तित्व के विकास के पूर्ण प्रयास किए जायें। यदि बालक को परिवार, पड़ोस, ...न और अन्य समूहों में वातावरण मिल सके तो कोई कारण नहीं कि वह अपराध की ओर प्रवृत्त हो। अपराध-निरोध की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि लोगों को इस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायें कि वे न केवल अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकें, बल्कि आरामदायक जीवन बिता सकें। यह सब ...ठ उसी समय सम्भव है जबकि देश का समग्र रूप से विकास हो।

प्रश्न

1. अपराध क्या है? अपराध की सामाजिक और कानूनी अवधारणा में क्या अन्तर है?
2. अपराध के विभिन्न कारकों की व्याख्या कीजिए?
3. अपराध के समाजशास्त्रीय कारक समझाइए।
4. अपराध के कारणों सम्बन्धी किसी एक प्रमुख कारक की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
5. अपराध क्या है? इसके विभिन्न प्रकार बताइए।
6. अपराधी किसे कहा जाता है? अपराधियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है?
7. अपराध में पर्यावरण के कार्य को स्पष्ट कीजिए।
8. 'अपराध एक भयानक रूप से समाज विरोधी व्यवहार है।' इसे सविस्तार स्पष्ट कीजिए और अपराध क्या है, यह समझाइए।
9. अपराध की परिभाषा स्पष्ट कीजिए एवं इसके विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
10. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए:
    (अ) पेशेवर अपराधी,
    (ब) सगठित अपराध,
    (स) प्रथम बार अपराध करने वाला अपराधी,
    (द) जघन्य अपराध।

3

बाल-अपराध
(JUVENILE DELINQUENCY)

बाल-अपराध सामाजिक और वैयक्तिक विघटन का परिणाम है। हा ही मे बाल-अपराध विज्ञान एक अलग विज्ञान के रूप मे प्रारम्भ हुआ है। यह समाज विज्ञान की वह शाखा है जो बच्चों के समाज-विरोधी व्यवहार का अध्ययन कर है।[1] बच्चो मे नटखटपन एक सार्वभौमिक तथ्य है। किन्तु जब यह नटखटपन समा की मान्यताओं को भग करने लगता है तो वह बाल-अपराध के नाम से जाना जात है।[2] बाल-अपराध की समस्या कोई पृथक् समस्या नही वरन् यह सामाजि परिवर्तन और समाज मे असामजस्य (mal adjustment) का ही परिणाम है पश्चिमी देशो मे औद्योगीकरण के प्रभाव से सामाजिक सरचना एव सामाजिक मूल्य में परिवर्तन आ रहे हैं। परिणामस्वरूप वहाँ बाल-अपराधो की समस्या उत्पन्न हु है। भारतीय समाज मे ग्रामीण विशेषताएँ व्याप्त हैं और इसे अपनी परम्पराओ घनिष्ट लगाव है। अत: यहाँ बाल-अपराध की भीषण समस्या नही है। किन्तु अ शहरो के विकास एव ग्रामीण जनता का शहरों की ओर आगमन तथा सयुक्त परिवा के विघटन से नियन्त्रण में शिथिलता आई है एव पडोस का प्रभाव भी क्षीण हुअ है। कुछ समय पूर्व तक परिवार द्वारा प्राप्त सामाजिक और आर्थिक सहायता अतिरिक्त जो मानसिक सुरक्षा मिलती थी वह अब कम होती जा रही है। आर्थिक अभावों के कारण बच्चो की उचित देख-रेख नही हो पाती और उचित समाजीकरण के अभाव में बच्चा समाज विरोधी हो जाता है। बच्चे कोमल पौधे की तरह हैं जिनका सफलतापूर्वक फलना एव फूलना नाजुक पालन-पोषण पर निर्भर करता है।[3] कुछ समय पूर्व तक युवा-अपराधियो और बाल-अपराधियों मे कोई भेद नहीं किया जाता था और दोनो को समान रूप से दण्डित किया जाता था। प्राचीन मौलिक

---

1 "It may be defined as that branch of social science which studies the ant social behaviour of children "
—Sushil Chandra, *Juvenile Delinquency in India* by Kr R S Singh, p

2 "Crime may be rare, but naughtiness is universal" —Burt, *Young Delinquent*

3 "Children are as tender plants whose successful blooming depends on delicat cultivation "
—Jones, *Juvenile Delinquency and the Law*, p

नियमों (Mosaic laws) में ऐसे पुत्र को जो माता-पिता का कहना नहीं मानता या अनादर करता था, मौत की सजा दी जाती थी। सन् 1833 में इंगलैंड में एक बच्चे को दो पेन्स की चित्रकारी चुराने के अपराध में फाँसी की सजा दी गई।[1] उस समय के कानून के संरक्षक व निर्माता समाज रक्षा के लिए इस प्रकार के दण्ड को आवश्यक मानते थे। किन्तु वर्तमान में अपराधी बच्चे को दण्ड न देकर उसका सुधार एवं पुनर्वास किया जाता है क्योंकि इसके अभाव में बाल-अपराधी ही आगे चलकर युवा अपराधी बनते हैं। हम यहाँ बाल-अपराध की परिभाषा, कारण और उन्हें सुधारने के विभिन्न उपायों का उल्लेख करेंगे।

बाल-अपराध—परिभाषा और अर्थ
(JUVENILE DELINQUENCY—DEFINITION AND MEANING)

जब किसी बच्चे द्वारा कोई कानून विरोधी या समाज विरोधी कार्य किया जाता है तो उसे बाल-अपराध कहते हैं। इंगलैंड के न्यायवेत्ताओं ने अपराध के सम्बन्ध में एक कहावत को जन्म दिया : *'Non estrants insimens sit rea.'* (*i. e.*, nobody can be convicted as guilty unless it can be proved that he has a guilty mind.) जिसका अर्थ है—किसी भी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि उसका अपराधी इरादा था। एक और कहावत यह भी प्रचलित है *'annu pubertatis.'* (*i. e*, unless a person has attained the age of fourteen years, the law could not presume that he acted with criminal intent) अर्थात् जब तक कोई व्यक्ति चौदह वर्ष की आयु नहीं प्राप्त कर लेता तब तक कानून यह नहीं मानेगा कि उसने अपराधी इरादे से व्यवहार किया। जब तक बच्चे में अच्छे-बुरे के बोध भेद करने की भावना नहीं आ जाती, उसके द्वारा किया गया समाज विरोधी कार्य अपराध नहीं कहलायेगा। बाल-अपराध का निर्धारण करने में आयु भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है। भिन्न-भिन्न देशों में बाल-अपराधियों के लिए अलग-अलग आयु निर्धारित की गई है। अधिकांश देशों में 7 वर्ष से कम की आयु के बालक द्वारा किया गया कानून व समाज-विरोधी कार्य अपराध नहीं माना गया है क्योंकि इस समय तक बालक में अच्छे बुरे के भेद की समझ उत्पन्न नहीं होती है। बाल-अपराध की अधिकतम आयु 18 से लेकर 20 वर्ष तक है। इसके बाद की आयु वाले व्यक्ति द्वारा किया गया समाज-विरोधी कार्य युवा अपराध में गिना जाता है। किन्तु समाजशास्त्री आयु को अधिक महत्व नहीं देते क्योंकि व्यक्ति की मानसिक एवं सामाजिक परिपक्वता सदा ही आयु से प्रभावित नहीं होती। अतः कुछ विद्वान, बालक द्वारा प्रकट व्यवहार की प्रवृत्ति को बाल-अपराध के लिए आधार मानते हैं, जैसे आवारागर्दी करना, स्कूल से अनुपस्थित रहना, माता-पिता एवं संरक्षकों की आज्ञा न मानना,

1 Quoted by Calvert, *Capital Punishment in the 20th Century*, p. 5.

अश्लील भाषा का प्रयोग करना, वेश्याओं, जुआखोरों एवं चरित्रहीन व्यक्तियों से सम्पर्क रखना आदि। किन्तु जब तक कोई अन्य वैध विधि सर्व-सम्मति से स्वीकार न कर ली जाय, तब तक हम आयु को ही बाल-अपराध का निर्धारक आधार मानेंगे। सेठना के अनुसार, "बाल-अपराध के अन्तर्गत किसी बालक या ऐसे तरुण व्यक्ति के गलत कार्य आते हैं जोकि सम्बन्धित स्थान के कानून -(जो उस समय लागू हो) के द्वारा निर्दिष्ट आयु सीमा के अन्दर आते हों।"[1] रॉबिसन ने बाल-अपराध में "आवारागर्दी और भीख माँगना, दुर्व्यवहार, बुरे इरादे से शैतानी करना और उद्दण्डता को सम्मिलित किया है।"[2]

सिरिल बर्ट का कहना है—"तकनीकी दृष्टि से एक बालक को उस समय अपराधी माना जाता है जब उसकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ इतनी गम्भीर दिखायी दें कि उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही की जाती है या की जानी चाहिये।"[3]

मावरर ने बाल-अपराधी को परिभाषित करते हुए लिखा है—"वह व्यक्ति जो जान-बूझकर इरादे के साथ तथा समझते हुए उस समाज की रूढ़ियों की उपेक्षा करता है जिससे उसका सम्बन्ध है।"[4]

अमेरिका की राष्ट्रीय परिवीक्षा समिति ने बाल-अपराधी ऐसे व्यक्ति को कहा है जो (i) राज्य के कानून, ऑर्डिनेन्स या राज्य के उपखण्ड के नियमों की अवहेलना करता है। (ii) जो आदतन आज्ञाओं को न मानने वाला हो और अपने माता-पिता एवं संरक्षक आदि के नियन्त्रण में न हो। (iii) जो स्कूल एवं घर से भागने का आदी हो। (iv) जो स्वयं की और दूसरों की नैतिकता एवं स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता हो।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राज्य द्वारा निर्धारित आयु समूह के बच्चे द्वारा किया गया कानून विरोधी कार्य बाल-अपराध है। प्रत्येक देश में आयु सीमा भिन्न भिन्न होने के कारण बाल-अपराधियों की संख्या में भी अन्तर पाया जाता है। 19 वर्ष की आयु वाले व्यक्ति द्वारा किया गया कानून-विरोधी कार्य भारत में बाल-अपराध की श्रेणी में नहीं आता क्योंकि हमारे यहाँ 18 वर्ष तक की आयु सीमा के अपराधी को ही बाल अपराधी मानते हैं। जबकि जापान में वही व्यक्ति बाल-

---

1 "Juvenile Delinquency involves wrong-doing by a child or by a young person who is under an age specified by the law (for the time being in force) of the place concerned." —M. J. Sethna, *Society and the Criminal*, p. 315.

2 Delinquency includes "peddling and begging disorderly conduct, malicious mischief and ungovernable behaviour itself a polyglot."
—Robison, S. M., *Can Delinquency be Measured*, p. 205.

3 "A child is to be regarded technically, as a delinquent when his anti-social tendencies appear so grave that he becomes or ought to become the subject of official action." —Cyril Burt, *The Young Delinquent*, p. 15.

4 "Person who knowingly, intentionally and self-consciously violates the mores of the society to which he belongs."
—Mowrer, *Disorganisation—Personal and Social*, p. 102.

5 Quoted by Sutherland, *Principles of Criminology*, p. 306.

अपराधी माना जायेगा क्योंकि वहाँ बाल-अपराधी की अधिकतम आयु सीमा 21 वर्ष है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में बाल-अपराध की अधिकतम आयु सीमा में भी अन्तर पाया जाता है।

बाल अपराधी कौन ?
(WHO IS A JUVENILE DELINQUENT ?)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाल-अपराधी युवा-अपराधी से आयु-सीमा और व्यवहार की प्रकृति में पर्याप्त भिन्नता रखता है। सदरलैंड ने बाल अपराधी की विशेषताएँ इस प्रकार से बताई हैं :[1]

(1) जो किसी कानून या धारा का उल्लंघन करे।

(2) जो आदतन रूप से स्कूल से भागता है।

(3) जो जान बूझकर चोरों, दुश्चरित्रों तथा अनैतिक व्यक्तियों की संगति करता है।

(4) जो सुधार से परे है।

(5) जो अपने संरक्षकों अथवा माता-पिता के नियन्त्रण से बाहर है।

(6) जो सुस्ती या अपराध प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है।

(7) जो अपने को इतना बिगाड़ता है कि अपने को या दूसरों को नुकसान या चोट पहुँचाता है।

(8) जो ऐसे लोगों के घर जाता है जिसकी समाज में निम्न प्रतिष्ठा है।

(9) जो सार्वजनिक स्थानों में आदतन रूप से नीच, फूहड़ तथा गँवार भाषा का प्रयोग करता है।

(10) जो आदतन रूप से रेल्वे स्टेशन पर घूमता है।

(11) जो सार्वजनिक स्थानों या स्कूल में अनैतिक व्यवहार करता है।

(12) जो अपने को अवैध व्यवसायों में लगाये हुए है।

(13) जो धूम्रपान करता है।

(14) जो कानून द्वारा निषिद्ध स्थानों पर जाता है और जिसके लिए दण्ड की व्यवस्था है।

(15) जो नशीली दवाओं का सेवन करता है और शराब पीता है।

(16) जो भीख माँगता है।

(17) जो यौन अनैतिकता में भाग लेता है।

(18) जो आवारा है।

(19) जो टालमटोल करता है।

(20) जो गलियों व फुटपाथों पर लेटता है।

---

1 Quoted by Neumeyer, M. H., *Juvenile Delinquency in Modern Society*, 1955, p. 24.

(21) जो बिना अनुमति के और कानून का उल्लंघन करके विवाह करता है।

ससमैन ने इन विशेषताओं में आयु को सम्मिलित नहीं किया है जबकि कानूनी रूप में राज्य द्वारा निर्धारित आयु ही व्यक्ति को बाल या युवा अपराधी की श्रेणी में रखती है।

अपराध और बाल-अपराध में अन्तर
(DIFFERENCE BETWEEN CRIME AND DELINQUENCY)

बाल-अपराध और अपराध दोनों में ही समाज और राज्य के प्रचलित नियमों का उल्लंघन होता है फिर भी इन दोनों में अन्तर है :

(i) बाल-अपराध कम आयु के बालकों (अधिकांशत 7 वर्ष से लेकर 20 वर्ष तक) द्वारा किया जाता है जबकि अपराध युवा व्यक्ति (अधिकांशतः 20 वर्ष या उससे ऊपर की आयु के व्यक्ति) द्वारा।

(ii) बाल-अपराध युवा अपराध के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। बाल-अपराधी ही आगे चलकर अपराधी बनते हैं।

(iii) बाल-अपराधी कोमल मस्तिष्क के कारण अपराध की गम्भीरता को पूरी तरह से नहीं समझ पाते जबकि युवा अपराधी अपराध के परिणामों को भली-भाँति समझते हैं।

(iv) बाल-अपराधी का सुधार सरल एवं सम्भव है क्योंकि बच्चे के अपरिपक्व मस्तिष्क को किसी भी दिशा में मोड़ना सरल है जबकि युवा अपराध में सुधार की सम्भावना कम होती है।

(v) बाल-अपराधी को दंड के स्थान पर सुधारालय भेजा जाता है जबकि अपराधी को उसके अपराध की प्रकृति के अनुसार दंड दिया जाता है।

(vi) बाल-अपराधी में अपराध के कारणों को ढूँढ़ना सरल है क्योंकि उसने अपराधी कार्य प्रारम्भ ही किया होता है। जबकि अपराध में कारणों का पता लगाना अपेक्षतया कठिन कार्य है क्योंकि उसके पीछे एक लम्बा इतिहास होता है।

(vii) बाल-अपराधियों एवं युवा-अपराधियों द्वारा किये गये अपराधों की प्रकृति, प्रकार और मात्रा में भी अन्तर होता है।

(viii) कभी-कभी युवा-अपराधी संगठित अपराध या व्यावसायिक अपराध में बाल-अपराधियों का सहारा लेते हैं। इस तरह से युवा-अपराधी बाल-अपराधियों को प्रशिक्षण देते हैं जबकि सामान्यत कोई भी युवा-अपराधी बाल-अपराधी से अपराध का प्रशिक्षण नहीं लेता।

(ix) कोहन की मान्यता है कि बाल-अपराध में अनुपयोगिता की मात्रा अधिक होती है अर्थात् बच्चा सदा ही किसी लाभ के लिए अपराध नहीं करता वरन् अज्ञानता के कारण भी करता है जैसे बच्चे द्वारा किसी कक्षा के छात्र की पुस्तक चुरा कर फाड़ देना। इस कार्य से उसे लाभ प्राप्त नहीं होता है।

(x) कई बच्चों द्वारा हँसी-मजाक या द्वेष के कारण ऐसे कार्य कर लिये

जाते हैं जो अपराध की श्रेणी में आते हैं जैसे पत्थर फेंकने पर किसी के चोट लगना या किसी वस्तु का टूट जाना।

भारत में बाल-अपराध
(JUVENILE DELINQUENCY IN INDIA)

भारत मे बाल-अपराध सम्बन्धी आँकड़ो मे अनेक कमियाँ हैं। कई बार बाल-अपराधियो के अपराध पुलिस मे दर्ज नही कराये जाते। समाज के समृद्ध एव धनी लोगो के बच्चो द्वारा किये गये अपराधो का भी साधारणत उल्लेख नहीं किया जाता क्योकि उन्हें आवश्यक संरक्षण प्राप्त है जबकि गरीबो के बच्चो को छोटे-छोटे अपराधों पर भी दण्डित किया जाता है। बाल अपराध के अनुपयुक्त आँकड़ो के लिए पुलिस की अपराधियो को पकड़ने मे अरुचि, उनका अनुपयुक्त प्रशिक्षण, असमता एव जनता द्वारा सहयोग का अभाव आदि भी उत्तरदायी हैं। अत जितने मुकदमे दर्ज किये जाते हैं, बाल-अपराध की संख्या साधारणत उनमे कई गुना अधिक होती है। विभिन्न स्रोतों द्वारा संकलित आँकड़ों एव न्यायालयो के आँकड़ो मे भी अन्तर है। भारत मे विभिन्न प्रान्तो मे कल्याणकारी कार्यक्रमो की भिन्नता, राज्यो के पास आँकड़े-संकलन की अपूर्ण सुविधाएँ एव प्रशासन द्वारा बाल-कल्याण मे पूर्ण रुचि का अभाव आदि भी बाल-अपराध सम्बन्धी आँकड़ो की अपर्याप्तता के लिए उत्तरदायी हैं। भारत मे बाल-अपराध की निम्नांकित विशेषताएँ हैं -

(1) गाँवों की तुलना मे बाल-अपराध शहरों मे अधिक होते हैं। शहरी क्षेत्रों मे भी बड़े-बड़े शहर जैसे दिल्ली, मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, चंडीगढ़, कानपुर आदि मे बाल-अपराध अधिक होते हैं।

(2) लड़कों में लड़कियों की तुलना मे अपराध अधिक पाये जाते हैं। सन् 1967 मे कुल बाल-अपराधों की संख्या 72,109 थी जिसमे से 66,719 लड़कों द्वारा एवं 5,390 अपराध लड़कियो द्वारा किये गये थे।[1] हंसा सेठ के बम्बई राज्य के अध्ययन मे 91·2% अपराध लड़को द्वारा किये गये थे।[2] रटनशा के पूना के अध्ययन मे लड़के व लड़कियो के अपराध का अनुपात 16 1 . 1 था। डा० मनशारत के अध्ययन मे यह अनुपात 11 : 1 का था। इस अन्तर का कारण यह है कि भारतीय समाज मे लड़कियो पर परिवार का नियन्त्रण अधिक होता है। लड़कों मे शारीरिक शक्ति की अधिकता, मुक्त वातावरण मे रहने तथा बाह्य जीवन मे भाग लेने के कारण अपराध करने की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है।

(3) सर्वाधिक बाल-अपराध महाराष्ट्र मे और उसके बाद क्रमश. मध्य प्रदेश,

---

1 'दिनमान' साप्ताहिक, टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन, 11 जनवरी, 1970, पृ० 28.

2 Hansa Sheth, *Juvenile Delinquency in Indian Setting*. p. 60.

तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पंजाब व राजस्थान में होते हैं। सबसे कम बाल-अपराध केरल में (0.3%) होते हैं।

(4) भारत में अधिकतर बाल-अपराधों में आर्थिक प्रकृति के अपराध जैसे चोरी, सेंधमारी आदि होते हैं। इसका कारण यहाँ की गरीबी और परिवार की छिन्न-भिन्न अवस्था, गन्दी बस्तियाँ, अकाल, बाढ़, बेकारी आदि हैं। लड़कों द्वारा आर्थिक अपराध अधिक किये जाते हैं जबकि लड़कियों द्वारा यौन सम्बन्धी अपराध। हंसा सेठ के अध्ययन में 86.2% लड़कियों ने यौन अपराध किये थे।[1]

(5) बाल-अपराधी संगठित रूप से अपराध कम करते हैं। वे किसी अपराधी गिरोह के साथ मिलकर ही अपराध करते हैं। यह गिरोह उन्हें प्रशिक्षण एवं संरक्षण प्रदान करता है।

(6) अधिकांश बाल-अपराध 14 से 16 वर्ष की आयु में ही किये जाते हैं। हंसा सेठ के अध्ययन में 14 व 15 वर्ष की आयु में अपराध अधिक किये गये।[2] रटनशा[3] के अध्ययन में 14 वर्ष की आयु में, क्लिफोर्ड मैनशार्ट[4] के अध्ययन में 12 वर्ष के लड़कों एवं 14 वर्ष की लड़कियों ने अधिक अपराध किये थे। डा० मानहीम, फोर्टेस, वेडहट आदि के अध्ययन में भी 13 वर्ष की आयु में, और हीली व ब्रूनर के अध्ययन में 12 से 14 वर्ष की आयु में अपराध अधिक किये गये। यह आयु स्कूल छोड़ने की है। इस समय यौवन आता है और साहसी प्रवृत्ति पैदा होती है तथा बालक नियन्त्रण को तोड़कर मुक्त रहना चाहता है। इसीलिए इस आयु में अपराध अधिक किये जाते हैं।

(7) शिक्षितों की तुलना में अशिक्षित बालकों द्वारा अपराध अधिक किये जाते हैं। हंसा सेठ के अध्ययन में 43.5% बाल-अपराधी अशिक्षित थे, 31.2% लिखना-पढ़ना जानते थे, 9.8% प्राथमिक शिक्षा प्राप्त थे, 1.5% सैकण्ड्री तक पढ़े हुए थे एवं शेष 14% की शिक्षा का पता नहीं था।[5] एस० सी० वर्मा के अध्ययन में कानपुर में 62.67% व लखनऊ में 70% बाल-अपराधी अशिक्षित थे।[6]

बाल-अपराध के कारण
(CAUSES OF JUVENILE DELINQUENCY)

जिस प्रकार अपराध के लिए किसी एक कारण को हम उत्तरदायी नहीं मान सकते, उसी प्रकार बाल-अपराध के लिए भी कारकों का एक समूह उत्तरदायी है। यदि हम किसी एक ही कारक को बाल-अपराध के लिए इंगित करते हैं तो यह

1 *Ibid.*, p. 135
2 *Ibid.*, p. 133
3 Mrs. Ruttonsha, *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, p. 47.
4 Clifford Manshardt, *The Delinquent Child in India*, p. 20.
5 Hansa Sheth, *op. cit.*, p. 140.
6 S. C. Verma, "The social and economic back-ground of Juvenile Delinquency in Lucknow and Kanpur (Ph.D. Dissertation), quoted by Sushil Chandra, *Sociology of Deviation in India*, p. 56.

एक बहुत बड़ी त्रुटि है।[1] किसी भी समस्या को हल करने के लिए उसके कारणों को जानना आवश्यक है जैसा कि टैगोर ने कहा था "यदि हम किसी बुराई के कारणों को जानते हैं तो उसका आधा हल प्राप्त कर लेते हैं।"[2] बाल-अपराध के कारणों को अलग-अलग विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से विभाजित किया है।

न्यूमेयर[3] इन कारणों को 7 भागों में बाँटते हैं :

(i) व्यक्तित्व सम्बन्धी कारक—(अ) प्राणिशास्त्रीय, मानसिक और भावात्मक दशाएँ, (ब) चरित्र और व्यवहार सम्बन्धी लक्षण।

(ii) पारिवारिक दशाएँ।

(iii) सगति।

(iv) सामुदायिक संस्थाओं का प्रभाव।

(v) जनसंख्या सम्बन्धी कारक और सांस्कृतिक भिन्नता।

(vi) आर्थिक और भौतिक पर्यावरण सम्बन्धी कारक।

(vii) अपर्याप्त नियन्त्रण।

इलियट एवं मेरिल[4] ने बाल-अपराध के निम्नांकित कारणों का उल्लेख किया है :

(1) परिवार सम्बन्धी कारण :
- (अ) शारीरिक वंशानुक्रमण
- (ब) अपराधी भाई-बहिन
- (स) माता-पिता द्वारा बच्चों का तिरस्कार
- (द) अनैतिक परिवार
- (य) सामाजिक प्रशिक्षण
- (र) परिवार का आर्थिक स्तर।

(2) व्यक्तिगत कारण :
- (अ) शारीरिक कारण
- (ब) मानसिक कारण
  - (i) मानसिक योग्यता
  - (ii) भावात्मक अस्थिरता और मानसिक संघर्ष

(3) सामुदायिक कारण :
- (अ) मनोरंजन

---

1 "There cannot be a greater blunder in the study of the etiology of crime than to point the finger on an isolated factor and to attribute delinquency to that factor alone." —Kr. R. S Singh, *op cit*, p. 13

2 "The evil is half cured whose cause we know." Tagore, quoted by Kr R. S. Singh, *Ibid.*, p 13.

3 Neumeyer, M. H., *Juvenile Delinquency in Modern Society*, p. 84

4 Elliott and Merrill, *Social Disorganisation*, Chap. V, *Juvenile Delinquency*, pp. 64-80.

किशोर अपराध के कारण

- **वातावरण सम्बन्धी**
  - (1) निर्धनता
    - (1) अधिक भीड़भाड़
    - (2) बेकारी
    - (3) माता का घर के बाहर काम करना
  - (2) त्रुटिपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध
    - (1) माता-पिता में से किसी एक का अधिक प्रभुत्व
    - (2) किसी एक का कम प्रभाव
    - (3) माँ-बाप में झगड़ा
    - (4) सौतेली माँ व पिता
    - (5) पक्षपात
    - (6) स्पर्धा
    - (7) अनापेक्षित बच्चा
    - (8) अत्यधिक देख-रेख
    - (9) उदासीनता
  - (3) त्रुटिपूर्ण अनुशासन
    - (1) अत्यधिक कठोरता
    - (2) अत्यधिक ढिलाई
  - (4) विघटित परिवार
    - (1) मृत्यु
    - (2) परित्याग
    - (3) तलाक
    - (4) पिता का जेल में होना
    - (5) पिता का किसी सुधार संस्था में होना
  - (5) अनैतिक परिवार
    - (1) अत्याचार-पूर्ण व्यवहार
    - (2) शराब-खोरी
    - (3) यौन-अनैतिकता
    - (4) शोषण
    - (5) जुएबाजी
  - (6) घर के बाहर
    - (1) बुरा प्रभाव
    - (2) नैतिकता में संकट डालने वाली संस्थाएँ
    - (3) प्रतिकूल पेशा
    - (4) विश्राम, स्वास्थ्य व मनोरंजन के लिए स्थान व समय की कमी
    - (5) स्कूल में अनुपयुक्त परिस्थिति
- **व्यक्तिगत कारण**
  - (1) प्राणिशास्त्रीय
    - (1) शारीरिक विकार
    - (2) बीमारी
    - (3) कम विकसित शरीर
    - (4) अति विकसित शरीर
  - (2) मनोवैज्ञानिक
    - व्यक्तित्व गुण
      - (1) हीनता की भावना
      - (2) मानसिक अन्तर्द्वन्द्व
      - (3) अवरुद्ध इच्छाएं
      - (4) किशोर अवस्था के अन्तर्द्वन्द्व
      - (5) मनोविकारीय गुण
      - (6) अहम् भावना से ग्रसित बच्चा
    - मानसिक विकार
      - (1) मानसिक बीमारियाँ
      - (2) मन्द बुद्धि
      - (3) बीमारी के कारण मानसिक अस्थिरता

23B. "Social Welfare" पत्रिका में फरवरी, 1954 में प्रकाशित, 'किशोर अपराध के कारण'

(ब) स्कूल
(स) अपराधी क्षेत्र
(द) युद्ध
(य) सम्पर्क और समूह का अनुभव।

भारत सरकार की सामाजिक कल्याण (Social Welfare) पत्रिका से किशोर-अपराध के कारणों को पृष्ठ 78 की सारणी में दर्शाया गया है।

यहाँ हम बाल-अपराध के प्रमुख कारणों का उल्लेख करेंगे.

(I) पारिवारिक कारक (Familial Causes)

परिवार का व्यक्ति के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जन्म के बाद बच्चे का सर्वप्रथम सम्पर्क परिवार के सदस्यों से ही होता है। वह अपने माता-पिता एवं भाई-बहिनों के व्यवहारों से प्रभावित होता है। परिवार का वातावरण, आर्थिक परिस्थितियाँ, शैक्षणिक स्तर, नैतिकता आदि का बच्चे के व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। जब माता पिता बच्चों के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ रहते हैं, तो बच्चों से भी श्रेष्ठ नागरिक बनने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है। अतः जिन व्यवहारों को वह बचपन में परिवार से ग्रहण करता है, वे उसमें जीवन-पर्यन्त बने रहते हैं। परिवार से सम्बन्धित कई कारण बालक को अपराधी बनाने के लिए उत्तरदायी हैं.

(1) भौतिक वंशानुक्रमण (Physical heredity)—बच्चे के शरीर और स्वास्थ्य का सम्बन्ध उसके वंशानुक्रमण से भी है जो कि उसकी शारीरिक और सामाजिक भूमिकाओं को प्रभावित करता है। इटली के अपराधशास्त्री लोम्ब्रोसो ने तो अपराधी प्रवृत्ति को व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं से जनित ही माना था। क्या अपराध वंशानुक्रमण में मिलता है ? इस अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न अपराधशास्त्रियों ने कई प्रसिद्ध और क्षण परिवारों के वंशानुक्रमण का अध्ययन किया। गोडार्ड, रिचार्ड, डुग्डेल एवं इस्टा ब्रूक ने कालिकाक और ज्यूक (Kalikaks and Jukes) परिवारों का अध्ययन करने पर पाया कि ये परिवार शारीरिक दृष्टि से क्षण (Degenerated) थे तथा इन परिवारों की सभी पीढ़ियाँ अपराधी थीं। भारत में भूतपूर्व अपराधी जनजातियों (Ex-criminal tribes) को भी वंशानुक्रमण के आधार पर ही अपराधी घोषित किया गया था। अपराध को वंशानुक्रमण की देन मानने वाले विद्वान मेण्डल के वंशानुक्रमण के सिद्धान्त (Mandals Law of Heredity) से प्रभावित थे।

किन्तु वर्तमान में अपराधशास्त्र में इस अवधारणा का बहिष्कार किया गया है। बर्ट और गिलिन ने अपने अध्ययनों में बाल-अपराध को वंशानुक्रमण से सम्बन्धित नहीं पाया। गिलिन लिखते हैं "अपराध वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं किया जा सकता।"[1]

1 "Crime as such cannot be inherited." Gillin, *Criminology and Penology*, p. 119.

(2) टूटे परिवार (Broken Home)—परिवार दो प्रकार से टूट सकते हैं—

(अ) भौतिक रूप से (Physically),

(ब) मानसिक रूप से (Mentally)।

भौतिक रूप से परिवार के टूटने का अर्थ है—परिवार के सदस्यों की मृत्यु हो जाना, लम्बे समय तक अस्पताल, जेल, सेना आदि में रहने के कारण अथवा तलाक और पृथक्करण के कारण सदस्यों का परिवार में साथ-साथ न रहना।

मानसिक रूप से परिवार के टूटने का अर्थ है—सदस्य एक साथ तो रहते हैं किन्तु उनमें मनमुटाव, मानसिक संघर्ष एवं तनाव पाया जाता हो।

हंसा सेठ के बम्बई के अध्ययन में 47 4%, कार सॉण्डर्स के अध्ययन में 29%, बर्ट के अध्ययन में 58%, वेजहोर के अध्ययन में 44 5, डा० मुलेन्बर के ओमाहा अध्ययन में 50·71%, डा० मेरिल के अध्ययन में 50 7%, डा० मेनहीम के अध्ययन में 39 4%, ग्लूक के अध्ययन में 84 8% बालक टूटे परिवारों के थे।[1] बर्ट ने बताया कि बुरे परिवारों में एक बात समान रूप से पाई गई कि वे सभी शराब का प्रयोग करते थे। शराबखोरी के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर हो जाती है, सदस्यों का स्वास्थ्य गिर जाता है और अनुशासन कमजोर हो जाता है। ऐसे परिवार को पड़ोसी भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपराधी लड़कियों पर किये गये अध्ययन यह स्पष्ट करते हैं कि वे अधिकांशतः टूटे परिवारों से ही आती हैं। कुमारी इलियट के अध्ययन में 67% लड़कियाँ भग्न परिवारों की थीं और उनके माता-पिता के विरुद्ध अनैतिकता के आरोप थे।[2] कुमारी लम्पकिन (Miss Lumpkin) के भग्न परिवारों के अध्ययन में 82% और अभग्न परिवारों में 61% अपराधी बालक अनैतिक परिवारों के थे।[3] अनैतिक परिवारों में बच्चों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे समूह के मूल्यों और नैतिकता के अनुरूप आचरण करेंगे। माता-पिता के अभाव में बच्चों को वैयक्तिक सम्पत्ति की पवित्रता का ज्ञान भी नहीं हो पाता। यदि माता-पिता बच्चों की छोटी-छोटी चीजें चुराने की आदत पर उन्हें दण्ड नहीं देते, तो चोरी को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) अपराधी भाई-बहिन (Delinquent Siblings)—यदि परिवार ही अपराध के लिये उत्तरदायी है तो परिवार का सभी बच्चों पर समान रूप से प्रभाव पड़ना चाहिए। किन्तु हम जानते हैं कि यह बात सही नहीं है। प्रत्येक बच्चे का

---

1 Quoted by Hansa Sheth, *op cit*, pp 212-217

2 M. A Elliott, *Correctional Education and the Delinquent Girls*, pp. 26-28

3 K. D Lumpkin, *Factors in the Commitment of Correctional School Girls in Wisconsin*, American Journal of Sociology, 37 225-26 (Sept 1931).

पारिवारिक [illegible] भिन्न होता है। माता-पिता का स्नेह सभी बच्चों को कई बार समान रूप से बाँटना ही होगा।

दूसरा बच्चा अग्रिम बच्चे (first born) की स्थिति ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करता है। विभिन्न अध्ययन इस बात को प्रकट करते हैं कि बच्चों में अपराधी प्रवृत्ति के लिए उनके भाई-बहिनों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है। हीली और ब्रूनर के अध्ययन में 372 ऐसे परिवार थे जिनमें 2 बच्चे थे, उनमें से 20% मामलों में दूसरा बच्चा अपराधी था, 333 ऐसे परिवार थे जिनमें 6 बच्चे थे उनमें 12% परिवार के बच्चों ने अपराध किये।[1] इलियट के पेन्सिलवेनिया के अध्ययन में 31% लड़कियाँ अपराधी पाई गई।[2] यह भी पाया गया कि अन्य परिवार में लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक अपराधी थीं। लड़कों में भगोड़ेपन (Truancy) एवं नियन्त्रणहीनता के दोष अधिक थे।

(4) सौतेले माता पिता (Step mother or father)—सौतेली माँ या बाप होने पर भी बच्चे को परिवार में जो स्नेह और प्यार मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता। उनके प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है। परिणामस्वरूप बच्चे में ऐसे माता-पिता के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है और वह उनसे घृणा करने लगता है। वह परिवार के दूषित वातावरण से मुक्ति पाने के लिये घर छोड़ देता है और अपराधी बन जाता है। वर्मा के कानपुर और लखनऊ के अध्ययन में 9·33% अपराधी बच्चों के माँ या बाप में से एक सौतेला था।[3]

(5) पक्षपात (Favouritism)—परिवार में पक्षपातपूर्ण व्यवहार होने पर भी बच्चों में निराशा और घृणा की भावना जन्म लेती है। यदि परिवार में किसी बच्चे को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं और दूसरों के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है तो ईर्ष्या एवं द्वेष का वातावरण बनता है। भाइयों में परस्पर मन-मुटाव और संघर्ष उत्पन्न होता है। अधिक मार और डाँट खाने वाला बच्चा परिवार के वयोवृद्ध लोगों का सम्मान करना बन्द कर देता है और उन लोगों की इच्छा के विपरीत कार्य करने लगता है। इस प्रकार भेदभावपूर्ण व्यवहार बच्चे में अपराधी मनोवृत्ति को जन्म देता है।

(6) दोषपूर्ण अनुशासन (Defective Discipline)—परिवार में बच्चों पर बहुत अधिक नियन्त्रण होने पर वे कठोरता से बचने के लिये भागना चाहते हैं और ज्यों ही उन्हें अवसर मिलता है, वे उन कार्यों को करने लगते हैं जिनके लिए उन्हें मना किया गया है। कठोर नियन्त्रण से व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास भी रुक जाता है। वह अपनी दबी इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी अपराध करता है। इसके विपरीत बच्चों को अत्यधिक ढील देने एवं अंकुश न रखने पर भी उनमें

1 Healy and Bronner, op. cit., p. 104.
2 M. A. Elliott, op. cit., pp. 26-27.
3 S. C. Verma, op. cit., Quoted by Sushil Chandra, op. cit., pp. 48-49.

स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति पैदा होती है। इकलौता पुत्र होने, ... होने, कई लड़कियों के बीच एक ही लड़का होने आदि स्थितियों में ... अधिक लाड़-प्यार से रखा जाता है। परिणामस्वरूप ऐसे बच्चे का ... , कमजोर हो जाता है। वह अपनी 'इड' प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं रख पाता है और बिगड़ जाता है। पिता का माता पर या माता का पिता पर अधिक नियन्त्रण होने पर भी उनमें पारस्परिक टकराव होता रहता है जिससे बच्चों पर कुप्रभाव पड़ता है। वर्मा के अध्ययन में कानपुर में 39.13% व लखनऊ में 41.77% अपराधियों के माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध त्रुटिपूर्ण थे। माता-पिता का अपराधी बच्चों से सम्बन्ध लखनऊ में 72.83% व कानपुर में 78.41% मामलों में दोषपूर्ण था।[1]

(7) गरीबी (Poverty)—कई अध्ययन इस बात को प्रकट करते हैं कि गरीबी ने बच्चों को अपराधी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व किये गये कई अध्ययनों से यह बात स्पष्ट होती है। यह भी देखा गया कि अपराधी बच्चे के पिता अक्सर मजदूर थे या कम उम्र में ही कारखाने में काम करने लग गये थे। अतः प्रलोभनों के सामने वे झुक जाते थे। निम्न सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति होने पर बच्चों में हीनता की भावना पैदा होती है। जोन्स के शब्दों में "यह कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों आर्थिक स्तर निम्न होगा, त्यों-त्यों बाल-अपराध की दर ऊँची होगी।"[2] कहावत है बुभुक्षितः किं न करोति पापं अर्थात् भूखा क्या पाप नहीं करता। उसके लिए नैतिक आदर्श कोई मूल्य नहीं रखते हैं (A hungry stomach knows no morals)। गरीबी में परिवार अपनी मौलिक आवश्यकताएँ, चिकित्सा एवं मनोरंजन की सुविधाएँ नहीं जुटा पाता। ऐसी स्थिति में माता एवं पिता दोनों ही नौकरी करने लगते हैं। माता-पिता के घर से बाहर रहने की अवधि में बच्चे आवारागर्दी करते हैं। उस समय उन पर कोई नियन्त्रण नहीं रह पाता। न्यूमेयर लिखते हैं 'जब पिता रात में काम करते हैं और माता दिन में अथवा दोनों रात या दिन में काम करते हैं तो बच्चे प्रायः गलियों में ही काम करते हुए मिलते हैं।'[3] बच्चों की आवश्यकताएँ जब परिवार में पूरी नहीं होती हैं तो वे बाहर चोरियाँ करने लगते हैं। वर्मा के अध्ययन में किसी भी बाल-अपराधी के परिवार की आय प्रति माह 150 रुपयों से अधिक नहीं थी। लखनऊ में 82.67% और कानपुर में 80.86% अपराधी बच्चों के परिवारों की आय 100 रु० प्रतिमाह से अधिक नहीं थी।[4] बर्ट के अध्ययन में 56%, बेजहोट के अध्ययन में 50%, मेरिल के

1 Verma, *op cit*, Quoted by ...shil Chandra, *op cit*, p 53
2 All one can say is that the lo...er the economic grade, the higher the percentage of Juvenile Delinquency
—I A ... Jones *Juvenile Delinquency and Law*, p. 29
3 With the father on a night shift a... mother on a day shift or both on day or night shift ch ldren were often on ...e "Street Shift".
—M H Newmeyer *Juven... Delinquency in Modern Society*, p 161
4 Sushil Chandra, *op cit*, p 54

अध्ययन में 66%, म्यूक के अध्ययन मे 71·4% बाल-अपराधी गरीब परिवार के थे। किन्तु यह बात सदा ही सही नहीं है कि गरीबी अपराध को जन्म देती ही। पोर्टर फील्ड के अध्ययन मे अधिकांश अपराधी उच्च सामाजिक वर्ग के पाये गये। टैफ्ट ने भी यह स्पष्ट किया है कि समृद्धि के समय ही अपराध अधिक हुए हैं। हसा सेठ की मान्यता है कि गरीबी अपराध का अवश्यम्भावी कारक नहीं है।[1]

(8) प्रकार्यात्मक अपर्याप्तता (Functional Inadequacy)—जब परिवार मे अनुपयुक्त रूप से कार्य होता है या उसकी संरचना ही दोषपूर्ण हो तो बच्चे के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एव नैतिक विकास पर बुरा प्रभाव पडता है। बर्ट ने बताया है कि बुरे परिवारो मे एक बात सामान्य रूप से सभी मे यह पाई गई कि वे शराब का प्रयोग करते थे। शराब परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर कर देती है, सदस्यो का स्वास्थ्य गिरा देती है तथा अनुशासन घटाती है। ऐसे परिवार को पड़ोसी भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

(9) बच्चे का तिरस्कार (Rejection of the Child)—पोर्टरफील्ड[2] ने टेक्सास के अध्ययन में यह पाया कि बाल-अपराध के लिए माता-पिता द्वारा बालक का तिरस्कार एक महत्वपूर्ण कारक है। जहाँ माता-पिता और पड़ोसी बच्चे की वास्तव मे सहायता व सुरक्षा करना चाहते थे वहाँ ऐसे बालको के विरुद्ध न्यायालय मे बहुत कम ही मामले दर्ज किये गये। परिवार का असुरक्षित जीवन बच्चे के मानसिक सन्तुलन को इतना बिगाड़ सकता है कि वह अपराध करने लग जाय। जहाँ परिवार मे निरन्तर तनाव एवं संघर्ष की स्थिति हो, वहाँ बच्चे के अपराधी होने के अधिक अवसर रहते हैं।

(10) भीड़-भाड़युक्त परिवार (Over-cronded Family)—वर्तमान मे औद्योगीकरण के कारण शहरो की जनसंख्या मे तेजी से वृद्धि हुई है। शहरो मे रहने की उचित व्यवस्था नहीं है। सारा परिवार छोटे-से मकान अथवा एक कमरे मे रहता है। मकानो के ऊँचे किराये और आय की सीमितता के कारण निम्न एवं मध्यम वर्ग के लिए अधिक कमरों वाले मकानों को जुटा पाना प्राय: कठिन होता है। छोटे-छोटे घरो मे बच्चो के खेल-कूद व मनोरंजन के लिए उपयुक्त स्थान का अभाव होता है। स्वयं माता-पिता भी चाहते हैं कि बच्चे घर से बाहर ही खेलें। अत: वह घर से बाहर निकल पड़ते हैं जहाँ नियन्त्रण के अभाव मे वे अपराधी बालको के सम्पर्क मे आते हैं। ऐसे परिवारो मे गोपनीय स्थान का भी अभाव होता है। वहाँ शान्त वातावरण एवं एकान्त की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। इन सभी का बच्चो के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मैनशार्ट ने सन् *1939* मे बम्बई में *86%* जनसंख्या को भीड़-भाड़युक्त घरो मे रहते पाया। स्पष्ट है कि परिवार की विषम

1 "Poverty per se is not an inevitable cause of Delinquency." —H. Sheth, *op cit.*, p 241.

2 A. L. Porterfield, *Youth i[illegible]e*, Ch. 1.

परिस्थितियाँ एक बच्चे को अपराधी बनाने में महत्वपूर्ण योग देती हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि समान पारिवारिक परिस्थितियाँ होने पर भी एक बच्चा अपराधी बन जाता है और दूसरा नहीं। अतः एक व्यक्ति को अपराधी बनाने में कौन-सा पारिवारिक कारक अधिक प्रभावी होगा, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। परिवार में विभिन्न बच्चों की स्थिति में परिवर्तन, माता-पिता की मृत्यु, बच्चों के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार, उनके लिंग और भाई-बहिनों की पारस्परिक स्थिति, उनकी शारीरिक रचना और अनेक अन्य कारक उनको अपराधी बनाने के लिए उत्तरदायी हैं। किसी एक ही कारक को स्पष्ट रूप से बाल अपराध के लिए उत्तरदायी मानना उचित नहीं होगा।[1]

(II) व्यक्तिगत कारण (Personal Causes)

पारिवारिक कारकों के अतिरिक्त स्वयं व्यक्ति में ही ऐसी कमियाँ हो सकती हैं जिससे कि वह अपराधी व्यवहार को प्रकट करे। व्यक्तिगत कारण इस प्रकार से हैं

(1) शारीरिक कारक (Physical Factors)—कुछ विद्वान शारीरिक रचना को बाल-अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है। कमजोर, बीमार और अस्वस्थ बच्चे अपराध की ओर अधिक झुकते हैं। मस्तिष्क व शरीर का घनिष्ट सम्बन्ध है। क्षीणकाय होने पर व्यक्ति में हीनता की भावना पैदा होती है जो आगे चलकर अपराध को जन्म देती है। सिरिल बर्ट के अध्ययन में 70% बाल-अपराधी किसी न किसी शारीरिक कमी से ग्रसित थे।[2] अपराधियों के बुरे स्वास्थ्य के लिए गरीबी एवं घर में उनकी देख-रेख का अभाव उत्तरदायी थे। कमजोर दृष्टि, बहरापन, अशुद्ध उच्चारण, बच्चे के स्कूली जीवन को असफल बनाते हैं। ये कमियाँ उसकी मजाक का कारण बनती हैं और वह क्षतिपूर्ति के रूप में अपराध करता है। कमजोर स्वास्थ्य होने पर नियन्त्रण भी शिथिल हो जाता है।[3] नियन्त्रण का अभाव भी अपराध को जन्म देता है। हूटन ने विभिन्न प्रकार के शारीरिक दोषों का सम्बन्ध भिन्न भिन्न अपराधों से बताया है।

अल्पकाल की बीमारी में व्यक्ति अपने भूतकाल के सुख के दिनों को याद करता और निराश होता है। लम्बी अवधि की बीमारी भी हीनता की भावना पैदा करती है। कमजोरी डर पैदा करती है और डर से धोखा देने की आदत एवं शर्म उत्पन्न होती है। बीमार व्यक्ति अपने को परिवार एवं मित्रों से विच्छेदित महसूस करने लगता है। बीमारी के समय बीमार को फल एवं रस प्रदान किये जाते हैं जो स्वस्थ होने पर नहीं दिये जाते। ऐसी दशा में बच्चा उन्हें चुराने लगता है। शारीरिक

---

1 "It is not precisely known what is the exact role of each of these factors in generating inbalance in the Child" —Hansa Sheth, *op cit.*, p 219
2 Burt, *The Young Delinquent*
3 "Poor health means poor control." *Ibid*

अपंगता (deformity) भी अपराध उत्पन्न करती है। इसी प्रकार से किसी अंग का कम या अधिक विकास व्यक्ति में हीनता की भावना उत्पन्न करता है जो अपराध के लिए उत्तरदायी है।

(2) मानसिक कारक (Psychological Factors)—मनोवैज्ञानिकों और मनोचिकित्सकों ने मानसिक असामान्यताओं को बाल-अपराध के लिए उत्तरदायी माना है। उन्होंने इसे एक कारक के रूप में माना है और उसी रूप में दर्शाया है जैसा वे चाहते थे। मानसिक कारकों में मानसिक अयोग्यता तथा भावात्मक अस्थिरता और मानसिक संघर्ष अपराधी प्रवृत्ति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(i) मानसिक योग्यता (Mental Ability)—ऐसा माना जाता है कि बाल-अपराधी मानसिक रूप से पिछड़े होते हैं। डॉ० गोडार्ड[1] ने बताया कि कमजोर मस्तिष्क अपराध के लिए उत्तरदायी है। हीली और ब्रूनर ने शिकागो के अध्ययन में 63% बाल-अपराधियों को ही स्वस्थ मस्तिष्क का पाया, शेष 37% मानसिक कमजोरी एवं बीमारी आदि से ग्रसित थे। कुमारी इलियट के अध्ययन में 41.5% लड़कियाँ मानसिक रूप से पिछड़ी हुई थीं।[2] कनेरा एस. थाटेल ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय से सन् 1935 में अपना एक लेख "दी रिलेशन बिट्वीन मोरलिटी एण्ड इन्टलेक्ट" (The Relation between Morality and Intellect) प्रकाशित किया जिसमें यह दर्शाया कि कमजोर मस्तिष्क वाले परिवारों का झुकाव अपराध की ओर अधिक था। मानसिक पिछड़ेपन के कारण उनमें तर्क-शक्ति का अभाव होता है। अतः वे शीघ्र ही अपराध की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं किन्तु जेलेनी[3] (Zeleny) ने अनेक अध्ययनों की तुलना करने पर पाया कि बाल-अपराधियों की मानसिक क्षमता में कोई उल्लेखनीय कमियाँ नहीं थीं।

(ii) भावात्मक अस्थिरता और मानसिक संघर्ष (Emotional Instability and Mental Conflict)—मानसिक स्थिरता उच्च अनुकूलन का सूचक है। बर्ट ने अपने शोध में यह पाया कि अपराधियों में भावात्मक अस्थिरता एक महत्त्वपूर्ण प्रभावक रहा है। उन्होंने 48·1% बाल-अपराधियों को मानसिक रूप से अस्थिर पाया।[4] हीली और ब्रूनर ने भी 105 अपराधी बच्चों के अध्ययन में यह पाया कि वे मानसिक अस्थिरता एवं अपूर्णता से ग्रसित थे। अधिकांश बाल-अपराधियों में अपराधी भावना के लिए स्कूल के प्रति अनिच्छा, भेद भाव की भावना तथा भाई-बहिनों एवं खेल के साथियों के प्रति असन्तोष आदि उत्तरदायी थे। मिरियम वान वॉटर्स (Miriam Van Waters) ने सन् 1925 में अपनी एक पुस्तक 'यूथ इन

---

1. H. H. Goddard, *Feeble Mindedness, Its Causes and Consequences*, 1914
2. Mabel A. Elliott, *op. cit.*, p. 33
3. L. D. Zeleny, *Feeble Mindedness and Criminal Conduct*, American Journal of Sociology, 38 : 564-578 (Jan. 1933).
4. Burt, *op. cit.*, pp. 491-49?.

कॉनफ्लिक्ट' (Youth in Conflict) प्रकाशित की। उसमें आपने यह लिखा है कि घर, स्कूल एवं समुदाय का निरंकुश व्यवहार बच्चों में घृणा की भावना पैदा करता है और वे अपनी मानसिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते।

(III) सामुदायिक कारक (Community Factors)

जिस समुदाय में बच्चा रहता है यदि उसका वातावरण अनुपयुक्त है तो वह बालक को अपराधी बना सकता है। घर की बुरी दशा बच्चों के लिए असुख-कारक और अवाञ्छनीय होती है। गरीबी निम्न आर्थिक व सामाजिक दशा की सूचक है। पारिवारिक और सामुदायिक स्रोतों के अभाव में तथा खेल के स्थानों एवं घरों की अनुचित व्यवस्था के कारण अपराध पनपते हैं। गन्दी बस्तियों के स्थान पर योजनाबद्ध रूप से बसायी गयी नयी बस्तियों में (जिनमें खेल के मैदान और अच्छे मकान बने हुए थे) अपराध की दर घटी है। अमरीका में एक नयी बस्ती 'न्यूहेवन' में 317 निग्रो परिवारों को बसाया गया था जहाँ सभी प्रकार की सुविधाएँ थीं। जब इस नयी बस्ती की तुलना पुरानी बस्ती से की गयी तो पाया गया कि नयी बस्ती की तुलना में पुरानी बस्ती में अपराध दुगुने थे। नयी बस्ती में अपराध की घटोत्तरी भी उस समय हुई जब सन् 1940-1944 में अन्य सभी क्षेत्रों में अपराध की दर बढ़ी हुई थी। इससे स्पष्ट है कि सामुदायिक वातावरण अपराध को घटाने व बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण पहलू है। सामुदायिक कारकों में से हम कुछ का यहाँ उल्लेख करेंगे

(1) मनोरंजन (Recreation)—मनोरंजन और बाल-अपराध के सह-सम्बन्ध का भी अध्ययन किया गया है। उचित मनोरंजन की सुविधा होने पर बाल-अपराध की दर में कमी आती है। खाली समय में जब बच्चा न तो स्कूल जाता है और न ही कोई काम करता है तो वह अपराध की ओर प्रवृत्त होता है जैसा कि कहा जाता है, 'खाली दिमाग शैतान का घर होता है।" (Empty mind is devil's workshop)। बड़े शहरों में माल रोड, सिनेमा-घर, पार्क और ऐसे स्थान होते हैं जहाँ मनोरंजन हेतु काफी लोग एकत्रित होते हैं। बच्चे भी इन स्थानों पर अपना खाली समय व्यतीत करने पहुँच जाते हैं। ये स्थान अपराध के लिए सुविधाएँ प्रदान करते हैं। मनोरंजन के लिए आये व्यक्ति मस्ती के आलम में रहते हैं और बेपरवाह हो जाते हैं। इसका लाभ उठा कर बच्चे चोरी एवं उठाईगिरी करते हैं। सिनेमा में दिखाये जाने वाले मारधाड़, यौन-अनाचार, चोरी एवं डकैती के दृश्य बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डालते हैं। चौंकाने वाले एवं उत्तेजक दृश्य बच्चों को आकर्षित करते हैं। जब कभी अवसर आता है तो बच्चा अपराधी उद्देश्य के स्थान पर अपराधी विधियों को सीखता है। पार्क, खेल-कूद और मनो-विनोद का अभाव थकान एवं ऊब को जन्म देता है जिससे दैनिक जीवन में असा-मान्यता पैदा होती है। शिकागो में किये गये एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि जब बाल-अपराधियों के लिए मनोरंजन की उचित व्यवस्था की गई तो उनकी आदतों में सुधार

हुआ। अब मनोरंजन को एक उपचारात्मक विधि के रूप में प्रयोग में लिया जाय तो मनोरंजन की उपयुक्तता को बालकों की दृष्टि से ध्यान में रखना आवश्यक है। ब्लूमर तथा हाउजर द्वारा किये गये सिनेमा सम्बन्धी अध्ययन, सुलेंजर[1] (Sullenger) द्वारा ओमाहा का अध्ययन, भारत में सिनेमा जाँच-पड़ताल समिति का सन् 1927 में बम्बई का अध्ययन तथा डा० कुमारी शाह आदि के अध्ययन यह प्रकट करते हैं कि मनोरंजन की उचित व्यवस्था के अभाव तथा सिनेमा के बुरे प्रभाव ने बाल अपराध को जन्म दिया है। कुमारी शाह ने जब बाल अपराधियों से पूछा कि वे भविष्य में किसकी भूमिका निभाना पसन्द करेंगे तो अधिकांश ने खलनायक की भूमिका पसन्द की। शाह के अध्ययन में 40% बच्चों ने सिनेमा से ही अपराधी प्रवृत्ति सीखी थी।[2] हीली[3] के अध्ययन में 1% तथा ब्लूमर और हाउजर[4] के अध्ययन में 10% बच्चों ने अपने पर सिनेमा का प्रभाव स्वीकार किया। उन्होंने सिनेमा से चोरी, ताले का खोल देना, पैसा बटोरना, बन्दूक रखना, फ्लर्ट करना एवं बहादुरी की बातें सीखी थीं, लड़कियों में यौन उत्तेजना पैदा करने के लिए प्रेम प्रदर्शन करने की रीति के लिए भी सिनेमा ही उत्तरदायी थी। स्कूल छोड़कर गाड़ियों एवं सिनेमा में जाने तथा घर से भागने की प्रवृत्ति के लिए भी सिनेमा को उत्तरदायी माना गया। अतः स्पष्ट है कि उचित मनोरंजन का अभाव बच्चों में अपराधी मनोवृत्ति पैदा करता है।

(2) स्कूल (School)—विद्यालय ज्ञान के मन्दिर हैं जहाँ मानवता ढाली जाती है। विद्यालय का अनुपयुक्त वातावरण होने पर बच्चे से सुसामाजिक होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। विद्यालय ही बच्चों के लिए उचित सामाजिक जीवन व्यतीत करने हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता है। शिक्षा का बच्चे पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। स्कूल का वातावरण, अध्यापकों का व्यवहार, स्कूल के साथी छात्रों व अध्यापकों के साथ सम्बन्ध, अध्यापकों की प्रभावहीनता, अध्यापक का घर में संघर्ष, उनकी असुरक्षा, बीमारी एवं अनुचित पाठ्यक्रम की कठोरता, मनोरंजन एवं आराम का अभाव, अयोग्य छात्रों की पदोन्नति, घर पर अधिक काम तथा आलस्य आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो बच्चे के व्यक्तित्व को प्रभावित करके उसे अपराधी या अयोग्य नागरिक बनाने में योग देते हैं। कम अंक प्राप्त करने या फेल होने पर बच्चे स्कूल से छुड़वा दिये जाते हैं। बच्चों को जब बाल अपराधी माने जाने के लिए स्कूल में छोड़ा जाता है तो उनमें हीन भावना पैदा होती है, वे स्कूल छोड़ देते हैं और आवारा व्यवहार करने लगते हैं। अशिक्षा अपराध को बढ़ावा देती है। लखनऊ के रिफार्मेट्री स्कूल में 48 अपराधी अशिक्षित एवं 59 अपराधी कुछ पढ़े लिखे थे। जो छात्र कुछ शिक्षा प्राप्त कर पाए, उनमें से 28 ने प्राइमरी क

1. P. T. Sullenger, *Social Determinants in Juvenile Delinquency*, p. 46
2. Quoted by Hansa Sheth, *op. cit.*, p. 235
3. Healy and Bronner, *New Light on Delinquency and Its Treatment*, p. 135
4. Blumer and Hauser, *The Movies, Delinquency and Crime*, p. 11.

दुर्व्यवहार के कारण, 14 ने रुचि के अभाव मे व 2 ने माता-पिता के कारण पढ़ाई छोड़ी, शेष 15 ने अधिकतम 6 वर्ष तक पढ़ाई की थी।[1]

(3) अपराधी क्षेत्र (Delinquency Area)—पड़ोस और अपराधी क्षेत्र मे निवास का भी अपराधी प्रवृत्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है। वेश्याओ के अड्डे, जुआरियो, चोरों, शराबियो और गुण्डो के पास निवास-स्थान होने पर बच्चों के अपराधी होने के अधिक अवसर रहते हैं क्योकि बच्चो मे अनुकरण एव सुझाव-ग्रहणशीलता अधिक होने के कारण अपराधी प्रवृत्तियों के सीखने की सभावना होती है। क्लिफोर्ड शा और मैके[2] ने यह बताया कि कई स्थान बच्चो को रखने की दृष्टि से सुरक्षित नहीं हैं। शिकागो, बोस्टन, ओमाहा, रिचमड, वर्जीनिया, अलाबामा, कोलोराडो, बर्मिंघम, ओहियो, डेनवर आदि शहरो मे बाल-अपराधियो से सम्बन्धित किये गये अध्ययन इस बात को प्रकट करते हैं कि पड़ौस और स्थानीय दशाओ का अपराध से घनिष्ट सम्बन्ध है। शॉ और मैके ने विभिन्न शहरो मे बाल-अपराध की दरों मे विचित्र समानताएँ पायीं। शहर के केन्द्र एव व्यापारी क्षेत्र मे अपराध अधिक होते हैं। ज्यों-ज्यों हम शहर के केन्द्र से परिधि की ओर जाते हैं अपराध की दर घटती जाती है। अपराधी परम्परा के सम्पर्क मे आकर बच्चे शीघ्र अपराधी बन जाते हैं। हीली एव ब्रूनर की मान्यता है कि अपराध के प्रचलित प्रतिमानो से प्रभावित होकर गन्दी बस्तियो के बच्चे अपराध करते हैं।

(4) साथी (Companions)—एक बच्चे को अपराधी बनाने में उसके साथियो का भी योगदान होता है। अकेलेपन मे अपराध सीखने के अवसर बहुत ही कम होते हैं और ऐसा भी मानसिक परिस्थितियों के कारण ही सम्भव है। विभिन्न विद्वानो ने अमेरिका मे साथियो के प्रभाव का अध्ययन किया। उनके निष्कर्षों को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं एक जब अकेले व्यक्ति द्वारा अपराध किया गया और दूसरा जब साथियो के प्रभाव एव सहयोग से अपराध किया गया। इन सर्वेक्षणो को हम निम्न तालिका द्वारा प्रकट कर सकते हैं

विभिन्न सर्वेक्षणों मे बाल-अपराध में साथियों का प्रभाव[3]

सर्वेक्षण	अकेले व्यक्ति द्वारा अपराध (प्रतिशत में)	साथियों के कारण अपराध (प्रतिशत मे)
(1) इलिनोइज सर्वेक्षण	10%	90%
(2) वाइटर स्टेट स्कूल सर्वेक्षण	19%	81%
(3) शॉ और मैके का सर्वेक्षण	19%	70%
(4) सुलेन्जर द्वारा सर्वेक्षण	30%	70%
(5) ग्लक एव ग्लक द्वारा सर्वेक्षण	30%	70%
(6) स्कोटिश इनक्वायरी	ज्ञात नहीं	63%
(7) हीली एव ब्रूनर का सर्वेक्षण	"	34%
(8) बर्ट का सर्वेक्षण	"	18%

1 *Correctional and Rehabilitation Work*, Reformatory School Lucknow, 4th Dec., 1942 to 31st Dec., 1944 p. 13
2 Clifford R. Shaw and H D Mckay, *Juvenile Delinquency in Urban Areas*, Chap 20.
3 Quoted by Kr. R. S Singh, *op cit.*, p 82.

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि बाल-अपराध मे साथियों का महत्त्वपूर्ण योग-दान होता है। जब बच्चा समूह मे या गिरोह में सम्मिलित होता है तो उसकी वैयक्तिकता समूह मे विलीन हो जाती है। बड़े शहरो मे रेलवे स्टेशन, बाजार, सार्वजनिक स्थान और भीड़-भाड़युक्त स्थानों पर अपराधी बच्चो की गैंग इधर-उधर घूमती रहती है। अवसर मिलते ही ये लोग जेब काटने, चोरी करने एव उठाईगिरी करने का काम करते हैं। एक बच्चा अपराध करने के बाद अपनी साहस भरी कहानी दूसरे बच्चो को सुनाता है तो उनके लिए यह प्रेरणा एव उत्तेजना की बात होती है। साथियो के सम्पर्क से ही एक बच्चा धूम्रपान, शराब वृत्ति, चोरी, जुआ आदि सीखता है। कई बार बड़े अपराधी छोटे बच्चो से शराब की बोतलें ले जाने तथा पुलिस के आगमन की सूचना देने आदि का काम लेते हैं।

(5) युद्ध (War)—युद्ध सामाजिक विघटन एव विनाश उत्पन्न करता है तथा सामान्य घरेलू जीवन को नष्ट करता है। एल्सा कास्टेन्डिक ने बाल-अपराध व युद्ध का अध्ययन किया। वे लिखते हैं कि यूरोप मे युद्ध के कारण बच्चो की शिक्षा बन्द हो गई थी। बच्चो के माता-पिता युद्ध-कार्य मे व्यस्त थे, माँ कारखाने मे और पिता युद्ध स्थल पर। बच्चो की देख-रेख करने वाला कोई नहीं था। बम गिरने के समय शहर मे लूटपाट मच जाती थी। शान्ति के समय की अपेक्षा इस काल मे लड़कियों मे यौन-अपराध बढ गये थे।[1] अमेरिका मे भी युद्ध के दिनो में बाल-अपराध की दर 50% बढ़ गई थी।[2]

औद्योगिक केन्द्रो मे जहाँ मातायें अपने बच्चों की देख-रेख नही कर पा रही थीं, बाल-अपराध बढ गये थे। सन् 1938 से 1947 तक अपराध की दर सबसे अधिक थी। सन् 1943 में लड़कियो द्वारा सबसे अधिक अपराध किये गये और सन् 1936 की तुलना मे अपराध की दर 25% बढ गई थी। युद्ध के कारण अपाहिजो की सख्या मे भी वृद्धि हुई थी। युद्ध के दिनो मे सबसे अधिक अपराध यूरोप मे गरीबी बढ़ने, मकानों की समस्या, भोजन की कमी, और कीमतो के बढने आदि के कारण हुए थे। इस समय बच्चों का युद्ध पूर्व के नैतिक मूल्यो से अनुकूलन करना कठिन हो गया था।

स्पष्ट है कि बालक को अपराधी बनाने मे किसी एक कारक का ही हाथ नहीं होता है। शारीरिक एव मानसिक रचना, पारिवारिक स्थिति, पड़ौस की दशायें, मनोरंजन की व्यवस्था, साथियो का सम्पर्क एव विभिन्न समूहो की सदस्यता तथा निवास की दशायें आदि अनेक कारको की सह-उपस्थिति ही बालक को अपराधी बनाने मे योग देती है।

---

1 Elsa. Casterdyck, *Juvenile Delinquency in War-time*", Fedral Probation, 6 : 45-43. (July-Sept. 1942).
2 Cf Victor H. Evjen, *Delinquency and Crime in War-time*, Journal of Criminal Law and Criminology. 33 : 136-146 (July-August 1942).

(6) आवारागर्दी (Vagrancy)—आवारापन बाल-अपराध के लिए पृष्ठ-भूमि प्रदान करता है। 'आवारा' की परिभाषा करते हुए फेयरचाइल्ड लिखते हैं "आवारा अप्रतिबन्धित यात्रा करने वाला और दरिद्र व्यक्ति है।"[1] निरुद्देश्य सड़कों पर इधर-उधर घूमने वाले एवं माता-पिता की बिना आज्ञा के घर से अनुपस्थित रहने वाले, वेश्याओं और जुए के अड्डों पर जाने वाले, रेलवे स्टेशन तथा सार्वजनिक स्थानों पर भीख माँगने एवं छेड़-छाड़ करने वाले बच्चों को आवारा कहा गया है। डा० श्रीवास्तव ने आवारा को इस प्रकार से परिभाषित किया है "एक बाल-आवारा 7 से 18 वर्ष की आयु का वह लड़का है जो अपने माता-पिता और संरक्षकों की बिना स्वीकृति के घर से बाहर रहता है और अपने व्यवहार में वैयक्तिक और सामाजिक विघटन के प्रतिमानों को प्रकट करता है।"[2] श्रीवास्तव ने आवारा बालकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है।[3]

(i) फुटपाथ पर सोने वाले—जो गाँवों और अन्य शहरों से आते हैं वे खुले स्थानों, रेलवे स्टेशन आदि पर सोते हैं। श्रीवास्तव ने 300 बाल-आवाराओं का अध्ययन किया जिनमें से 57 इस श्रेणी के थे।

(ii) द्वितीय श्रेणी के बाल आवाराओं को उन्होंने 4 श्रेणियों में बाँटा—

(क) जिनका शहर में मकान है पर उनका सम्बन्ध उनसे नहीं है।

(ख) जिनका निजी मकान शहर में होने पर भी अधिकांश समय बाहर ही काटते हैं।

(ग) शहर में निजी मकान होने पर भी दिन भर इधर-उधर घूमते हैं वे रात को घर लौट आते हैं।

(घ) जो अनैतिक व अपराधी परिवारों से सम्बन्धित हैं। दूसरी श्रेणी में कुल 243 आवारा थे।

आयु के आधार पर सबसे अधिक 91 आवारा बालक 13 से 14 वर्ष की आयु के थे। 42.7% आवारा बालक भग्न परिवारों के और 57.3% सामान्य परिवारों के थे। ये आवारा बालक अपना भोजन यात्रियों से भिक्षा माँग कर, होटलों और विश्राम गृहों में छोटा-मोटा काम करके, रेलवे स्टेशन से कोयला एकत्रित कर दुकानदारों को बेचकर व चोरी करके प्राप्त करते थे। बच्चों में आवारागर्दी उत्पन्न करने के लिए अनेक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। इनमें से प्रमुख हैं—छिन्न-भिन्न परिवार, अनैतिक परिवार, सौतेले माता-पिता, माता-पिता का

1 Fairchild, H. P., *Dictionary of Sociology*, p. 331.
2 "A Juvenile Vagrant is a male child between 7 to 18 years of age who stays away from home or tends to do so without the consent of his parents and guardians, shows patterns of personal and social disorganization in his behaviour." S. S. Srivastava, quoted by Sushil Chandra, *Sociology of Deviation in India*, p. 3.
3 Ibid., p. 3.

घर से बाहर कार्य करना, गरीबी, नैतिकता का अभाव, निरीक्षण का अभाव एव बुरी संगत में फँस जाना आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाल-आवारा और बाल-अपराधी में कई समानताएँ हैं। आवारा बालक ही अपराधी के रूप में परिणित हो जाते हैं। आवारापन में सुधार के लिए परिवार का उपयुक्त नियन्त्रण एवं उचित वातावरण, अच्छा पड़ोस, धार्मिक एव नैतिक शिक्षा, परिवार की आर्थिक स्थिति में सुधार एव स्वस्थ मनोरंजन की सुविधा आदि आवश्यक हैं।

(7) भगोड़ापन (Truancy)—स्कूल से बिना किसी सूचना के भागना ही कक्षा-पलायन या भगोड़ापन कहलाता है। फेयरचाइल्ड के अनुसार "यह बच्चे का वह अपराध है जिसमें वह बिना किसी कारण के स्कूल से अनुपस्थित रहता है।"[1] राजनाथ खन्ना ने लखनऊ के म्युनिसिपल स्कूल में भगोड़ेपन का अध्ययन किया। भगोड़ेपन को वे इस प्रकार से परिभाषित करते हैं, "एक भगोड़ा एक ऐसा बालक है जिसकी आयु 6 से 18 वर्ष है, जिसका नाम स्कूल के रजिस्टर में दर्ज है, जो जान-बूझकर, इरादे से, अपनी कक्षा के मित्रों, स्कूल के साथियों या अन्य साथियों के प्रोत्साहन के कारण, स्कूल के समय, स्कूल के भीतर या बाहर घूमता है या एक पीरियड या अधिक पढ़कर बिना किसी उचित कारण के छुट्टी लिये घूमता है।"[2]

यह आवश्यक नहीं कि भगोड़े बच्चे पढ़ने में कमजोर होंगे ही। खन्ना ने अपने अध्ययन में पाया कि 51·3% ऐसे भगोड़े छात्र थे जो फेल नहीं हुए। 28·7% एक बार, 15·9% दो बार, 2·9% तीन बार तथा 1·2% चार या अधिक बार फेल हुए थे। अतः हम यह नहीं कह सकते कि भगोड़े बच्चे होनहार नहीं होते। खन्ना ने भगोड़ों को तीन भागों में बाँटा है :

(i) आकस्मिक—जो 10% दिनों तक ही कक्षा में नहीं गये।

(ii) आदतन—जो 11% से 30% दिनों तक स्कूल में नहीं जाते और अपने मित्रों के साथ बाहर घूमते रहते हैं।

(iii) पुनरावृत्ति वाले—जो 30% से भी अधिक दिनों तक कक्षा में नहीं जाते। ऐसे छात्र आरामक और झगड़ालू होते हैं तथा अध्यापक का आदर नहीं करते। इन्हें दण्ड दिया जाता है किन्तु उसका भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भगोड़ेपन की अधिकांश (29·41%) प्रवृत्ति 10 से 12 वर्ष की आयु के छात्रों में थी। 150 रु० से कम मासिक आय वाले परिवारों में ही सबसे अधिक बच्चे (89·33%) भगोड़े थे। 61·18% बच्चों के परिवारों में माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध असामान्य थे। 45·88% बच्चों के अध्यापकों से सम्बन्ध असहयोग-

---

1 "The offence of a child absenting himself from school without acceptable excuse." —Fairchild, H. P., *Dictionary of Sociology*, p. 324.

2 R. N. Khanna, *Juvenile Truancy and the School*, quoted by Sushil Chandra, *op. cit.*, p. 9

पूर्ण थे। सबसे अधिक भगोड़ापन (37·66%) उन बच्चों में था जिनका घर स्कूल से 200 गज से कम दूर था। स्कूल से अनुपस्थित रहकर 35·44 बच्चे खेलकूद में समय व्यतीत करते थे, 17·65% अपने पिता को व्यापार में मदद करते तथा 11·76% घर का छोटा-मोटा कार्य करते।[1]

भगोड़ेपन को जन्म देने के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं, जैसे परिवार व स्कूल का अनुपयुक्त वातावरण, स्कूल में खेल-कूद, आकर्षण एवं मनोरंजन का अभाव, बुरे साथियों से सम्पर्क, सौतेले माता-पिता, अपराधी भाई-बहिन, परिवार की गरीबी, माता-पिता में तनाव, जेबखर्च न देना तथा स्कूल का घर से अधिक दूर होना आदि। भगोड़ेपन को रोकने के लिए स्कूल के वातावरण में सुधार किया जाय, छात्रों एवं अध्यापकों के सम्बन्ध मधुर बनाये जायें, उनमें शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न की जाय, गरीबी को दूर किया जाय तथा परिवार, पड़ौस एवं मित्रों से सम्बन्धित कमियों को दूर किया जाय।

बाल-अपराध की रोकथाम
(PREVENTION OF JUVENILE DELINQUENCY)

बाल-अपराध अपराध की दिशा में प्रथम सीढ़ी है। बुराई को उसी समय नष्ट कर दिया जाना चाहिए जब उसका उदय हो रहा हो। यदि हम समाज में अपराधों को रोकना चाहते हैं तो उसकी प्रथम सीढ़ी बाल-अपराध को रोकना होगा। कुछ समय पूर्व तक अपराधियों एवं बाल-अपराधियों में दंड की दृष्टि से कोई भेद नहीं किया जाता था। वर्तमान में उन्हें युवा-अपराधियों से भिन्न माना जाता है तथा दंड के स्थान पर उनके सुधार का प्रयास किया जाता है। बाल-अपराधियों को सुधारने के लिए वर्तमान में दो प्रकार के उपाय किए गये हैं : प्रथम, उनके लिये नये कानूनों का निर्माण किया गया है और द्वितीय, सुधार संस्थाओं एवं स्कूलों का निर्माण किया गया है जहाँ उन्हें रखने की सुविधायें हैं। यहाँ हम दोनों ही प्रकार के उपायों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

(अ) कानूनी उपाय

बाल-अपराधों को विशेष सुविधा देने और न्याय की उचित प्रणाली अपनाने के लिए बाल अधिनियम (Children Act) और सुधारालय अधिनियम (Reformatory Act) बनाये गये हैं। भारत में बच्चों की सुरक्षा के लिए 20वीं सदी की दूसरी दशाब्दी से कई कानून बने। इससे पूर्व सन् 1850 के 'अप्रेन्टीसेज एक्ट' (Apprentices Act, 1850) के तहत 10 से 18 वर्ष की आयु के बच्चों पर अपराध करने पर कार्यवाही की जाती थी। सन् 1860 में भारतीय दंड संहिता के भाग 399 व 562 में बाल-अपराधियों को जेल के स्थान पर रिफोर्मेट्रीज में भेजने का प्रावधान किया गया। दंड विधान इतिहास में पहली बार यह स्वीकार किया

1 *Ibid.*, pp. 16-31.

गया कि बच्चों को दण्ड देने के बजाय उनमें सुधार किया जाय एवं उन्हें युवा-अपराधियों से पृथक् रखा जाय। उन्हें कुछ व्यवसायों का प्रशिक्षण देने की बात भी कही गई। धारा 562 में प्रथम-अपराधी को सजा से मुक्त करने की बात भी कही गई यदि उसकी आयु 21 वर्ष से कम है।

सम्पूर्ण भारत के लिए सन् 1876 में सुधारालय स्कूल अधिनियम (Reformatry School Act) बना जिसमें 1897 में पुनः संशोधन किया गया। यह अधिनियम भारत के अन्य स्थानों पर 15 एवं बम्बई में 16 वर्ष के बच्चों पर लागू होता था। इस कानून में बाल-अपराधियों को औद्योगिक प्रशिक्षण देने की बात भी कही गई थी।

20वीं सदी में सामाजिक सुधार और अपराधी न्याय को प्रान्तों का विषय बना दिया गया। अब अखिल भारतीय स्तर के स्थान पर अलग-अलग प्रान्तों में बाल अधिनियम बने। सन् 1920 में मद्रास में, 1922 में बंगाल में, 1924 में बम्बई में, 1928 में दिल्ली में, 1941 में मैसूर में, 1945 में पंजाब में, 1949 में उत्तर-प्रदेश में और 1970 में राजस्थान में बाल-अधिनियम बने। इस प्रकार सन् 1850 के बाद से बाल-अधिनियम बनाकर समाज-विरोधी व्यवहार व्यक्त करने वाले बालकों को प्रशिक्षण देने तथा कुप्रभाव से बचाने के प्रयास किये गये। उनके लिए दंड के स्थान पर सुधार को स्वीकार किया गया है और यदि सम्भव हो तो उन्हें शीघ्र मुक्त करने की बात भी कही गई।

बाल-न्यायालय (Juvenile Court)—19वीं सदी तक बाल-अपराधियों के साथ युवा अपराधियों की तरह ही व्यवहार किया जाता था। सन् 1899 में सर्वप्रथम अमेरिका के इलिनोज राज्य के शिकागो शहर में बाल-न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय का मुख्य उद्देश्य यह था कि राज्य उन बच्चों को संरक्षण प्रदान करे जो अपने माता-पिता की लापरवाही के कारण अपराधी बन गये हैं। इन न्यायालयों में बाल-अपराधियों की सुनवाई अनौपचारिक विधि से की जाती है। इनमें उनके प्रति बदले की भावना का अभाव होता है। इनके द्वारा बच्चे को संरक्षण एवं पुनर्वास की सुविधा प्रदान की जाती है। बालकों एवं नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षा की जाती है।

सेठना के शब्दों में, "बाल-न्यायालय, विशेष न्यायालय हैं जिनका उद्देश्य बाल अपराधियों एवं बालकों जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता होती है, को मदद और संरक्षण प्रदान करना है।"[1]

भारत के बाल-न्यायालय ब्रिटिश बाल-न्यायालयों के आदर्शों पर आधारित हैं और वे अमेरिका की तरह सुधारात्मक (Correctional) के स्थान पर न्यायिक

1 "Juvenile courts are special courts for helping and protecting Juvenile Delinquents and Children who need protection." —Sethna, *op. cit.*, p. 351.

या अपराधी न्यायालय (Jurisdictional or Criminal Courts) अधिक हैं। यद्यपि ये संरक्षकत्व (guardianship) के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं फिर भी वे जापान की तरह के सामाजिक एवं व्यापारिक न्यायालय नहीं हैं। सरचना और प्रशासन की दृष्टि से बाल-न्यायालय भारत मे अपराधी-न्यायालय के समान ही हैं। प्रशासन की दृष्टि से वे राज्य की न्याय व्यवस्था के अग हैं। जो युवा-न्यायालयो के न्यायाधीश होते हैं, उन्ही मे से बाल-न्यायालय के न्यायाधीश भी नियुक्त किये जाते हैं जो सप्ताह मे एक या दो दिन बाल-न्यायालयो मे भी सुनवाई करते हैं। बाल-न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय से जुड़े होते हैं और उनकी अपील युवा-न्यायालयों में की जा सकती है।

बाल-न्यायालयों की स्थापना भारत मे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पूना, बेलगाँव, नासिक, धारवाड़, बीजापुर, आदि शहरों मे तथा कर्नाटक, महाराष्ट्र व गुजरात मे कई स्थानो पर की गयी है। बम्बई मे दो प्रकार के बाल-न्यायालय हैं— (i) विशिष्ट बाल-न्यायालय। (ii) वे बाल-न्यायालय जिन्हे बम्बई बाल-अधिनियम के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त हैं।

बाल-न्यायालय मे एक प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट, एक या दो आनरेरी लेडी मजिस्ट्रेट, अपराधी बालक, उसके माता-पिता एवं संरक्षक, प्रोबेशन अधिकारी, साधारण पोशाक मे पुलिस, कोर्ट का क्लर्क और कभी-कभी वकील भी उपस्थित रहते है। इनकी बैठक रिमांड होम मे साधारण तरीके से टेबुल कुर्सी लगाकर की जाती है जिसमे बच्चे को यह महसूस न हो कि वह अपराधी है। सुनवाई करने वालो और बच्चे के बीच अनौपचारिक बातचीत होती है। बाल-न्यायालय का सारा वातावरण इस प्रकार का होता है कि बच्चे के मस्तिष्क से कोर्ट का आतंक और भय दूर हो जाय। ज्यो ही कोई बालक अपराध करता है तो पहले उसे रिमांड होम में भेजा जाता है और 24 घण्टे के भीतर उसे बाल-न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। उसकी सुनवाई के समय उस व्यक्ति को भी बुलाया जाता है जिसके प्रति बालक ने अपराध किया है। सुनवाई की कार्यवाही आम अदालतों की तरह ही होती है। इन न्यायालयों की कार्यवाही को अखबारों में छापने की मनाई होती है तथा गोपनीयता बरती जाती है। सुनवाई के बाद अपराधी बालकों को चेतावनी देकर, जुर्माना करके या माता-पिता से बॉड भरवा कर उन्हें सौंप दिया जाता है अथवा उन्हें परिवीक्षा पर छोड़ सकते हैं या किसी सुधार सस्था, मान्यता-प्राप्त विद्यालय, परिवीक्षा होस्टल आदि मे भी रखा जा सकता है। भारत में 9 राज्यों मे विशिष्ट बाल-न्यायालय हैं। उनमे से महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, पश्चिमी बगाल, आंध्र तथा दिल्ली आदि प्रमुख हैं।

कुछ विद्वानो का मत है कि बाल-न्यायालय अधिक उपयोगी नहीं हैं क्योंकि इनमे अपराधियों को मुक्त कर दिया जाता है या कम दड दिया जाता है। अन-

अपराध को बढ़ावा मिलता है। कुछ लोग इसकी परम्परात्मक कार्य-विधि एवं बाल-अपराधियों के लिए संरक्षण की व्यवस्था के अभाव के कारण असन्तुष्ट हैं।

(ब) सुधारात्मक संस्थाएँ

बाल-अपराधों को रोकने का दूसरा प्रयास सुधारात्मक संस्थाओं एवं सुधारालयों की स्थापना करके किया गया है जिनमें कुछ समय तक बाल-अपराधियों को रखकर प्रशिक्षण दिया जाता है। हम यहाँ कुछ ऐसी ही संस्थाओं का उल्लेख करेंगे :

सुधारालय या रिमाण्ड होम (Remand Home)—अपराध करने के पश्चात् जब पुलिस बच्चे को पकड़ कर लाती है तो सर्वप्रथम उसे रिमाण्ड होम में ही रखा जाता है। जेल में रखने पर उसका सम्पर्क युवा-अपराधियों से होने पर उसके अधिक अपराधी बन जाने की सम्भावना रहती है। जब तक बच्चे की अदालती कार्यवाही चलती है, उसे रिमाण्ड होम में ही रखा जाता है। अनाथ और निराश्रित बच्चों एवं बन्दी-गृहों से पृथक् किये गये अपराधियों को भी ऐसे गृहों में रखा जाता है।

रिमांड होम में प्रोबेशन अधिकारी बच्चे की पृष्ठभूमि, सामाजिक वातावरण तथा शारीरिक एवं मानसिक दशाओं आदि का अध्ययन करता है। यहाँ बच्चों को मनोरंजन, शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। ऐसे गृहों में बच्चे से सही सूचनायें प्राप्त की जाती हैं जो वे न्यायाधीश के सम्मुख देने से घबराते हैं। भारत में दिल्ली एवं अन्य 9 राज्यों में रिमांड होम हैं, जिनमें महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर, आंध्र-प्रदेश, केरल, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु आदि प्रमुख हैं। कहीं-कहीं पर जैसे गुजरात, दिल्ली, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि में मन चिकित्सकों (Psychiatrists) द्वारा भी बच्चों का अध्ययन किया जाता है। कहीं-कहीं पर लड़के व लड़कियों के लिए अलग-अलग रिमांड होम हैं।

प्रमाणित विद्यालय (Certified School)—इन विद्यालयों में भी बाल-अपराधियों को रखा जाता है। यह एक प्रकार से औद्योगिक विद्यालय हैं जिन्हें राज्य की स्वीकृति प्राप्त होती है। पहले बाल-अपराधी को रिमांड होम में रखा जाता है। जब परिवीक्षा अधिकारी उसके सामाजिक वातावरण एवं पृष्ठभूमि का अध्ययन करके न्यायालय के सम्मुख अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है और यदि यह महसूस किया जाता है कि उसे किसी सुधार संस्था में रखने की आवश्यकता है तो उसे इस विद्यालय में रखा जाता है। किसी भी बाल-अपराधी को कितने समय तक प्रमाणित स्कूल में रखा जाय, इस बारे में अलग-अलग राज्यों के अपने-अपने नियम हैं। इस विद्यालय को छोड़ने से पूर्व उसे एक लाइसेन्स प्रदान किया जाता है और उसे किसी न किसी के संरक्षण में ही छोड़ा जाता है। अधिकांशतः 18 वर्ष की आयु में बच्चे को रिहा कर दिया जाता है।

बम्बई, हैदराबाद, मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन आदि स्थानों पर इस प्रकार के सरकारी और गैर-सरकारी विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में भी बच्चों की शिक्षा एवं

प्रशिक्षण का प्रबन्ध होता है तथा उनका माता-पिता एव समाज के साथ सामञ्जस्य कराने का प्रयत्न किया जाता है। उनके लिये व्यवसाय व नौकरी की खोज भी की जाती है।

बोर्स्टल स्कूल (Borstal School)—इस प्रणाली के जन्मदाता ऐल्विन रैगिल्स ब्राइस (Alwin Regils Brice) थे। सर्वप्रथम अमेरिका के केन्ट प्रान्त में बोर्स्टल नामक स्थान पर इस प्रकार के स्कूल की स्थापना की गई। सन् 1930 मे बिना दीवार वाले बोर्स्टल विकसित हुए। बोर्स्टल एक स्थान है जहाँ किशोर अपराधियों को, जिनकी आयु 15 से 21 वर्ष हो, रखा जाता है। उन्हें वहाँ प्रशिक्षण एव निर्देशन दिये जाते हैं तथा अनुशासन मे रखकर उनका सुधार किया जाता है। भिन्न-भिन्न राज्यो मे इन स्कूलो मे अपराधियो को रखने का समय अलग-अलग है जो 2 से लेकर 5 वर्ष तक का है। मद्रास मे 23 वर्ष की आयु तक एव बम्बई मे 23 वर्ष के बाद मे अपराधियो को इस सस्था मे रखा जाता है। इस सस्था मे उन्हीं अपराधियों को प्रवेश दिया जाता है जिनकी सिफारिश अदालत या जेल महानिरीक्षक ने की हो।

अवधि समाप्त होने, अच्छे आचरण का आश्वासन एव भविष्य मे अपराध न करने का वचन देने पर अपराधी को इस विद्यालय से मुक्त किया जाता है। यहाँ अपराधी को मुक्त वातावरण मे रखा जाता है। उसकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एव चारित्रिक क्षमताओ का विकास किया जाता है। उसमे उत्तरदायित्व एवं आत्म-नियन्त्रण की भावना का विकास किया जाता है। उसके लिए जिमनास्टिक, उद्योग-धन्धों के प्रशिक्षण एवं शिक्षा आदि का प्रबन्ध किया जाता है। भारत मे 9 राज्यों में इस प्रकार के बोर्स्टल हैं। ये स्कूल अपराधी का समाज से पुन सामञ्जस्य कराने में योग देते हैं। एक बोर्स्टल में अपराधियों को कई छोटे छोटे समूहो मे बाँटा जाता है। प्रत्येक टुकड़ी का एक मॉनीटर होता है। उत्तम आचरण वाले को स्टार प्रदान किया जाता है। इन्हें वर्ष 15 दिन तक घर जाने का अवकाश दिया जाता है। पत्र लिखने, रिश्तेदारों से मिलने, मन पसन्द प्रशिक्षण पाने, बिना निगरानी के बाहर घूमने आदि की छूट होती है। वर्कशाप व मनोरंजन-कक्ष तथा भोजनशाला में काम करने एव खेल-कूद प्रतियोगिताओं मे भाग लेने आदि की भी इन्हें छूट होती है। पजाब, मध्य प्रदेश, मैसूर, बगाल में बहरामपुर तथा बम्बई मे धारवाड में बोर्स्टल स्कूल हैं।

परिवीक्षा होस्टल्स (Probation Hostels)—न्यायालय जब किसी बाल-अपराधी को परिवीक्षण पर छोड़ता है और जब किसी बच्चे के माता-पिता या सरक्षक नहीं होते हैं तो उन्हें परिवीक्षा होस्टल में रखा जाता है। ऐसे होस्टल्स में रहने वाले व्यक्ति को दिन में नौकरी करने एवं घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता होती है किन्तु रात्रि को ठीक समय पर वापस वहाँ पहुँचना उसके लिये अनिवार्य होता है। होस्टल वार्डन इन लोगों की गतिविधियों की देख-रेख रखता है।

किशोर बन्दीगृह (Juvenile Jail)—इस प्रकार की जेल बरेली में है जहाँ 21 वर्ष तक की आयु के अपराधियों को रखा जाता है। उन्हें जेल में शिक्षा एवं विभिन्न व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाता है। इन्हें जेल से बाहर जाने एवं अध्ययन करने की छूट होती है। इनके लिये कैंन्टीन तथा पचायत की भी व्यवस्था है। पचायत ही सफाई, भोजन एव मनोरजन आदि की व्यवस्था करती है। यहाँ बन्दियों की प्रगति का पूर्ण ब्यौरा रखा जाता है।

रिफोर्मेट्री स्कूल (Reformatry Schools)—इन स्कूलों मे 16 वर्ष से कम आयु के उन बच्चो को रखा जाता है जो पहले सजा काट चुके हैं या जिन्होंने गम्भीर अपराध नही किये हैं। सर्वप्रथम इगलैंड मे सन् 1854 मे रिफोर्मेट्री स्कूल अधिनियम बना। भारत मे यह अधिनियम सन 1897 मे बना। इस अधिनियम के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति को किशोर अपराधी माना गया जिसे कारागार या देश निष्कासन की सजा दी गई हो और जो अपराध करने के समय बम्बई मे 16 वर्ष और अन्य राज्यो मे 15 वर्ष से कम की आयु का हो। अलग-अलग प्रान्तो में इस प्रकार की स्कूलों में प्रवेश की शर्तों मे अन्तर है क्योकि अधिनियम की धारा 8 की उपधारा 3 के अधीन राज्यो को यह अधिकार दिया गया है कि वे प्रवेश के नियम बनायें।

इस प्रकार के विद्यालयों का उद्देश्य अपराधी बालक का सुधार और पुनर्वास करना है। इन स्कूलो मे बच्चो का सुधार करके उनका समाज के साथ सामंजस्य कराया और प्रशिक्षण देकर उन्हें कमाने योग्य बनाया जाता है। इन स्कूलो मे अपराधियों का अध्ययन भी किया जाता है। उन्हें शिक्षा एव विभिन्न व्यवसायों का उनकी रुचि के अनुसार प्रशिक्षण दिया जाता है। इनके द्वारा निर्मित वस्तुओ को बाजार मे बेचकर लाभ को उनके कोष मे जमा किया जाता है। इन विद्यालयो में रेडक्रास, स्काउटिंग, कृषि, चमड़े का काम, खिलौने, दरी, निवाड, रस्सी बनाने, बढ़ईगिरी, सिलाई आदि का काम सिखाया जाता है। जिनका काम अच्छा होता है उन्हें वर्ष मे 15 दिन तक घर जाने की छुट्टी भी दी जाती है। मुक्त होने के लिए अर्जी देनी होती है। समय समाप्त होने पर या किसी अन्य कारण से भी अपराधी को मुक्त कर दिया जाता है। अधिकाधिक 7 एवं कम से कम 3 वर्ष तक अपराधियो को इन विद्यालयों मे रखा जा सकता है। 18 वर्ष से कम आयु के बच्चो को सुधार विद्यालयों मे नहीं रखा जाता। जबलपुर, हजारीबाग, लखनऊ आदि मे इस प्रकार के विद्यालय हैं। जेल अधिकारियो का पूर्णत प्रशिक्षित न होना, मनोवैज्ञानिक ज्ञान का अभाव, विभिन्न प्रकार के व्यवसाय हेतु प्रशिक्षण की सुविधाओ का न होना तथा सुधारालय के जेल विभाग का ही एक अग होना आदि कुछ ऐसे कारक हैं जिनकी वजह से ऐसे विद्यालय अपने उद्देश्यो मे पूर्णत. सफल नहीं हो रहे हैं। बाल-अपराधों की रोक-थाम एवं बाल-अपराधियो के सुधार हेतु यह आवश्यक है कि बालकों को परिवार एवं स्कूल में स्वस्थ वातावरण प्रदान किया जाय, कारणो की सही खोज की

जाय, तथ्यों का वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण किया जाय और अधिकारियों में अपने कार्य के प्रति पूर्ण निष्ठा और कर्त्तव्य-परायणता जागृत की जाय।

प्रश्न

1. बाल-अपराध की परिभाषा दीजिये। भारत में बाल-अपराध के लक्षण बताइए।
2. भारत में बाल-अपराध के कारण बताइए।
3. बाल-अपराध में परिवार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. भारत में बाल-अपराध की समस्या को नियन्त्रित करने के लिए कौन-से उपाय अपनाये गये हैं ?
5. बाल-अपराध के लिए समाज कहाँ तक उत्तरदायी है ? उदाहरण सहित समझाइए।
6. "बाल-अपराध विघटित परिवार की देन है।" इस कथन की भारतीय परिपेक्ष्य में व्याख्या कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए
   (अ) आवारा बालक (Vagrant Child)
   (ब) भगोड़ापन (Truancy)
   (स) बाल न्यायालय (Juvenile Court)
   (द) अपराध और बाल-अपराध।

4
बेकारी
(UNEMPLOYMENT)

आज विश्व के अनेक देशों को बेकारी की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। यह समस्या न केवल औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों की है बल्कि सम्पन्न देशों की भी। विभिन्न देशो मे बेकारी के कारण पूर्णतया समान नहीं हैं। जहाँ औद्योगीकरण, यातायात के विकसित साधनों, मुद्रा, अर्थ व्यवस्था, बैंक व्यवस्था, मशीनीकरण आदि ने एक तरफ मानव को अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं, वहाँ दूसरी ओर इन्होंने आर्थिक मन्दी, बेकारी तथा गरीबी को भी जन्म दिया है। औद्योगीकरण के पूर्व बेकारी कृषि क्षेत्र तक ही सीमित थी और वह भी छुपी तथा अर्द्ध बेकारी के रूप मे थी। औद्योगीकरण के फलस्वरूप अब बेकारी कृषि के अतिरिक्त अनेक अन्य क्षेत्रों में भी पाई जाती है। औद्योगीकरण ने पूँजीवाद के विकास एवं सम्पत्ति के असमान वितरण मे योग दिया और साथ ही समाज में आर्थिक एव सामाजिक विषमता को बढ़ावा भी दिया। औद्योगीकरण एव पूँजीवाद के विकास के फलस्वरूप अनेक सामाजिक एव आर्थिक समस्याओ का जन्म हुआ जिनमे से बेकारी भी एक है। बेकारी न केवल आर्थिक समस्या है वरन् एक सामाजिक समस्या भी। बेकारी व्यक्ति के जीवन को छिन्न-भिन्न कर देती है और उसके पारिवारिक सम्बन्धों पर कुप्रभाव डालती है। बेकारी व्यक्ति मे निराशा एवं हीनता की भावना पैदा करती है और कई बार इससे प्रभित व्यक्ति अपराध तक करने के लिए बाध्य होते हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के स्वस्थ एव सर्वांगीण विकास की दृष्टि से आवश्यक है कि बेकारी की समस्या को युद्ध स्तर पर हल किया जाय।

बेकारी की परिभाषा और अर्थ
(DEFINITION AND MEANING OF UNEMPLOYMENT)

बेकारी शब्द की उपयुक्त और सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है। इसलिए ही प्रो० पीगू कहते हैं, "बेकारी उन विभिन्न शब्दों में से एक है जिनका साधारण व्यक्ति प्रयोग करते हैं तथा जिसका साधारण अर्थ लगभग सभी जानते हैं परन्तु जिसकी ठीक व्याख्या करना कुछ कठिन है। उदाहरणस्वरूप क्या हम बेकार व्यक्तियों

में इन लोगों को सम्मिलित कर सकते हैं जो सुस्त हैं और काम नहीं करना चाहते, जो बीमार हैं या हड़ताल पर रहने के कारण काम पर नहीं आ रहे हैं या इसी प्रकार के अन्य लोगों को भी जो इस समय काम पर नहीं लगाये जा सकते। इस सम्बन्ध में कोई निर्णय देना न्याय पर आधारित न होकर मनमाना ही होगा।"[1]

बेकारी की परिभाषा करते हुए फेयरचाइल्ड ने लिखा है, "सामान्य दशाओं तथा सामान्य वेतन-दर पर व्यक्ति को बलपूर्वक और अनैच्छिक रूप से वेतन के काम से अलग कर देने की स्थिति।"[2]

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि व्यक्ति कार्य करने की दशा में है किन्तु बाजार में उचित मजदूरी दर पर उसे कार्य नहीं मिल पाता है। एक डाक्टर अस्पताल खोल कर बैठा है किन्तु बीमार न आने पर भी वह बेकारी की परिभाषा में नहीं आता। एक किसान कृषि कर रहा है और उसमें उसे घाटा हो रहा है फिर भी वह बेकारी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। इसी प्रकार से कम दर पर काम करने वाला व्यक्ति भी इस परिभाषा के अन्तर्गत बेकार नहीं माना जायगा। जी० आर० मदान के अनुसार, "उस देश में बेकारी है जहाँ स्वस्थ शरीर वाले ऐसे व्यक्तियों को मजदूरी के सामान्य स्तर पर काम नहीं मिल पाता जो काम करना चाहते हैं।"[3]

इस परिभाषा में भी शारीरिक एवं मानसिक असमर्थता के कारण जो लोग बेकार हैं जैसे बच्चे, बूढ़े, बीमार एवं अपंग आदि, उन्हें बेकारों में सम्मिलित नहीं किया गया है तथा काम न करने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों जैसे भिखारी, साधु आदि को भी बेकारों की श्रेणी में नहीं गिना गया है। डिमेलो ने "बेकार व्यक्ति उसी को माना है जो अपनी इच्छा होते हुए भी वेतन भोगी कार्य नहीं पा सकता।"[4] प्रो० पीगू के अनुसार, "बेकारी का अर्थ वेतन अर्जक वर्ग में व्याप्त बेकारी से है और उसका सम्बन्ध केवल मजदूरी कार्य से ही होता है।"[5] इस परिभाषा में भी बेकारी के अन्तर्गत ऐच्छिक रूप से बेकार, बालक, वृद्ध एवं बीमार आदि को सम्मिलित नहीं किया गया है। कुछ विद्वानों ने बेकारी की परिभाषा में श्रम शक्ति की माँग और

1 Pigou A. C., *Unemployment* (1913), p 17.

2 "Enforced or involuntary separation from remunerative work on the part of a member of the normal working force, during normal working time at normal wages and under normal working conditions."
—H P. Fairchild, *Dictionary of Sociology*, p 317.

3 "Unemployment is said to exist in a country where the able bodied persons of working age who are willing to work, are not able to find work at the current wage level."
—Madan, G. R., *Social Change and Social Problems in Indian Society*, p 226.

4 "An individual not being in a state of remunerative occupation despite his desire to be so." —D. Mello, *Seminar No* 120, Aug 1969, p 24

5 "Unemployment means unemployment among the wage earning classes and in respect of wage work only." —Pigou A. C., *op cit*, pp 14-15.

पूर्ति माना है। बैंक ऑफ बड़ौदा की वीकली रीव्यू के अनुसार, "बेकारी श्रम शक्ति की पूर्ति तथा श्रम शक्ति की माँग के बीच अन्तर है।"[1]

प्रो० राजकृष्ण ने 'इण्डियन सोसायटी ऑफ एग्रीकल्चरल इकोनोमिक्स' (Indian Society of Agricultural Economics) के 23वें अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में बेकारी के निर्धारण के चार आधार बताये हैं। वे हैं—समय, आय, काम करने की इच्छा तथा उत्पादनशीलता (time, income, willingness, productivity)। वे लिखते हैं, "एक व्यक्ति बेकार या अर्द्धबेकार तब कहा जायेगा जब वह पूर्ण रोजगार अवधि द्वारा परिभाषित अवधि से कम समय के लिए वर्ष में कोई काम कर रहा है जो कि सप्ताह में 36 घण्टे हैं, तथा एक व्यक्ति वर्ष में कम से कम इच्छित आय से भी कम कमाता हो, और वह वर्तमान में जितना काम कर रहा है उससे अधिक काम करने की इच्छा रखता हो, तब वह व्यक्ति पूरी तरह से रोजगार प्राप्त नहीं माना जायेगा। जिस कार्य में व्यक्ति वर्तमान में लगा हुआ है यदि उस कार्य से उसे हटा दिया जाता है और इसका प्रभाव साधारण उत्पादन पर नहीं पड़ता है तो इसका अर्थ है कि उसकी सीमान्त उत्पादकता कुछ नहीं है।"[2]

राजकृष्ण की परिभाषा अपेक्षाकृत विस्तृत है और उनके द्वारा बताये गये विभिन्न आधारों में से प्रत्येक के आधार पर बेकारी के आँकड़े भिन्न-भिन्न होंगे। इन आधारों में से प्रत्येक की अपनी उपयोगिता है। बेकारी की कोई भी परिभाषा तब तक उपयुक्त नहीं मानी जायेगी जब तक उसमें काम के घण्टों, मजदूरी की दर, मनुष्य की आयु एवं स्वास्थ्य की दशा तथा उत्पादनशीलता को ध्यान में नहीं रखा गया हो।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से बेकारी के पाँच प्रमुख तत्त्व स्पष्ट होते हैं : (i) इच्छा—अर्थात् किसी भी व्यक्ति को बेकार उसी समय कहेंगे जब वह काम करने की इच्छा रखता हो और उसे काम न मिले। (ii) योग्यता—केवल मात्र काम करने की इच्छा होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् व्यक्तियों में कार्य करने की शारीरिक एवं मानसिक योग्यता भी होनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अंग-भंग होने, बीमार होने, वृद्ध होने अथवा पागल होने के कारण कार्य करने के योग्य नहीं है तो

1 "Unemployment is the difference between the supply of labour force and the demand for labour force."
—*Bank of Baroda, Weekly Review*, Vol 11 No 2, Jan 12, 1973, p 2

2 "A person is called unemployed or under-employed if he is gainfully occupied during the year for a period less than a period defined as the full employment period which is defined as 36 hours in a week. Also if a person earns an annual income less than some desirable minimum or if he is willing to do more work than at present on term to which he is accustomed to, then the person is not fully employed. Again if he can be dispensed with or removed from the present engagement without effecting the moral output it means that the marginal productivity is nil." —Prof Raj Krishna, quoted by *Bank of Baroda, Weekly Review*, Vol. 11, No 2, Jan 12, 1973 p 1

उसे हम कार्य करने की इच्छा रखने पर भी बेकार नहीं कहेंगे। (iii) प्रयत्न—व्यक्ति में कार्य करने की इच्छा एवं योग्यता ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसके द्वारा कार्य पाने के लिए प्रयत्न करना भी आवश्यक है। अतः प्रयत्न के अभाव में योग्य एवं इच्छा रखने वाले व्यक्ति को भी बेकार नहीं कह सकते। (iv) आर्थिक उद्देश्य—व्यक्ति द्वारा काम करने का उद्देश्य धन अर्जन करना होना चाहिए। यदि दर्जी को अन्यत्र काम नहीं मिलता और उसके द्वारा स्वयं के परिवार के बच्चों के लिए ही कपड़े बनाये जाते हैं, तो यह स्थिति भी बेकारी की स्थिति ही है। (v) योग्यता के अनुसार पूर्ण कार्य—यदि एक व्यक्ति को जिस कार्य एवं पद के लिए वह योग्य है, से कम कार्य एवं पद प्राप्त है और इस आधार पर प्राप्त होने वाली आय भी कम है तो उसे हम पूर्ण रोजगार प्राप्त व्यक्ति न कह कर आंशिक रोजगार प्राप्त व्यक्ति कहेंगे। उदाहरण के लिए एक डाक्टर को कम्पाउण्डर तथा एक इंजीनियर को ओवरसीयर के पद पर काम करना पड़े और उसी के अनुरूप वेतन मिले तो हम इस स्थिति को भी आंशिक बेरोजगारी की स्थिति कहेंगे।

स्पष्ट है कि बेकारी वह दशा है जिसमें एक व्यक्ति को काम करने की इच्छा रखने एवं अर्थोपार्जन करने हेतु प्रयत्न करने पर भी पूर्ण रोजगार प्राप्त न हो। अन्य शब्दों में बेकारी वह अवस्था है जिसमें शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ एवं समर्थ व्यक्ति को जो कार्य करने की इच्छा रखता है, प्रचलित मजदूरी दर पर काम नहीं मिलता हो।

बेकारी के प्रकार
(TYPES OF UNEMPLOYMENT)

बेकारी की परिभाषा में भिन्नता एवं विभिन्न क्षेत्रों में इसके विस्तार के कारण, बेकारी के प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। हम संक्षेप में यहाँ इसके प्रकारों का उल्लेख करेंगे

(i) मौसमी तथा आकस्मिक बेकारी (Seasonal or Causal Unemployment)—अनेक व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें वर्ष में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। कभी उनमें श्रमिकों की अधिक आवश्यकता होती है तो कभी बिल्कुल आवश्यकता नहीं रहती। उदाहरण के लिए चीनी उद्योग नवम्बर से मई तक चलता है, ऊन उद्योग सर्दियों में एवं बर्फ के कारखाने गर्मियों में ही चलते हैं। कृषि में भी फसल काटने के समय अधिक मजदूरों की आवश्यकता होती है। शादियों एवं त्यौहारों के अवसर पर जेवर उद्योग भी अच्छा चलता है जबकि शेष दिनों में इस क्षेत्र में अधिक कार्य नहीं होता।

इस प्रकार की बेकारी मजदूरों में गतिशीलता उत्पन्न कर देती है और वे रोजगार की तलाश में शहरों एवं औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाते हैं। ऐसे व्यवसायों में लगे लोगों के जीवन में असन्तुलन एवं अस्थिरता पैदा हो जाती है। इसे रोकने के लिए उन्हें रिक्त समय में भत्ता दिया जाना चाहिए।

(ii) प्रौद्योगिक बेकारी (Technological Unemployment)—उद्योगों में मशीनीकरण एवं नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप मानव-शक्ति का प्रयोग घटा है। अनेक उत्पादन के कार्य स्वचालित यन्त्रों के द्वारा होने लगे हैं और उनमें लगे व्यक्तियों की संख्या दिनों-दिन कम होती जा रही है। परिणामस्वरूप बेकारी बढ़ती जा रही है। कुछ अनुसन्धान तो कई उद्योगों को ही अस्त-व्यस्त कर देते हैं। नाइलोन के प्रचलन ने जापान के रेशम उद्योग को तथा इटलियन ऊन ने भेड़ ऊन के उद्योग में हलचल मचा दी। नवीन आविष्कार पुराने व्यवसायों को बन्द करके बेकारी की समस्या पैदा और नये बाजारों का क्षेत्र समाप्त कर देते हैं। नवीन आविष्कारों एवं प्राविधि के कारण नये व्यवसाय पनपते हैं जो रोजगार प्रदान करते हैं। इस प्रकार मशीनीकरण, रोजगार और बेकारी दोनों ही स्थितियों को जन्म देता है। बड़े उद्योगों की स्थापना से भारत में कुटीर व्यवसायों में लगे लोग बेकार हो गये। उद्योगों में अभिनवीकरण (rationalization) एवं प्रतिस्पर्धा होने तथा आर्थिक मन्दी के कारण कारखानों के बन्द हो जाने से भी बेकारी बढ़ जाती है।

(iii) अस्थाई बेकारी (Temporary Unemployment)—शिक्षा या प्रशिक्षण समाप्त करने के बाद जब तक व्यक्ति को कोई कार्य नहीं मिलता उस समय तक वह बेकार रहता है, किन्तु ज्यों ही किसी व्यवसाय में काम मिल जाता है वह रोजगार-प्राप्त व्यक्तियों की श्रेणी में आ जाता है।

(iv) घर्षण बेकारी (Friction Unemployment)—इस प्रकार की बेकारी लोगों की रोजगार सम्बन्धी अवसरों की अनभिज्ञता, श्रमिकों में गतिशीलता का अभाव, मशीनों की टूट-फूट एवं उद्योगों में कच्चे माल की कमी आदि कारणों से उत्पन्न होती है।

(v) चक्रीय बेकारी (Cyclic Unemployment)—इस प्रकार की बेकारी का सम्बन्ध व्यापारिक चक्रों से है। व्यापार में उतार-चढ़ाव के चक्र (boom and depression cycle) आते रहते हैं। जब किसी व्यवसाय में लाभ के अवसर अधिक होते हैं तो सभी लोग उसे अपनाने लगते हैं किन्तु कुछ समय बाद लाभ की मात्रा कम होने पर उसको छोड़ने लगते हैं। इस प्रकार पहले अर्थ-व्यवस्था का विकास होता है फिर संकुचन (contraction)। जब एक व्यवसाय में मन्दी आती है तो दूसरा व्यवसाय अपनाया जा सकता है किन्तु जब सभी उद्योगों में या देशव्यापी मन्दी आती है तो लोगों को मजबूर बेकारी एवं कष्टों का सामना करना पड़ता है। कोन्स के अनुसार प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण मन्दी की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि की जाए तो बेकारी दूर हो जाती है।

(vi) अर्द्ध-बेकारी (Under-Employment)—जब व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार काम नहीं मिलता हो, जैसे एक डाक्टर को कम्पाउण्डर के पद पर और एक इन्जीनियर को ओवरसीयर के पद पर कार्य करना पड़े और वेतन भी कम प्राप्त

हो तो उसे हम अर्द्ध बेकारी की श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित करेंगे। इसी प्रकार से आंशिक रूप से रोजगार-प्राप्त (Part-time employed) व्यक्ति भी अर्द्ध बेकार कहलायेंगे कीन्स के अनुसार जब कोई व्यक्ति प्रचलित मजदूरी दर से भी कम मजदूरी पर कार्य करने हेतु तैयार हो जाता है तो वह भी अर्द्ध-बेकारी की स्थिति है।

(vii) ऐच्छिक बेकारी Voluntary Unemployment)—जब व्यक्ति काम करने की क्षमता होते हुए भी आलस्य, कम मजदूरी या मजदूरी में कटौती होने आदि के कारण काम नहीं करता है तो उसे ऐच्छिक बेकार माना जायेगा।

(viii) छुपी बेकारी (Disguised Unemployment)—अदृश्य या छुपी बेकारी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग श्रीमती जॉन रॉबिन्सन ने किया था। इस प्रकार की बेकारी ग्रामीण कृषि अर्थ-व्यवस्था मे देखी जा सकती है। भारत में लगभग सभी कृषक परिवार भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर कृषि करते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण भूमि पर दबाव बढ़ता जाता है और नये जन्म लेने वाले सदस्य भी पहले वाले सदस्यों के साथ उसी भूमि पर काम करने लगते हैं। प्रकट रूप मे तो ऐसा लगता है कि सभी रोजगार मे लगे हुए हैं किन्तु उनके द्वारा उत्पादन मे कोई वृद्धि नहीं होती है। यदि उनमे से कुछ को कृषि कार्य से हटाकर दूसरे व्यवसाय मे लगा दिया जाय तो भी कृषि उत्पादन मे कोई कमी नहीं आयेगी। इस प्रकार वे अप्रकट रूप से बेरोजगार ही थे।

(ix) शिक्षित बेकारी (Educated Unemployment)—शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद भी जब लोग बेकार हो तो उन्हें हम इस श्रेणी मे रखेंगे। भारत में एम० ए०, बी० ए०, डाक्टरी, इंजीनियरिंग और अन्य तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति बेकार हैं।

(x) सरचनात्मक बेकारी (Structural Unemployment)—इस प्रकार की बेकारी का मूल कारण किसी देश की अर्थ व्यवस्था मे सरचनात्मक परिवर्तन है। उदाहरण के लिए, भारत से विदेशो म निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के व्यवसाय में यदि लम्बे समय तक कमी आ जाती है या निर्यात की माँग घट जाती है, तो उन व्यवसायो मे बेकारी उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार की बेकारी को सरचनात्मक बेकारी कहा जाता है।

बेकारी के कारण
(CAUSES OF UNEMPLOYMENT)

बेकारी के कारण इतने विस्तृत और भिन्न हैं कि उनका कोई भी वर्गीकरण अपूर्ण ही होगा। इलियट एव मेरिल[1] ने बेकारी के कारणो को दो भागों मे बाँटा है: व्यक्तिगत कारण और अवैयक्तिक कारण। यहाँ हम इन दोनों प्रकारों का उल्लेख करेंगे।

1 Elliot and Merrill *Social Disorganization*, p. 441.

(1) व्यक्तिगत कारण (Personal Factors)

जब व्यक्ति की बेकारी के लिए उसकी शारीरिक-मानसिक अक्षमता उत्तरदायी हो तो उसे व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न बेकारी कहेंगे, जो कारण इस प्रकार हैं :

(अ) आयु (Age Factor)—आयु की दृष्टि से हम व्यक्तियों का विभाजन बालक, युवा और वृद्धों में कर सकते हैं। बालकों एवं वृद्धों में बेकारी की समस्या युवा लोगों की अपेक्षा गम्भीर है। जब कभी भी कार्य करने के अवसर कम हो जाते हैं तो सभी प्रकार के आयु समूहों में बेकारी फैल जाती है। युवा लोगों में अनुभव की कमी होती है। अतः जो व्यक्ति व्यवसाय की खोज में घूमते हैं, उन्हें कठिनाई का सामना करना होता है। जो व्यवसाय संगठित रूप से चल रहे हैं, उनमें मजदूर बेकारी के दिनों की सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध कराते हैं, किन्तु असगठित व्यवसाय में अनुभवी व्यक्तियों को ही लिया जाता है। युवा-वर्ग के लोगों को अनुभव की कमी के कारण नये व्यवसायों में प्राथमिकता नहीं दी जाती। मध्य आयु के व्यक्ति जो 25 से 40 वर्ष के होते हैं, बेकारी से कम ग्रसित होते हैं। 40 के बाद और प्रमुख रूप से 50 और 60 वर्ष के लोगों में बेकारी अधिक होती है क्योंकि जब श्रम बाजार में युवा कार्यकर्ता मिलते हैं तो वृद्धों को कोई भी नौकरी देना नहीं चाहेगा। वृद्धों द्वारा युवा लोगों की तुलना में उत्पादन कम होता है। उनके दुर्घटना के अवसर अधिक होते हैं और वे अनुकूलन करने में भी कठिनाई महसूस करते हैं।[1] एक तथ्य यह भी है कि वृद्धों की तुलना में युवा लोगों में दुर्घटना की समस्या इसलिए अधिक होती है कि उनमें खतरा मोल लेने की इच्छा अधिक होती है। युवकों और वृद्धों को कार्य देने में भेद करने का एक कारण यह है कि वृद्ध लोगों को युवा की अपेक्षा शीघ्र पेन्शन देनी होती है. वे सेवा-निवृत्ति के नजदीक शीघ्र पहुँचते हैं और उन्हें बीमारी के लाभ भी देने होते हैं। वृद्धों को एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में स्थानान्तरित करने में भी कठिनाई होती है। योजना आयोग ने लिखा है, आयु की निश्चित सीमा के कारण वृद्ध लोगों को सरकारी नौकरियाँ नहीं मिल पातीं और गैर सरकारी संस्थाएँ तथा उद्योगपति वृद्धों की अपेक्षा युवकों को नौकर रखना अधिक पसन्द करते हैं।[2]

(ब) व्यावसायिक योग्यता (Vocational Fitness)—कई बार व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे क्या काम करना चाहिए, उसकी क्या रुचि है और वह किस काम को अधिक योग्यता से कर सकता है। कई बार व्यक्ति किसी भी काम को करने को तैयार हो जाता है। सेवायोजक या मालिक यह चाहते हैं कि उनके यहाँ ऐसे व्यक्ति काम करें जो योग्य, सक्षम और प्रशिक्षित हों। किसी क्षेत्र में

1 Beulah Amidon, *Jobs After Forty*, Public Affairs Pamphlet, No. 35, 1939, pp. 15-26.

2 *First Five Year Plan*, p. 653.

आवश्यकता से अधिक प्रशिक्षित और कुशल श्रमिक होने पर भी उन्हें बेकारी का सामना करना पड़ता है।

(ख) बीमारी और शारीरिक योग्यता (Illness and Disability)—जो व्यक्ति स्थाई रूप से या कुछ समय के लिए बीमार होते हैं, उन्हें भी बेकारी का सामना करना होता है। कारखाना प्रणाली में मशीनों के कारण होने वाली दुर्घटनाएँ बढ़ी हैं। मशीन पर काम करते समय थक जाने या नींद आ जाने पर अंग-भंग होने के अवसर रहते हैं और ऐसे व्यक्ति बेकार हो जाते हैं।

जो व्यक्ति अन्धे, बहरे, लूले-लँगड़े आदि होते हैं, वे भी शारीरिक अक्षमता के कारण बेकार होते हैं। कुछ व्यक्ति जन्म से ही शारीरिक रूप से विकृत पैदा होते हैं। फिर भी कई लोगों को तो प्रशिक्षण देकर उनके योग्य कार्यों में लगा दिया जाता है। वायुयान, यातायात, यानों आदि में भी दुर्घटनाएँ अधिक होती हैं। दुर्घटनाग्रस्त लोग क्षति-पूर्ति मिलने पर उस पैसे से अपनी आजीविका कमा सकते हैं।

उपरोक्त व्यक्तिगत कारणों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक, आर्थिक और प्राविधिक कारण भी बेकारी के लिए उत्तरदायी हैं। अब हम यहाँ उन्हीं कारणों का उल्लेख करेंगे।

(II) प्रौद्योगिक कारण (Technological Factors)

(i) उद्योगों में मशीनीकरण ने मानव शक्ति के प्रयोग को घटाया है। औद्योगीकरण के कारण श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पनपा है। अत: जो व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से दक्ष नहीं होते, वे इन मशीनों पर काम नहीं कर सकते और उन्हें बेकारी का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार की बेकारी का उल्लेख हम बेकारी के प्रकार के दौरान कर चुके हैं।

(ii) श्रमिकों में गतिशीलता न होने पर भी बेकारी पैदा होती है।

(iii) व्यापार चक्र के कारण व्यापार में तेजी और मन्दी आती है जो बेकारी उत्पन्न करती है।

(iv) कुछ व्यवसायों की प्रकृति मौसमी (seasonal) है। अत: मौसम परिवर्तन होने पर वे व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और उनमें लगे व्यक्तियों को बेकारी का सामना करना होता है।

(v) श्रम की माँग और पूर्ति अधिक होने पर—अर्थात् माँग कम और पूर्ति अधिक होने पर भी बेकारी फैलने लगती है।

(vi) उपभोग की मात्रा के घटने और बचत की मात्रा के बढ़ने पर भी कई कारखाने बन्द करने पड़ते हैं।

(vii) मजदूरी की दर ऊँची होने पर श्रमिकों की माँग घटने लगती है और बेकारी पनपती है।

(viii) जिस अनुपात में जनसंख्या की वृद्धि होती है, उसी अनुपात में रोजगार के अवसर नहीं बढ़ते । अतः जनसंख्या वृद्धि भी बेकारी को जन्म देती है ।

(ix) करों में वृद्धि होने पर वस्तुओं का निर्यात कम हो जाता है, वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं और उनकी माँग कम हो जाती है। अतः उत्पादन घटाना पड़ता है, श्रमिकों की छँटनी की जाती है और बेकारी पनपती है ।

(x) श्रमिकों की अकुशलता के कारण उन्हें विशिष्ट कार्यों में नहीं लगाया जा सकता, अतः अकुशल श्रमिकों में बेकारी पनपती है ।

(xi) औद्योगिक तनाव एवं संघर्ष के कारण जब हड़ताल या तोड़-फोड़ या तालाबन्दी होती है तो श्रम बाजार में अव्यवस्था एवं बेकारी फैल जाती है ।

(xii) एक व्यवसाय को छोड़ने एवं दूसरा ग्रहण करने के अन्तराल में भी व्यक्ति को बेकार रहना पड़ता है ।

(xiii) उद्योगों में प्रतिस्पर्द्धा होने, कच्चे माल का अभाव होने या फैशन के परिवर्तन के कारण भी बेकारी पनपती है ।

(xiv) सामाजिक सुरक्षा के प्रयत्न जैसे—बेरोजगारी भत्ता मिलने पर भी कई बार कुछ व्यक्ति व्यवसाय की खोज करना बन्द कर देते हैं ।

(xv) नौकरी की प्रतिष्ठा के कारण भी व्यक्ति व्यवसायों की तुलना में नौकरी को ही प्राथमिकता देता है और नौकरी न मिलने पर उसे बेकार रहना होता है ।

बेकारी के दुष्प्रभाव
(EVIL EFFECTS OF UNEMPLOYMENT)

बेकारी एक अभिशाप है । इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम गरीबी है जोकि सभी बुराइयों की जड़ है । बेकार व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा गिरती है, उसमें हीनता की भावना पैदा होती है और वह शर्म महसूस करता है । परिवार, रिश्तेदार एवं पड़ोस के लोग बेकार व्यक्ति को उचित सम्मान नहीं देते । यदाकदा बच्चे ऐसे पिता एवं पत्नि ऐसे पति के प्रति सम्मान खो देते हैं । बेकारी में पराश्रितता एवं गरीबी बढ़ती है, आक्रामक प्रवृत्ति एवं चिड़चिड़ापन पनपता है । जो मित्र मनोरंजन के समय साथ देते थे वे मित्रता त्याग देते हैं ।[1] वैयक्तिक असन्तोष से पारिवारिक तनाव पैदा होता है, राजनैतिक असन्तोष एवं क्रांति पैदा होती है तथा स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है । बेकारी के दुष्प्रभाव निम्नांकित हैं

वैयक्तिक विघटन और बेकारी (Personal Disorganisation and Unemployment)—बेकार होने पर व्यक्ति के पद और सम्मान की हानि होती है । वह देर तक सोता रहता है, शराब पीने लगता है और जुआ खेलने लगता है ।

1 Stuart A. Rice, *Business Cycles and Unemployment*, pp. 99-109.

थोर्स्टेन शेलिन[1] ने अपने अध्ययन में बताया है कि मन्दी के दिनों में सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध बढ़ गये। बेकारी की दशा में भिक्षावृत्ति, आवारागर्दी, गुंडागर्दी आदि को बढ़ावा मिलता है। लोग उदास हो जाते हैं, विवाह की दर घटती है व अनैतिक सम्बन्ध बढ़ते हैं। दिवालिया हो जाने से आत्म-हत्या व मानसिक रोगों की संख्या बढ़ जाती है। लेसकोहियर (Lescohier) ने लिखा है "अस्थायी बेकारी से व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, मस्तिष्क विकृत हो जाता है, महत्त्वाकांक्षाएँ दुर्बल हो जाती हैं, व्यक्ति में सुस्ती बढ़ जाती है, आत्म-गौरव व उत्तरदायित्व की भावना की कमी के कारण उसकी कार्यक्षमता घट जाती है, नाड़ियाँ और इच्छा-शक्ति कमजोर हो जाती है, अपनी असफलता का दायित्व दूसरों पर रखने की प्रवृत्ति पैदा होती है। बेकार व्यक्ति अपने परिवार की प्रगति के लिए प्रयत्न करना भी बन्द कर देता है। अर्द्ध-बेकारी की अवस्था में रहने वाले व्यक्ति उत्साहहीन और उदासीन होकर काम पर जाते हैं। ये लोग अक्सर ऋण में ही रहते हैं।"[2]

वैयक्तिक विघटन की दृष्टि से बेकार व्यक्तियों का वर्गीकरण चार भागों में किया जा सकता है

(i) नये युवा व्यक्ति, (ii) वे व्यक्ति जिन्होंने अपना काम खो दिया है। (iii) वृद्धावस्था के कारण बेकार (iv) अर्द्ध बेकार।

(i) युवा लोगों में, जब वे शिक्षा या प्रशिक्षण समाप्त करके श्रम-बाजार में आते हैं और उन्हें काम नहीं मिलता है, निराशा पैदा होती है। उनकी निर्माण-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। वे समाज विरोधी कार्य जैसे लूट-पाट, चोरी, गुंडागर्दी, बैंक में डकैती आदि में लग जाते हैं। अपराधी गिरोहों के सरदार ऐसे ही युवकों एवं बच्चों की तलाश में रहते हैं जिनके सहारे वे पैसा कमा सकें।

(ii) वे व्यक्ति जिन्होंने काम खो दिया है: जिन लोगों को अपने काम से हाथ धोना पड़ता है वे भी दुर्भाग्यशाली होते हैं। आय घट जाने पर उन्हें कुपोषण का शिकार होना पड़ता है। वे बीमारी एवं मानसिक चिंता से ग्रसित हो जाते हैं। वे दूसरों पर निर्भर हो जाते हैं। इससे उनमें हीनता की भावना पैदा होती है। जो व्यक्ति अपने परिवार का भरण पोषण नहीं कर सकता उसे शर्म महसूस होती है। बच्चों के लालन-पालन के लिए वह उधार लेता है और उधार नहीं मिलने पर चोरी करने लगता है। उसके द्वारा जमा रकम खर्च हो जाती है तथा व्यक्ति ऐसे कार्य करने को भी तैयार हो जाता है जो नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं।

(iii) वृद्ध व्यक्ति—बहुत वृद्ध होने पर भी व्यक्ति को यह चिन्ता होने लगती है कि भोजन एवं बीमारी में दवा कहाँ से आयेगी? भारत जैसे देश में संयुक्त

1 Thorsten Sellin, *Research Memorandum on the Crime in the Depression*, Social Science Research Council, 1937

2 Don D Lescohier, *The Labour Market* (1919), p 107.

परिवार मे वृद्धो का भरण-पोषण हो जाता है किन्तु अन्य देशो मे यह एक भयंकर समस्या है। परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या भी कर लेते हैं। अतः ऐसी योजनाएँ बनायी जानी चाहिए जिनके अन्तर्गत वृद्धों से भी कुछ समय के लिए काम लिया जा सके।

(iv) अर्द्ध-बेकार—मन्दीकाल मे लोगो का वेतन कम कर दिया जाता है या उन्हें अशकालीन कार्य (Part-time Job) दे दिया जाता है। मन्दी के समय मजदूर कम से कम वेतन पर काम करने को तैयार हो जाते हैं। अतः आय बहुत कम होने से बच्चो की शिक्षा-दीक्षा एव चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं हो पाता। नये आविष्कार भी विशिष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्तियो को ही काम दे पाते हैं और अन्य लोगों को बेकार रहना पड़ता है।

इसी प्रकार से योग्य व्यक्तियों को जब अपनी योग्यता के अनुसार काम नही मिलता है, तब भी उन्हे बेकार या अर्द्ध-बेकार रहना पड़ता है जिससे उनके जीवन-स्तर मे गिरावट आती है और विघटन की प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं।

(2) बेकारी एवं स्वास्थ्य (Unemloyment and Health)—बेकारी के दिनों में व्यक्ति के स्वास्थ्य का भी ह्रास होता है। वे कुपोषण के शिकार होने से एवं सन्तुलित आहार के अभाव मे अनेकानेक रोगो से घिर जाते हैं। चिन्ता के कारण भी उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है। वे कम किराये वाले मकानो मे रहने लगते हैं जो अँधेरे एव सीलनयुक्त होते हैं। इनमे हवा, रोशनी आदि की कमी रहती है तथा ये गन्दी बस्तियों में होते हैं। इन सबका स्वयं एवं उनके परिवार के सदस्यों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसे व्यक्ति चिकित्सा की सुविधाएँ जुटाने में असमर्थ होते हैं और शीघ्र ही काल के मुँह में चले जाते हैं।

(3) बेकारी एवं पारिवारिक विघटन (Unemployment and Family Disorganization)—बेकारी का प्रभाव वैयक्तिक विघटन पर ही नहीं वरन् पारिवारिक विघटन पर भी पड़ता है। परिवार की जमा-पूँजी समाप्त हो जाती है। जमीन, गहने आदि गिरवीं रख दिये या बेच दिये जाते हैं, परिवार ऋणग्रस्त हो जाता है। एक ऐसा समय भी आता है जब उन्हें कोई उधार देना भी पसन्द नही करता। परिवार अपने सदस्यों को भोजन एवं वस्त्र देने मे असमर्थ हो जाता है। बीमार लोगो की उचित देख-रेख एवं चिकित्सा नहीं हो पाती। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा बीच में ही समाप्त कर देनी होती है और उन्हें कम वेतन पर छोटे-मोटे कार्य करने होते हैं। जब परिवार मे माता-पिता दोनो कार्य करने चले जाते हैं और बच्चो की देख-रेख करने वाला घर मे कोई नहीं होता तो बच्चे आवारा हो जाते हैं, गलियों में घूमते हैं व अनैतिक तथा समाज विरोधी कार्य करने लगते हैं। परिवार की स्त्रियों तक को भी भरण-पोषण के लिए अनैतिक साधनों का सहारा लेना पड़ता है। परिवार के सदस्यों में परस्पर तनाव एवं संघर्ष पैदा हो जाते हैं। मित्र मित्रता छोड़ देते हैं और सम्बन्धी

भी ऐसे परिवार से सम्बन्धो के प्रति उदासीन हो जाते हैं। इस प्रकार बेकारी परिवार के सगठन एव अस्तित्व को खतरे मे डाल देती है और ऐसे परिवार का जीवन स्तर गिर जाता है। ऐसी दशा मे बचत का प्रश्न ही पैदा नही होता।

(4) बेकारी और सामाजिक विघटन (Unempolyment and Social Disorganization)—बेकारी के कारण होने वाली आर्थिक हानि को तो मापा जा सकता है किन्तु सामाजिक हानि का मूल्याकन करना कठिन है। बेकार व्यक्ति की धारणाओं मे कठोरता आने लगती है। परिवार मे अनिश्चितता और चिन्ता घर कर जाती है व सदस्यों मे निराशा उत्पन्न हो जाती है। लोगों मे कार्य के प्रति आकर्षण घटने लगता है, उनकी विशेष योग्यताओं का ह्रास होने लगता है। इन सबका प्रभाव सम्पूर्ण समुदाय पर पड़ता है। समुदाय को ही परिवार के भरण-पोषण, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। परिवार की बीमा पॉलिसी समाप्त हो जाती है और समाज को सामाजिक सुरक्षा जैसे पुलिस व्यवस्था, बेकारी, भत्ता, वृद्धावस्था की पेन्शन आदि पर अधिक खर्च करना होता है। अपराधों की सख्या मे वृद्धि होती है। वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, बेईमानी एव भिक्षावृत्ति पनपती है।

(5) बेकारी और आर्थिक प्रभाव (Unemployment and Economic Effects)—बेकारी गरीबी एव ऋणग्रस्तता को जन्म देती है। लोगों की आय एव जीवन-स्तर गिरता है। कार्य-क्षमता प्रभावित होती है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन घटता है। राष्ट्रीय आय घटने लगती है। उद्योगो को बन्द करने पर औद्योगिक अशान्ति एव आर्थिक संकट पैदा होता है, परिवार एवं व्यक्ति की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है। ऐसी स्थिति में देश के आर्थिक साधनो एवं प्राकृतिक स्रोतो का पूरी तरह से लाभ नही उठाया जाता है।

(6) बेकारी एवं नैतिक पतन (Unemployment and Moral Degradation)—बेकारी में व्यक्ति का नैतिक एव चारित्रिक पतन हो जाता है। उसमें आत्म-विश्वास एव आत्म-सम्मान की भावना समाप्त हो जाती है और वह अनैतिक कार्यों के द्वारा अपना व अपने परिवार का भरण-पोषण करने लगता है। लोग अपने दायित्वों को निभाने से जी चुराने लगते हैं, घर छोड़ कर भाग जाते हैं और आत्महत्या तक करने लग जाते हैं।

(7) बेकारी एव राजनीतिक प्रभाव (Unemployment and Political Effects)—देशव्यापी बेकारी राजनीतिक विद्रोह एव क्रान्ति को जन्म देती है। बेकार लोग प्रदर्शन, हड़ताल, घेरे आदि का आयोजन करते हैं। सरकारें ठप्प हो जाती हैं, प्रजातन्त्र की नींव हिलने लगती है, चारों ओर अराजकता फैलती है, तोड़-फोड़, लूट-पाट एवं दगे होने लगते हैं और लोगों का जीवन खतरे मे पड़ जाता है।

(8) बेकारी एव सांस्कृतिक पतन (Unemployment and Cultural Degradation)—विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी भी देश में

सांस्कृतिक विकास आर्थिक सम्पन्नता की स्थिति में ही हुआ है। कला, भाषा, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, संगीत, धर्म आदि को गरीब एवं बेकार व्यक्ति बढ़ावा नहीं दे सकते। भूखे व्यक्ति की संस्कृति रोटी के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाती है। जिसके पास पर्याप्त भौतिक साधन नहीं होंगे वह सांस्कृतिक विकास कठिनता से ही कर पायेगा।

(9) बेकारी एवं मनोवैज्ञानिक प्रभाव (Unemployment and Psychological Effect)—बेकारी व्यक्ति में निराशा एवं हीन भावना को जन्म देती है, काम के प्रति उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। वह मानसिक संघर्षों से जूझता रहता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा और आक्रामक हो जाता है। छोटी-छोटी बातों पर वह झगड़ा करने पर उतारू हो जाता है। उसमें साहस, दृढ़ता और आत्म-सम्मान की भावना समाप्त हो जाती है। उसमें पराधीनता की मनोवृत्ति जन्म लेती है और अपने को असहाय एवं पराश्रित अनुभव करने के कारण उसकी व्यक्तिगत योग्यता एवं कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। उसमें पृथकता की भावना पनपती है जिसके फलस्वरूप मित्रों और यहाँ तक कि परिवार के सदस्यों से भी उसके सम्बन्ध टूटने लगते हैं।

भारत में बेकारी का विस्तार
(EXTENT OF UNEMPLOYMENT IN INDIA)

बेकारी वास्तव में कभी भी समाप्त नहीं होती, केवल इसकी दर घट सकती है। हमेशा ही कुछ श्रमिक ऐसे होते हैं जो एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में आते-जाते रहते हैं या देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में गमन करते रहते हैं। बेकारी की मात्रा व्यवसाय, प्रदेश, व्यापार चक्र, आयु, लिंग एवं मौसम के आधार पर कम-ज्यादा होती रहती है। निम्न व्यवसायों की तुलना में उच्च व्यवसायों में व्यावसायिक सुरक्षा अधिक होती है। अदक्ष मजदूरों में दक्ष मजदूरों की तुलना में बेकारी अधिक पायी जाती है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में, युवकों की तुलना में वृद्धों में और अनुभवी व्यक्तियों की तुलना में अनुभवहीन व्यक्तियों में भी बेकारी अधिक पायी जाती है। कुछ व्यवसाय जैसे बीड़ी-उद्योग, चाय उद्योग आदि में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों से काम लेना अधिक अच्छा माना जाता है।

भारत में बेरोजगारी के बारे में निश्चिततापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसके अनेक कारण हैं, जैसे यहाँ बेकारी सम्बन्धी सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, बेकार एवं अर्द्ध-बेकारों के आँकड़े एकत्र नहीं किये गये हैं वरन् केवल वे ही आँकड़े उपलब्ध हैं जो बेरोजगार दफ्तरों में पंजीकृत किये गये हैं और ऐसे दफ्तर भी जिला मुख्यालयों और औद्योगिक केन्द्रों पर ही स्थित हैं। इन दफ्तरों में भी सभी व्यक्ति अपने नाम दर्ज नहीं करवाते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि पूँजीपति और सेवायोजक (jobers) रोजगार दफ्तरों के द्वारा ही श्रमिकों की भर्ती करें। रोजगार दफ्तर छिपी हुई बेकारी के बारे में कुछ भी बताने में असमर्थ हैं। ऐसे

व्यक्तियों का पता भी बेरोजगार कार्यालयों से नहीं लग सकता जो कहीं काम में लगे हुए हैं, किन्तु जो अपनी योग्यतानुसार कोई अच्छी नौकरी चाहते हैं। बेकारी की सर्वमान्य परिभाषा के अभाव में भी स्थिति का सही चित्रण सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए बेकारी के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। भारत में पिछले 100 वर्षों में बेकारों की संख्या बढ़ी है जिसके अनेक कारण हैं जैसे जनसंख्या-वृद्धि, कुटीर व्यवसायों का ह्रास, उद्योगों का अपर्याप्त विकास तथा जनसंख्या का विस्थापन (dispalcement), शक्ति की कमी, सुविधाओं का अभाव, बाढ़ एवं अकाल आदि। प्रथम पंचवर्षीय योजना में 53 लाख व्यक्ति, द्वितीय में 90 लाख एवं तृतीय में 120 लाख व्यक्ति बेकार थे। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में 27½ लाख व्यक्ति बेकार पाये गये। 1971 में भगवती समिति के अनुसार लगभग 187 लाख व्यक्ति कुल बेकार थे, इनमें से 90 लाख लोगों के पास कोई काम नहीं था तथा 97 लाख लोग सप्ताह में 14 घण्टे से भी कम काम कर रहे थे।[1]

भारत में कुल जनसंख्या का 33% भाग ही कार्यरत है। सन् 1961 से 1971 तक भारत की कुल जनसंख्या 43 करोड़ से 54 करोड़ हो गयी जबकि कार्य करने वाली जनसंख्या 43% से घट कर 33% रह गयी। साधारण अर्थों में सन् 1961 में 43 व्यक्ति कमा रहे थे जिन पर 57 व्यक्ति निर्भर थे। सन् 1971 में निर्भर व्यक्तियों की संख्या 67 और कमाने वालों की 33 हो गयी। हमारे यहाँ रोजगार विभाग में पंजीकृत बेकार लोगों की संख्या (अधिकांशतः शिक्षित) 90 लाख है। यहाँ हमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना है कि इस देश में करीब 40 करोड़ व्यक्ति अशिक्षित हैं।[2] हमारे यहाँ प्रतिवर्ष 70 से 80 लाख व्यक्ति नौकरी की तलाश में श्रमिक बाजार में प्रवेश करते हैं।[3]

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (National Sample Survey) ने समय और कार्य करने की इच्छा (time and willingness) के आधार पर यह बताया कि हमारे यहाँ 7.9% राष्ट्रीय श्रम-शक्ति बेकार है जबकि हमारे यहाँ 35% ही श्रम-शक्ति पायी जाती है।[4] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के एशिया सम्बन्धी एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में सन् 1962 में 9% बेरोजगारी थी जो 1972 में 11% हो गयी। सबसे अधिक बेकार व्यक्ति 20 से 24 वर्ष की आयु के हैं इसके बाद 40 से 50 वर्ष की आयु के। प्र आयु समूह में बेकारी का कारण अनुभवहीनता है तो दूसरे आयु-समूह में कार्य शक्ति का ह्रास आदि है। आँकड़ों के उपरोक्त विवरण से प्रकट होता है कि भारत में योजनाबद्ध विकास के प्रयत्नों के बावजूद भी बेकारी

1 *Bank of Baroda, Weekly Review*, June 1, 1973, Vol. II, No 22, p. 1.
2 *Blitz*, Jan 22, 977, p. 9
3 *Bank of Baroda, Weekly Review*, Jan. 12, 1973, Vol 11, No. 2, p 1.
Bank of Baroda, Weekly Review, Jan. 12, 1973, Vol. 11, No 2, p 7.

की संख्या बढ़ती रही है जो गम्भीर चिन्ता का विषय है। गुनॉर मिर्डल ने अपनी पुस्तक (एशियन ड्रामा) में योजना आयोग द्वारा दिये गये बेकारी के आँकड़ों में गहरा सन्देह प्रकट किया है।

भारत मे बेकारी का उल्लेख हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे :

(1) ग्रामीण क्षेत्र में बेकारी।

(2) नगरीय क्षेत्र में बेकारी।

(1) ग्रामीण क्षेत्र में बेकारी (Rural Unemplyoment)—ग्रामीण क्षेत्र मे हमें कृषि में मौसमी व छिपी बेकारी देखने को मिलती है। भारत मे 80% जन-संख्या गाँवों मे रहती है और 70% लोग किसी न किसी प्रकार से कृषि पर निर्भर हैं। कृषि में फसल बोते समय एवं काटते समय तो कार्य की अधिकता रहती है किन्तु शेष समय मे कृषकों को बेकार ही रहना पड़ता है। भारत मे सिंचाई के साधनों की कमी के कारण ऐसी फसलें नहीं बोयी जाती हैं जो वर्ष मे दो बार प्राप्त की जा सकें। यहाँ अधिकांशतः मानसून पर निर्भर फसलें ही बोयी जाती हैं। भारतीय कृषि को हम 'मानसून का जुआ' कह सकते हैं। इस प्रकार औसत भारतीय कृषक वर्ष में 5 या 6 महीने ही कार्य करता है। कुटीर व्यवसायों का अभाव, पूंजी का अभाव, कृषि की मौसमी प्रकृति आदि के कारण ग्रामीणों को वर्ष भर कार्य नहीं मिल पाता है। रॉयल कमीशन का मत है कि भारतीय कृषक वर्ष में 4-5 महीने ही कार्य करता है। राधाकमल मुखर्जी के अनुसार उत्तर प्रदेश में किसान वर्ष मे 200 दिन एवं जैक के अनुसार बंगाल मे पटसन की खेती करने वाले वर्ष मे 4½ माह ही कार्यरत रहते हैं। डॉ० स्लेटर के अनुसार दक्षिण भारत मे किसान वर्ष मे 200 दिन ही कार्यरत रहते हैं।

प्रथम पचवर्षीय योजना में ग्रामीण क्षेत्र में 28 लाख बेकार थे। चौथी योजना में 100 लाख बकाया बेकार (Back Log) लोगों का अनुमान लगाया गया है जिनमें से 75 लाख गाँवों में हैं।[1] भगवती समिति ने सन् 1971 में गाँवों में बेकारों की संख्या 161 लाख बतायी है।[2]

हमारे यहाँ कृषि मजदूरों की संख्या अनुमानतः 475 लाख है जो वर्ष मे 200 दिन से भी कम समय तक कार्य करते हैं।[3] यहाँ कृषि-योग्य भूमि के 15% भाग पर ही एक से अधिक बार फसल उगाई जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारे यहाँ ऐसे व्यक्तियों की संख्या काफी है जो वर्ष मे करीब 165 दिन बेकार रहते हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में जुलाई 1960 से जून 1961 तक भारत मे कुल जनसंख्या का 42% भाग काम करने

1 *Bank of Baroda, Weekly Review*, Vol 10, No. 23, June 9, 1972, p. 1.
2 *Bank of Baroda, Weekly Review*, Vol. 11, No. 22 June 1, 1973, p. 1.
3 *Blitz*, Jan. 22, 1977, p 9

योग्य था जिसमें से केवल 40% भाग ही काम पर लगा हुआ था। सन् 1973 मे रोजगार कार्यालय में काम ढूंढने वाले 82 लाख लोगों के नाम दर्ज थे।[1]

भारतीय ग्रामों मे अदृश्य बेकारी भी व्याप्त है। इस प्रकार की बेकारी में श्रमिक काम पर तो लगा होता है किन्तु उसका उत्पादन मे कोई योगदान नहीं होता है। भूमि पर जनसख्या के दबाव एव सयुक्त परिवार प्रणाली के कारण एक ही परिवार के सभी सदस्य भूमि के छोटे छोटे टुकडे पर कृषि करते हैं जिनकी सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है। यदि इनको कृषि से हटाकर अन्य व्यवसायो मे लगा दिया जाय तो भी कृषि उत्पादन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ेगा। इन्हें हम अतिरिक्त श्रम (surplus labour) की श्रेणी मे रख सकते हैं।

विभिन्न राज्यों मे अतिरिक्त श्रम शक्ति[2]

राज्य	प्रतिशत
असम	39 6
बिहार	36 6
राजस्थान	35·7
उत्तर प्रदेश	28 8
उडीसा	24 5
पजाब	19·1
मद्रास	10 0
मध्य प्रदेश	5 4
मैसूर	1·3
अखिल भारत	17·1

(2) नगरीय क्षेत्र में बेकारी (Urban Unemployment)—नगरीय बेकारी हमे दो रूपों में देखने को मिलती है :

(i) औद्योगिक क्षेत्र मे,

(ii) शिक्षित वर्ग मे।

सन् 1951 में 14 लाख तथा 1956 मे 25 लाख व्यक्ति शहरों में बेकार थे। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे शहरों मे 42 लाख व्यक्ति नये बेकार हो गये और तृतीय योजना मे 110 लाख। चौथी योजना काल मे लगभग 68 लाख व्यक्ति शहरों में नये बेकार हो गये। पाँचवीं योजना के अन्त तक शहरों मे करीब 58 लाख व्यक्ति बेकार शेष बच जायेंगे।

औद्योगिक बेकारी—औद्योगिक क्षेत्र मे बेकारी के अनेक कारण हैं, जैसे गाँवों से व्यवसाय की खोज मे लोगो का औद्योगिक केन्द्रों की ओर आना, किन्तु धीमी

1 *Economic and Political Weekly*, Vol X, No. 4, Jan 25, 1975, p. 121.

2 *Indian Economic Review*, April, 1960, p 124.

औद्योगिक प्रगति के कारण उन्हें रोजगार न मिलना, अनियोजित औद्योगीकरण, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण बाजार में वस्तुओं की माँग की कमी, मजदूरों की छँटनी, उद्योगों में अभिनवीकरण के कारण मानव-शक्ति का स्थान जड़-शक्ति (inanimate power) द्वारा ले लेना, हड़तालें व तालाबन्दी के कारण कारखानों का बन्द हो जाना, पूँजी, कच्चे माल तथा बाजार के अभाव के कारण उत्पादन न हो पाना आदि।

शिक्षित वर्ग में बेकारी—बेकारी केवल निरक्षरों एवं कम पढ़े-लिखे लोगों में ही नहीं वरन् बुद्धिमान एवं प्रबुद्ध लोगों में भी व्याप्त है। डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ आदि जिन्हें भारत में काम नहीं मिलता, विदेशों में चले जाते हैं जो साधारणतः पुन: यहाँ नहीं लौटते। जो लोग देश-भक्ति की भावना के वशीभूत होकर विदेशों से शिक्षा ग्रहण कर लौट आते हैं, उन्हें यहाँ उपयुक्त कार्य प्राप्त न होने पर घोर निराशा का सामना करना पड़ता है। भाई-भतीजावाद एवं आन्तरिक राजनीति से पीड़ित होकर वे पुन: विदेशों में चले जाते हैं। शिक्षित बेकारों में उन्हीं लोगों को सम्मिलित किया गया है जो मैट्रिक या उससे अधिक शिक्षा ग्रहण किये हुए हैं। शिक्षा के प्रसार के साथ साथ शिक्षित बेकारी में भी वृद्धि हुई है। इसके लिए आंशिक रूप से हमारी शिक्षा प्रणाली भी उत्तरदायी है जो पुस्तकीय ज्ञान तो देती है किन्तु जीवन में रोजगार के अवसर बहुत कम प्रदान करती है। हमारे यहाँ के शिक्षित व्यक्ति केवल वेतनभोगी सेवाएँ ही पसन्द करते हैं। उद्यमशीलता या साहसिकता की उनमें कमी पायी जाती है। यहाँ उच्च शिक्षा सस्ती है, अतः मैट्रिक करने के पश्चात् जब तक नौकरी नहीं मिलती, विद्यार्थी पढ़ते रहते हैं। स्नातक होने पर एक व्यक्ति के विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में भाग लेने के अवसर भी बढ़ जाते हैं। भारत में अधिकांश शिक्षित बेरोजगार पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश एवं महाराष्ट्र में केन्द्रित हैं। भारतीय सांख्यिकीय संस्थान एवं लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स ने अपने एक संयुक्त अध्ययन में बताया कि सन् 1975-76 में भारत में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या करीब 16 लाख है। जबकि इंस्टीट्यूट ऑफ अप्लाइड मैन पावर का मत है कि यह संख्या 70 लाख होगी क्योंकि हमारे यहाँ आर्थिक विकास की दर धीमी है। पाँचवीं योजना के अन्त तक अनुमानतः 29 लाख शिक्षित व्यक्ति बेकार होंगे।

सन् 1972 में 1744.6 हजार मैट्रिक, 911.8 हजार स्नातक-पूर्व तथा [illegible]स्तर, 601.9 हजार स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त व्यक्ति बेकार थे। सन् [illegible]61 में 28,000 स्नातक एवं तकनीकी व्यक्ति रोजगार की खोज में थे जो सन् [illegible]71 में बढ़कर 2,88,487 हो गये। इनमें से 81.1% पुरुष एवं 18.9% [illegible] थीं। काम ढूँढ़ने वालों में 75% से भी अधिक कला एवं विज्ञान के स्नातक [illegible] अनुमान है कि सन् 1985-86 में स्नातक शिक्षा प्राप्त एवं डिप्लोमा प्राप्त [illegible]कारों का प्रतिशत क्रमशः 32.98 और 30.76 हो जायेगा। कोठारी कमीशन

के अनुसार सन् 1975 76 म 44·33 लाख और सन् 1985-86 मे 90·85 लाख डिप्लोमा व डिग्री प्राप्त व्यक्ति बेकार होंगे।[1]

उपरोक्त आँकड़ो से स्पष्ट है कि देश मे डाक्टर, इन्जीनियर, शिक्षक आदि के डिप्लोमा-प्राप्त और अन्य शिक्षित व्यक्तियों को बेकारी की भयंकर समस्या का सामना करना पड़ रहा है। माता-पिता द्वारा भी अपने बच्चो की शिक्षा पर एक बड़ी धनराशि व्यय करने के बाद भी जब उन्हें उपयुक्त व्यवसाय नहीं मिलता है तो ऐसी स्थिति में निराशा की भावना पनपती है एवं राष्ट्र द्वारा इन लोगो के प्रशिक्षण पर खर्च की गयी धनराशि का भी पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। हमारे यहाँ दोषपूर्ण नियोजन के कारण व्यवसाय और शिक्षा में कोई समन्वय नहीं है। एक तरफ किसी व्यवसाय मे अधिक व्यक्ति बेकार हैं तो दूसरे व्यवसायों में आवश्यकतानुसार व्यक्ति नहीं मिल पा रहे हैं।

बेकारी को दूर करने हेतु किये गये प्रयत्न
(EFFORTS DONE TO REMOVE UNEMPLOYMENT)

बेरोजगारी को दूर करने के लिए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं मे किये गये प्रयत्न इस प्रकार हैं

प्रथम पंचवर्षीय योजना—इस योजना में युद्धोत्तर परिस्थितियों, कच्चे माल के अभाव एवं खाद्य समस्या के कारण बेकारी की समस्या पर विचार नहीं किया गया। सन् 1953 में योजना आयोग ने बेकारी की गम्भीरता को समझा और इसके लिए 309 करोड़ रुपये और अधिक खर्च करने का प्रावधान रखा। योजना आयोग ने रोजगार देने के लिए 11-सूत्री कार्यक्रम रखा जिसमे लघु उद्योगों और व्यवसायों के लिए सहायता देने, गाँवों में नए स्कूल खोलने, विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण देने, सड़क यातायात का विकास करने, गन्दी बस्तियों को साफ करने एवं भवन निर्माण आदि के प्रावधान प्रमुख हैं। इस योजना मे 75 लाख लोगों को काम देने का लक्ष्य था किन्तु 54 लाख लोगो का ही काम दिया जा सका।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—इस योजना के आरम्भ मे 53 लाख व्यक्ति बेकार थे। योजना काल में एक करोड़ नये बेकारों की वृद्धि का अनुमान लगाया गया। दूसरी योजना मे इस नये बेकार समूह को रोजगार देने का लक्ष्य रखा गया और पुराने बेकारों के लिए अगली से योजना की बात कही गई। किन्तु साधनों के अभाव के कारण इस योजना का आकार कम करना पड़ा। गैर-कृषि क्षेत्र मे इस योजना काल में 65 लाख लोगों को रोजगार दिया गया। योजना के अन्त तक बेरोजगारों की संख्या बढ़कर 71 लाख हो गई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—जनसंख्या वृद्धि के कारण तीसरी योजना में बेकारी की समस्या और गम्भीर हो गयी। इस काल में श्रम-शक्ति में लगभग एक करोड़

---

1 *Economic and Political Weekly*, Vol. 11, XI, No. 25, June 19, 1976 pp 915-25.

70 लाख व्यक्तियों की वृद्धि हुई लेकिन रोजगार की व्यवस्था केवल एक करोड़ 40 लाख के लिए ही की जा सकी। इस योजना में रोजगार की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से ग्रामों में औद्योगीकरण का व्यापक कार्यक्रम चलाने का प्रावधान किया गया। इस योजना-काल में अर्द्ध बेकारी की समस्या को हल करने के उपाय भी सोचे गये। इस काल में यद्यपि 2 करोड़ 36 लाख लोगों के लिए रोजगार की आवश्यकता थी लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक कठिनाई के कारण करीब एक करोड़ 30 लाख लोगों को ही रोजगार दिया जा सका।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—इस योजना में गैर कृषि-क्षेत्र में वृद्धि करने, कृषि की तीव्र वृद्धि करने, खनिज एवं निर्माण उद्योगों पर जोर देने, ग्रामीण विद्युतीकरण, शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, व्यापार, वाणिज्य आदि क्षेत्रों में वृद्धि करने की बात कही गयी। सन् 1971 में क्रेश (crash) योजना में 50 करोड़ रुपयों के प्रावधान द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार प्रदान करने की योजना प्रारम्भ की गई। क्रेश योजना में 1000 लोगों को प्रत्येक जिले में वर्ष में 10 महीने तक काम देने की योजना थी। इस योजना में कुल 336 जिले सम्मिलित किये गये हैं और इस प्रकार सभी जिलों में 3 36,000 लोगों को काम दिया जायेगा। लोगों को 3 रु० प्रतिदिन या 100 रुपये महीने के हिसाब से मजदूरी दी जायेगी। ये लोग प्रमुखतः सड़क, नलियाँ, लघु सिंचाई, निर्माण आदि छोटे-मोटे काम करेंगे। क्रेश योजना को 100 करोड़ रुपयों के प्रावधान सहित चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्तिम दो वर्षों (1972-73, 1973-74) में सम्मिलित कर लिया गया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना—पाँचवीं योजना में अर्थ-व्यवस्था की दर को तेज करके सम्बन्धित समस्याओं पर प्रत्यक्ष प्रहार करने की बात कही गई है। निर्धनता और बेकारी को दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था करनी होगी। फिर भी पाँचवीं योजना के अन्त तक शहरों में 58 लाख व्यक्ति बेकार बच रहेंगे।"[1]

पाँचवीं योजना में निम्नांकित सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र के विस्तार की व्यवस्था की गई :

(i) लघु सिंचाई (ii) भू-संरक्षण (iii) क्षेत्र विकास (iv) दुग्ध-शालाओं का विकास व पशुपालन (v) वन विकास (vi) मछली-पालन (vii) गोदाम और हाट व्यवस्था (viii) कृषि एवं लघु उद्योग (ix) सड़क निर्माण (x) खेती मजदूरों की विकास एजेंसीज जैसे सी० एम० आर० ई० आदि। इस योजना में शिक्षित बेरोजगारों जैसे डाक्टर, इन्जीनियर तथा कृषि विशेषज्ञों को गाँवों एवं शहरों में रोजगार देने के आवश्यक साधन जुटाये जायेंगे। प्राकृतिक साधनों के सर्वेक्षण एवं

---

1. *Economic and Political Weekly*, Vol. X, No. 4, Jan. 25, 1975, p. 122.

विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र मे प्रगति करके रोजगार के अवसर बढाने के प्रयास किये जायेंगे।

उपरोक्त कार्यक्रमो के अतिरिक्त सरकार ने रोजगार और उत्पादन के उद्देश्य से अनेक योजनाएँ भी प्रारम्भ की जैसे S F D. A, M. F. A L, D P. A P आदि। सरकार की नई योजना नीति मे अधिकाधिक रोजगार देने एव व्यापक आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया है। इसी उद्देश्य से सन् 1971 मे क्रैश योजना प्रारम्भ की गई थी। राष्ट्रीयकृत बैंको मे साख स्कीम प्रारम्भ की गई जिसमे स्वत रोज्गार प्राप्त व्यक्तियो (self employed persons) को आर्थिक सहायता देने का प्रावधान किया गया। शिक्षित बेरोजगारी को दूर करने के लिए केन्द्र के विभिन्न मन्त्रालयों ने अपनी योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार हमारी सरकार इस भयकर समस्या के प्रति सजग है और इसे दूर करने के प्रति प्रयत्नशील है, फिर भी साधनो के अभाव एव जनसख्या की तीव्र वृद्धि के कारण यह समस्या पूर्ण रूप से हल नही हो पा रही है।

बेकारी को दूर करने के उपाय
(MEASURES TO REMOVE UNEMPLOYMENT)

बेकारी की समस्या के हल के लिए दो प्रकार के उपाय अपनाये जा सकते हैं (1) दीर्घकालीन (2) अल्पकालीन।

(1) दीर्घकालीन उपाय

(i) बढ़ती हुई जनसख्या को प्रभावशाली ढग से नियन्त्रित किया जाय, यद्यपि इसका प्रभाव लगभग 20 वर्षों मे जाकर पड़ेगा। इसके लिए परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को प्रभावपूर्ण तरीको से चलाया जाय। चीन ने अपनी बढ़ती हुई बेकारी को रोकने के लिए जनसख्या नियन्त्रण नीति को अपनाया है।

(ii) देश मे आर्थिक विकास की गति तीव्र की जाय जिसमे औद्योगीकरण की गति तेज करने, शिक्षित बेरोजगारों को काम पर लगाने एव कृषि में उत्पादन को बढाने पर जोर दिया जाय। वान्चू समिति ने देश के काले धन को उत्पादन में लगाने की बात कही। निजी और सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रबन्ध को सुव्यवस्थित किया जाय एव विनियोग बढ़ाया जाय।

(iii) शिक्षा प्रणाली मे सुधार किया जाय और शिक्षा तथा रोजगार के मध्य समन्वय स्थापित किया जाय।

(iv) निर्माण कार्यों में वृद्धि की जाय। यातायात, जनकल्याण, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि सेवाओं का विस्तार किया जाय।

(v) रोजगार कार्यालयों की अधिकाधिक स्थापना की जाय। छात्रों को विभिन्न प्रकार के रोजगारों के अवसरो का ज्ञान कराया जाय।

(vi) भारत की युवा और बेकार जनशक्ति को प्रशिक्षण देकर काम में लगाया जाय।

(vii) भारत के सामाजिक ढांचे में व्याप्त अनेक बुराइयों के कारण भी बेकारी पनपती है। अत: जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि से सम्बन्धित बुराइयों को दूर कर श्रमिकों में गतिशीलता पैदा की जाय।

(viii) उपयुक्त तकनीक, कच्चे माल, मशीन, पूँजी आदि को उपलब्ध कराया जाय।

(2) अल्पकालीन उपाय

(i) सघन खेती—कृषकों को उन्नत खाद, बीज, फसल-रक्षक दवा आदि देकर भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में अधिकाधिक फसल उगाने को प्रोत्साहित किया जाय। साथ ही उन्हें वर्ष में एक से अधिक फसलें बोने की सुविधाएँ दी जायें। मौसमी बेकारी को दूर करने के प्रयास भी किये जायें।

(ii) कुटीर उद्योगों का विकास—ऐसे उद्योग जो कृषि के साथ-साथ किये जा सकें जैसे पशुपालन, दुग्धशाला, मुर्गी पालन, मछली पालन, मधुमक्खी पालन, सूअर पालन आदि का विकास किया जाय। साथ ही गाँवों में मिट्टी के काम, चमड़ा उद्योग, कताई-बुनाई आदि को प्रोत्साहन दिया जाय।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय निम्न प्रकार से हैं :

व्यक्तिगत अयोग्यताओं को समाप्त किया जाय—जो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से बीमार, अपंग, वृद्ध एवं अनुभवहीन हैं उनके लिए चिकित्सा एवं स्वास्थ्य की सेवाओं में वृद्धि की जाय। लोगों को सामाजिक बीमा योजनाओं, बेकारी बीमा योजना आदि के लाभ प्रदान किये जायें। व्यक्तिगत अयोग्यताओं को समाप्त करने के लिए निम्नांकित प्रयत्न किये जायें :

(i) स्वास्थ्य सुविधाओं का प्रबन्ध—बीमार व्यक्तियों की शीघ्र चिकित्सा करने एवं उन्हें पुनः काम पर लाने के लिए प्रयत्न किये जायें। उनके लिए नि:शुल्क चिकित्सा की व्यवस्था हो तथा गाँवों में जहाँ चिकित्सालयों का अभाव है चल-चिकित्सालयों (Mobile Hospitals) की व्यवस्था की जाय।

(ii) पर्याप्त वेतन का प्रबन्ध—श्रमिकों का उचित जीवन स्तर कायम रखने एवं उनकी कार्य-क्षमता बनाये रखने के लिए बीमारी के दौरान उनको वेतन दिया जाय। श्रमिकों का कम से कम वेतन निर्धारित किया जाय। 20-सूत्री कार्यक्रम के दौरान भारत सरकार ने कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय कर इस ओर महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

(iii) व्यावसायिक शिक्षा और शैक्षणिक नियोजन—आज ज्ञान केवल ज्ञान के लिए ही पर्याप्त नहीं है वरन् इसका उद्देश्य विद्यार्थी को जीवनयापन करने के लिए सक्षम बनाना भी है। अत: शिक्षा को व्यवसायोन्मुख बनाया जाय।

(iv) शरीर से अक्षम लोगों के लिए पुनर्वास की सुविधाएँ—जो व्यक्ति जन्म से अपंग, अक्षम एवं आनुवंशिक बीमारियों से पीड़ित हैं उनके लिए भी उपयोगी संस्थाएँ खोलकर कार्य देने की व्यवस्था की जाय।

(v) श्रमिकों की क्षति-पूर्ति—जिन लोगों के मशीन पर काम करते समय अंग-भंग हो जायें, उन्हें मुआवजा दिया जाय जिससे वे अपना शेष जीवन सुगमता से बिता सकें। साथ ही ऐसे लोगों की चिकित्सा की व्यवस्था भी की जाय। सन् 1923 के श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून (Workmen's Compensation Act) के द्वारा कुछ सुविधाएँ दी गयी हैं लेकिन यह कानून भी सभी क्षेत्रों में लागू नहीं होता है।

(vi) नवयुवकों के लिए रोजगार के अवसर ढूँढे जायें और उन्हें अध्ययन के दौरान ही व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया जाय। उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों की जानकारी दी जाय।

(vii) अधिक आयु के लोगों के लिए रोजगार की सुविधाएँ प्रदान की जायें जो उनकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के अनुरूप हों।

(viii) सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम प्रारम्भ किये जायें जिसके अन्तर्गत पेन्शन, वृद्धावस्था में पेन्शन, बेरोजगारी भत्ता, बीमारी में चिकित्सा, सार्वजनिक बीमा आदि आते हैं। विधवाओं, अनाथों, भिखारियों आदि के पुनर्वास एवं आर्थिक विकास हेतु सुविधाएँ जुटाने की व्यवस्था की जाय।

(ix) भूमि सुधार के कानून लागू करके जमीन का गरीबों में वितरण किया जाय। भूदान कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जाय।

भारत सरकार ने देश में व्याप्त बेकारी की समस्या के अध्ययन और उसके समाधान हेतु श्री बी० भगवती की अध्यक्षता में एक कमेटी की दिसम्बर 1970 में स्थापना की। इस समिति ने फरवरी 1972 में अपनी रिपोर्ट सरकार को पेश की। भगवती समिति ने बेकारी के हल के लिए निम्नांकित अल्पकालीन सुझाव दिये :

(1) कृषि सेवा केन्द्रों (Agro Service Centres) को प्राथमिकता दी जाय जिससे इन्जीनियरों एवं तकनीशियनों को गाँवों में स्वरोजगार (self-employment) और रोजगार मिल सके।

(2) गाँवों में विद्युतीकरण की योजना तीव्र की जाय।

(3) सड़कों के निर्माण के लिए अधिक धनराशि की व्यवस्था की जाय।

(4) प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रमों का विस्तार किया जाय।

(5) लघु सिंचाई योजना का विस्तार किया जाय।

(6) ग्रामीण आवास और वित्त निगम की स्थापना की जाय।

(7) कुछ जिलों में प्रायोगिक परियोजनाएँ शुरू की जायें जिससे उस क्षेत्र का बहुमुखी विकास हो सके।

(8) छोटे किसानों को दुग्धशाला, मुर्गी पालन, सूअर पालन, आदि की सुविधाएँ दी जायें एवं उनके लिए बाजार जुटाने में राज्य को सहायता करनी चाहिए।

(9) गाँवों में पीने के पानी की उचित व्यवस्था की जाय।

(10) कारखानों की वास्तविक उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की जाय।

(11) सरकार एक संस्था बनाये जो बीमार और आर्थिक दृष्टि से कमजोर मिलों की स्थिति का अध्ययन कर महत्त्वपूर्ण सुझाव दे।

(12) विभिन्न व्यवसायों को प्रारम्भ करने के लिए बैंक द्वारा ऋण की उचित व्यवस्था की जाय।

(13) बेकार व्यक्तियों के लिए आवेदन पर शुल्क माफ हो।

(14) लोगों में साक्षरता बढ़ाने के लिए कार्यक्रम प्रारम्भ किये जायें।

(15) वित्तीय सहायता का अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए ब्याज दर, ऋण लौटाने की अवधि और ऋणों की शर्तों को अधिक उदार बनाया जाय।

इसके अतिरिक्त समिति ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट[1] में कहा है कि :

(1) बेकार व्यक्तियों को राष्ट्रीय कार्यक्रम लागू करके काम की गारण्टी दी जाय, रोजगार की हानि का बीमा किया जाय एवं काम के अधिकार की योजना लागू की जाय।

(2) रोजगार के साधन जुटाने के लिए करों में वृद्धि की जाय।

(3) सप्ताह में काम के घण्टे 42 से अधिक न हों तथा पूरे सप्ताह फैक्टरियों को चलाया जाय।

(4) रोजगार से सम्बन्धित एक राष्ट्रीय आयोग का गठन किया जाय।

(5) पिछड़े क्षेत्रों के लिए विकास बोर्ड की स्थापना की जाय।

(6) विवाह की आयु बढ़ाकर लड़कों की 21 वर्ष एवं लड़कियों की 18 वर्ष कर दी जाय जिससे जनसंख्या पर नियन्त्रण हो सकेगा और इसके दूरगामी प्रभाव बेरोजगारी को दूर करने पर भी पड़ेंगे। अब कानून द्वारा लड़के-लड़कियों की विवाह की आयु क्रमशः 21 वर्ष व 18 वर्ष की जा चुकी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेकारी एक भयंकर सामाजिक समस्या है। इसके समाधान के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों के बाद भी समस्या के निवारण के स्थान पर इसमें वृद्धि ही हुई है। बेकारी ने हमारी प्रगति के मार्ग में बाधा उपस्थित की है। किसी भी देश की सम्पन्नता और प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के लोग उत्पादन कार्य में अपना हाथ बटायें तथा उन्हें जीवनयापन के पर्याप्त साधन और अवसर प्राप्त हों। इसलिए भविष्य में कोई भी योजना इस बात को ध्यान में रखकर ही बनायी जानी चाहिए कि वह पूर्ण रोजगार के अवसर प्रदान करे,

---

1 *The Economic Times*, May 17, 1973.

अन्यथा हमारा आर्थिक विकास धीमा ही रहेगा। साथ ही यह भी आवश्यक है कि योजनाएँ केवल आदर्शोन्मुख न होकर यथार्थ पर आधारित हों और उन्हें पूर्ण निष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाय। अभी तक का अनुभव यही बताता है कि यद्यपि अच्छी से अच्छी योजनाएँ समय-समय पर बनायी गयीं परन्तु उनके क्रियान्वयन पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए था।

प्रश्न

1. बेकारी किसे कहते हैं? भारत में बेकारी के विभिन्न कारण बताइए।
2. भारत में बेकारी की समस्या की प्रकृति एवं विस्तार को संक्षिप्त में समझाइए।
3. भारत में बेकारी की समस्या के निराकरण हेतु सरकार द्वारा उठाये गये विभिन्न उपायों का परीक्षण कीजिए।
4. भारत में बेकारी के कारणों व परिणामों की व्याख्या कीजिए।
5. भारत में शिक्षित बेरोजगारी के सामाजिक परिणामों का विश्लेषण कीजिए।
6. भारत में बेकारी के विभिन्न प्रकारों का विवरण दीजिए।
7. भारत में शिक्षित बेकारी पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
8. भारत में बेरोजगारी के विस्तार, कारणों एवं परिणामों को स्पष्ट करते हुए एक सामाजिक समस्या के रूप में इसका विश्लेषण कीजिए।
9. भारत में बेकारी की समस्या का अन्त करने के लिए सरकार को क्या-क्या कदम उठाने चाहिए?
10. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए :
    (अ) भारत में ग्रामीण बेकारी।
    (ब) भारत में औद्योगिक बेकारी।
11. निम्नलिखित में अन्तर बताइए
    (अ) बेकारी और अर्द्ध-बेकारी।
    (ब) कृषि-सम्बन्धी और औद्योगिक बेकारी।

5

राष्ट्रीय एकीकरण
(NATIONAL INTEGRATION)

राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या ने भारतीय राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों एवं शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान समय-समय पर अपनी ओर आकर्षित किया है। पिछले कुछ वर्षों में भाषावाद, क्षेत्रवाद एवं पृथक् प्रान्त की माँग आदि को लेकर हुई हड़तालों, तोड़-फोड़, दंगों और संघर्षों ने राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या को और भी गम्भीर बना दिया है। समय-समय पर अनेक राजनीतिक दलों ने सत्ता में आने के लिए राष्ट्रीय हितों को तिलांजलि देकर स्थानीय एवं प्रान्तीय हितों को अधिक महत्त्व दिया। यहाँ तक कि अखिल भारतीय राजनीतिक दलों ने भी प्रान्तों के दबाव के सम्मुख अपने घुटने टेके हैं। इन सभी घटनाओं ने आलोचकों को यह कहने का अवसर दिया है कि भारत कभी भी एक संगठित राष्ट्र नहीं बन सकता।

विश्व में भारत का जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान है। यहाँ अनेक भाषा-भाषी लोग, अनेक प्रजातियों, धर्मों, मतों, सम्प्रदायों तथा संस्कृतियों को मानने वाले व्यक्ति निवास करते हैं। इस विविधता के बावजूद भी भारत में प्राचीन समय से ही सामाजिक-सांस्कृतिक एकता बनी रही है। समय-समय पर यहाँ ऐसे महापुरुषों का जन्म हुआ है जो देश को एकता के सूत्र में पिरोते रहे यद्यपि राजनैतिक और प्रशासकीय दृष्टि से सम्पूर्ण भारत एक ही सत्ता के नीचे एक राष्ट्र के रूप में अंग्रेजों के पूर्व बहुत कम ही रहा है अंग्रेजों के शासन काल में सारा देश राजनैतिक दृष्टि से भी एक राष्ट्र था और सम्पूर्ण भारत पर एक ही प्रकार का शासन कायम हुआ। आजादी के बाद सम्पूर्ण भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र का दर्जा तो मिला किन्तु इसकी निर्मायक इकाइयों ने अनेक ऐसे विवाद खड़े कर दिये कि राष्ट्रीय एकीकरण को धक्का लगा। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता का प्रश्न एक ज्वलन्त समस्या के रूप में उठ खड़ा हुआ। यदि भारत को एक राष्ट्र के रूप में जीवित रहना है तो इसे राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों से मुक्ति पानी होगी। अब हम यहाँ राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ और परिभाषा,

राष्ट्रीयता के निर्णायक तत्वों, राष्ट्रीय एकता में आने वाली बाधाओं और उन्हें दूर करने के लिए किये गये प्रयत्नों एवं सुझावों का उल्लेख करेंगे।

राष्ट्रीय एकीकरण क्या है ?
(WHAT IS NATIONAL INTEGRATION ?)

राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा का उदय यूरोप में सन् 1789 के बाद हुआ। फ्रांस की क्रान्ति के पूर्व इन शब्दों का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं था। फ्रांस और इंग्लैण्ड में राष्ट्रीयता का उदय एक राजनैतिक घटना थी जबकि इटली और जर्मनी में राष्ट्रवाद का उदय सांस्कृतिक प्रारूप (Cultural Model) के आधार पर हुआ जिसके अन्तर्गत आगे चलकर भाषा और प्रजाति के सिद्धान्त को भी राष्ट्र-निर्माण में सम्मिलित कर लिया। छोटे-छोटे स्थानीय समूहों ने जिनकी एक भाषा और एक संस्कृति थी, अपने राजनैतिक, कानूनी और सामाजिक हितों की रक्षा के लिए अपने को एक राष्ट्र कहना प्रारम्भ किया। पश्चिमी देशों ने अपने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का प्रसार अफ्रीका एवं एशिया के देशों में किया। परतन्त्र देशों ने धीरे-धीरे एक-एक करके विदेशी जुए को उतार फेंकने और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अपने सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषायी मतभेदों को भुलाकर एकजुट होकर प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप वहाँ राष्ट्रीयता की भावना पनपी। कालान्तर में ये देश पश्चिमी देशों के विरोधी हो गये तथा इन्होंने स्वयं की भाषा और संस्कृति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया।

साधारणतः राष्ट्र का अर्थ उस मानव-समूह से लिया जाता है जिसमें एकता की भावना पाई जाती हो। राष्ट्र की परिभाषा करते हुए जे० एस० मिल लिखते हैं, "राष्ट्र मानव-जाति का एक ऐसा भाग है जो अन्य लोगों की तुलना में एक-दूसरे से सामान्य सहानुभूतियों के द्वारा संयुक्त हो जिसमें एक ही सरकार के अधीन रहने की प्रबल इच्छा हो।"[1] जेक्यूस मारिटेन लिखते हैं, "एक राष्ट्र ऐसे लोगों का एक समुदाय है जिनमें ऐतिहासिक जागरूकता पायी जाती है, जिनका एक भूतकाल होता है, जो अपने आप को अनिवार्यतः आंतरिक रूप से प्यार करते हैं।"[2] इस प्रकार एक राष्ट्र एक भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले उन लोगों का एक ऐसा समुदाय है जिनका एक भूतकाल और इतिहास होता है जिनमें 'हम' की और एकता की भावना पाई जाती है तथा जिनकी एक भाषा, संस्कृति, सामान्य परम्परागत सामान्य-चेतना और राजनैतिक व्यवस्था होती है।

राष्ट्रीयता को कानूनी दृष्टि से राज्य की सदस्यता के रूप में समझा जाता है। तात्विक दृष्टि से राष्ट्रीयता को एक ऐसी अनुभूति के रूप में समझा जाता है जो भौगोलिक, ऐतिहासिक, प्रजातीय, सांस्कृतिक तथा ऐसे ही बन्धनों से उत्पन्न होती

1 J S. Mill, *Representative Government*, Ch XVI.
2 Jaques Maritain, *Man and the State*, pp 4 5.

है। वर्तमान समय मे राष्ट्रीयता को एक सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना समझा जाता है। प्रो॰ जिमर्न ने राष्ट्रीयता की परिभाषा देते हुए लिखा है, "राष्ट्रीयता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिल्कुल नहीं है। यह प्रमुखत तथा अनिवार्य रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है, राष्ट्रीयता धर्म की भांति व्यक्तिगत है, मनोवैज्ञानिक है, एक मानसिक स्थिति है तथा अनुभव करने, विचार करने और रहने का एक ढग है।"[1] इस प्रकार राष्ट्रीयता आध्यात्मिक भावना पर आधारित है। एक ही देश मे विभिन्न भाषा, धर्म तथा सस्कृति के होते हुए भी राष्ट्रीयता मे एकता की भावना पाई जाती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से एकीकरण एक प्रक्रिया और अवस्था दोनो है (Integration is a process and condition)। प्रक्रिया के रूप मे एकीकरण के लिए प्रयास किये जाते हैं जबकि अवस्था के रूप मे एकीकरण एक ऐसी स्थिति है जिसमे इसे प्राप्त कर लिया गया हो। साहित्यिक दृष्टि से एकीकरण का अर्थ है कई इकाइयो द्वारा एक सम्पूर्णता का निर्माण। इसमे विभिन्नता की धारणा निहित है तथा यह विचार भी निहित है कि विभिन्न इकाइयो को साथ रखा जाय।[2] इसका अर्थ यह भी हुआ कि जो इकाइयाँ अलग अलग हैं वे एक दूसरे की सहायता करने एव पूरक बनने की इच्छा रखती हैं। इसके अभाव मे एकीकरण सम्भव नही होगा। *अतः एकीकरण मे सम्पूर्णता का निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयो का लाभ* निहित होता है और इसी कारण वे एकता बनाये रखना चाहती हैं।

राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा को अनेक रूपो मे देखा गया है, जैसे राजनैतिक व प्रशासकीय दृष्टि से एक सत्ता के अन्तर्गत कई छोटे-छोटे राज्यो के बँध जाने, सांस्कृतिक-सामाजिक दृष्टि से एक ही प्रकार की सस्कृति, प्रथाओ, रीति-रिवाजो का पालन करने, एक भाषा, त्यौहारो, उत्सवो आदि के प्रचलित होने तथा मानसिक दृष्टि से सभी लोगों मे एकता की भावना के उत्पन्न होने के रूप मे। इस प्रकार कुछ लोग राष्ट्रीय एकता को मूर्तरूप मे देखते हैं तो कुछ इसकी व्याख्या मानसिक बन्धनो के रूप में अमूर्त से करते हैं।

राष्ट्रीय एकीकरण को परिभाषित करते हुए डा॰ घुरिये लिखते हैं, "यहाँ राष्ट्रीय एकीकरण को एक मनोवैज्ञानिक और शिक्षण प्रक्रिया के रूप मे परिभाषित या वर्णित किया जा सकता है जिसमे एकता, दृढता और सम्बद्धता की भावना का विकास सम्मिलित है, जिसमे लोगों के हृदयों मे सामान्य नागरिकता की धारणा

---

1 "Nationality to me is not a political question at all It's primarily and essentially a spiritual question Nationality like religion is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way of feeling, thinking and living " —Zimmern, *Nationality and Government*, p. 59.

2 "Integration literally means to make up a whole out of parts. It presupposes diversities and the idea is to put the parts together." —K. C. Pandey, *Regionalism and Problems of National Integration*, p 7.

तथा राष्ट्र के प्रति वफादारी की भावना पायी जाती है।"[1] डा० घुरिये ने अपनी परिभाषा में राष्ट्रीय एकीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है जिसमें मानसिक एवं शैक्षणिक प्रक्रिया के साथ-साथ लोगों के मन में राष्ट्र के प्रति एकता, दृढ़ता, संगठन और वफादारी की भावना पायी जाती है। ऐसे सभी लोग अपने को एक ही राष्ट्र का नागरिक स्वीकार करते हैं। सम्बद्धता (cohesion) की भावना राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यही भावना लोगों को एक सूत्र में पिरोती है।

बृजमोहन के अनुसार, "हम राष्ट्रीय एकीकरण को एक मनो-सामाजिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसमें स्थानीय वफादारी से परे राष्ट्र द्वारा स्वीकृत उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सभी समूहों द्वारा सहभागिक प्रयास किया जाता है। एक अव्यवहार्य लक्ष्य के रूप में राष्ट्रीय एकीकरण एक अमूर्त धारणा है क्योंकि इच्छित और वास्तविक में सदा ही पिछड़न पाया जाता है।"[2]

इस प्रकार हम राष्ट्रीय एकीकरण को एक मानसिक तथा शैक्षणिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। एकीकरण की स्थिति में विभिन्न इकाइयाँ अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक, जातीय एवं क्षेत्रीय भेदभावों को भुलाकर राष्ट्र-भक्ति एवं देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर सामूहिक कल्याण के लिए प्रयत्न करती हैं। राष्ट्रीय एकीकरण की अवस्था में सभी देशवासी छोटे-मोटे मतभेदों और संकुचित स्थानीय स्वार्थों को भुलाकर एकात्मकता की अनुभूति करते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि सम्पूर्ण देश एक है, सारे देशवासी हमारे बन्धु-बान्धव हैं। इस स्थिति में सभी लोगों में अपनत्व की भावना पायी जाती है और उनके लिए सारा देश एक विराट पुरुष के रूप में प्रेरणा का स्रोत होता है।

राष्ट्रीय एकता के आधार
(BASES OF NATIONAL INTEGRATION)

किसी भी राष्ट्र की एकता का निर्माण किसी एक तत्त्व के सम्मिलन से न होकर कई तत्त्वों के सम्मिलन से होता है। वेरनर और लेनडेकर (Werner and Landecker) के सन् 1950-51 में अमेरिकन जरनल ऑफ सोशियोलोजी में

---

1 "Herein is defined or described national integration as a psychological and educational process involving the development of a feeling of unity, solidarity and cohesion in the hearts of the people, a sense of common citizenship (destiny) and a feeling of loyalty to the nation."
—G. S. Ghurye, *Social Tension in India*, p. 502.

2 "We may define national integration as a psycho-social process that involves beyond parochial loyalties, a common participation of all groups towards the accomplishment of nationally accepted goals. As a utopian target, national integration is an abstract concept because the lag between desired and real levels would always exist."
—Brij Mohan, *India's Social Problems*, p. 103

अपने एक लेख में 'एकीकरण के प्रकार और उनका माप' में चार प्रकार के एकीकरण का उल्लेख किया है यथा—(i) सांस्कृतिक एकीकरण, (ii) आदर्शात्मक एकीकरण, (iii) संरचनात्मक एकीकरण, (iv) प्रकार्यात्मक एकीकरण। इन चारों प्रकार के एकीकरण में चार भिन्न तत्त्वों को आधार माना गया है। जेम्स एस० कोलमेन एवं कार्ल जी० रोजबर्ग (James S. Coleman and Carl G. Rosberg) ने भी राष्ट्रीय एकीकरण के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(i) राजनैतिक एकीकरण, (ii) भू-क्षेत्रीय एकीकरण। इन दोनों वर्गीकरणों का आधार क्रमश: राजनैतिक सत्ता और प्रशासन, तथा भौगोलिक इकाइयाँ हैं।

भारत में अनेकता के बीच भी एकता के दर्शन होते हैं। भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की अवस्था को निर्मित करने वाले प्रमुख तत्त्व एवं आधार इस प्रकार हैं :

(1) भौगोलिक एकता—भौगोलिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को हम एक इकाई के रूप में देख सकते हैं। उत्तर में हिमालय एवं दक्षिण में हिन्द महासागर इसकी सीमा तय करते हैं। कुछ समय पूर्व तक बर्मा, लंका, पाकिस्तान और बंगला देश भी भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत ही आते थे। वर्तमान में कश्मीर से कन्याकुमारी तक और असम से गुजरात तक भारत राष्ट्र फैला हुआ है। उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में पुरी और पश्चिम में द्वारिका भारत के धार्मिक तीर्थ-स्थल हैं जो सभी देशवासियों को एकता के सूत्र में पिरोते हैं और उनमें एक ही भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने की भावना को जागृत करते हैं। देश की प्राकृतिक सीमाओं ने देशवासियों में एकता और जन्म-भूमि के प्रति अगाध प्रेम पैदा किया है। "माता भूमि. पुत्रो अहं पृथिव्या" (पृथ्वी मेरी माँ है और मैं इसका पुत्र हूँ) "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि" (जिस धरती पर जन्म लिया है वह स्वर्ग से भी प्यारी है) आदि धारणाओं ने देश के लोगों में बलिदान और त्याग की भावना पैदा की है। भारत माता या हिन्दुस्तान जैसे शब्दों के उच्चारण मात्र से हमारे शरीर में एक स्पन्दन पैदा हो जाता है।

(2) ऐतिहासिक एकता—सम्पूर्ण भारत का एक ही इतिहास रहा है। इतिहासवेत्ताओं की मान्यता है कि अति प्राचीन काल में सारे भारत में द्रविड़ों का निवास था, फिर यहाँ आर्यों ने आक्रमण किया और वे यहीं बस गये। धीरे धीरे आर्य संस्कृति सम्पूर्ण भारत में फैल गयी। वैदिक युग से आज तक का भारतीय इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यहाँ विभिन्न धर्म, मत, सम्प्रदाय, जातियाँ और प्रजातियाँ बनी रही हैं, फिर भी देश में समन्वय और एकता की भावना साधारणत: सदैव ही विद्यमान रही है।

(3) धार्मिक समन्वय—भारत विभिन्न जातियों प्रजातियों की ही नहीं वरन् अनेक धर्मों की जन्म-भूमि भी रहा है। हिन्दू, जैन, बौद्ध एवं सिक्ख धर्मों का उदय में ही हुआ है। प्रत्येक धर्म में भी कई मतमतांतर हैं और उनके अनुयायी

हजारों वर्षों से साथ-साथ निवास कर रहे हैं। ऊपरी तौर पर इन धर्मों में हमें भिन्नता दिखाई देती है किन्तु सभी के मूल सिद्धान्तों में समानता है। सभी धर्म आध्यात्मवाद, ईश्वर, नैतिकता, दया, ईमानदारी, सत्य, अहिंसा और मौलिक सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की भावना ने ही सभी लोगों में एक होने का भाव पैदा किया है। देश के चारों कोनों में स्थित हमारे धार्मिक तीर्थ-स्थान भी धार्मिक एकता के प्रतीक हैं। गाँव के कुएँ पर स्नान करते समय एक व्यक्ति गंगा, गोमती, नर्मदा, कावेरी, सिन्धु, सरस्वती आदि सभी नदियों से उस जल में प्रवेश की प्रार्थना करता है। इस प्रकार से देश के लोग विभिन्न भागों में स्थित नदियों, पहाड़ों, मन्दिरों और तीर्थस्थानों के उपासक हैं जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म ने भारत को सदियों से एकता के सूत्र में बाँधने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। यहाँ इस्लाम एवं ईसाई धर्म को मानने वाले लोग भी करोड़ों की संख्या में हैं। लेकिन भारत एक धर्म-निरपेक्ष (secular) राष्ट्र है जहाँ प्रत्येक को अपने धर्म पालन की पूर्ण स्वतन्त्रता है। किन्तु जब धार्मिक विद्वेष पनपता है तो वह एकता के मार्ग में बाधक बन जाता है। परन्तु यदि देशवासियों में अटूट राष्ट्र-प्रेम कूट-कूट कर भरा हो तो धार्मिक मतमतान्तर राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक सिद्ध नहीं होते।

(4) **सामाजिक-सांस्कृतिक एकता**—प्राचीन काल से ही भारत की सामाजिक संरचना एवं संस्कृति में एकता के दर्शन होते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति व्यवस्था, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सम्पूर्ण भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही मौजूद रही हैं। भाषा, रहन सहन और खान-पान में भेद होने के बावजूद भी कई सामाजिक-धार्मिक उत्सवों एवं त्यौहारों का प्रचलन सामान्य रूप से सारे देश में रहा है। होली, दीवाली, रक्षा-बन्धन, दशहरा, राम नवमी जैसे त्यौहार धूमधाम से सभी प्रान्तों में मनाये जाते हैं। राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, सीता, लक्ष्मी, सरस्वती आदि का पूजन सभी लोग करते हैं। आध्यात्मवाद, पुनर्जन्म, जीवन-चक्र, स्वर्ग-नरक आदि से सम्बन्धित विचारों में सभी भारतीयों का विश्वास रहा है। अनेक सदियों पुरानी प्रथाएँ, रीति-रिवाज, रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ अब भी यहाँ प्रचलित हैं। सांस्कृतिक सहिष्णुता के कारण यहाँ अनेक बाह्य संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में विलीन हो गयीं। भारतीय संस्कृति का स्वरूप अनेक संस्कृतियों के सम्पर्क के बावजूद भी अक्षुण्ण बना रहा। वर्तमान समय में भी विभिन्न धर्म, जाति, क्षेत्र एवं भाषा समूहों के बावजूद भी यहाँ एकता के भाव विद्यमान हैं। शिक्षित एवं अशिक्षितों, ग्रामीण एवं शहरी लोगों तथा प्रशासक एवं जनता में सामाजिक दृष्टि से निर्माणात्मक, सम्बन्ध आज कायम हैं। प्रजातन्त्र ने देश में भाई-चारे और समानता की भावना के विकास में योग दिया है।

(5) **राजनैतिक एकता**—राजनैतिक एकता से तात्पर्य है—सम्पूर्ण देश । एक केन्द्रीय सत्ता के शासन में होना। अशोक एवं अकबर के समय को छोड़कर

सम्पूर्ण भारत कभी भी एक ही प्रशासक के अधीन नहीं रहा। अंग्रेजो के शासनकाल में पहली बार सारे देश पर एक ही सरकार का शासन रहा। राजनैतिक सीमा के साथ-साथ इस समय भौगोलिक सीमा का भी निर्धारण हुआ। मुख्यरूप से भारत मे राजनैतिक एकता का उदय स्वतन्त्रता के संघर्ष के दौरान हुआ जो आज तक बना हुआ है।

(6) मानसिक एकता—मानसिक एकता का अर्थ है कि भारत के विभिन्न प्रान्तों मे रहने वाले, विभिन्न धर्मों को मानने वाले, अनेक संस्कृतियो एव रीति-रिवाजो को मानते हुए सभी लोग मानसिक रूप से अपने आप को भारत राष्ट्र का एक अग मानें तथा व्यक्तिगत एव क्षेत्रीय हितों के स्थान पर राष्ट्रीय हितो को महत्त्व दें। सभी देशवासी अपने को मानसिक एकता के सूत्र मे बंधा हुआ महसूस करें और अवसर आने पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहें। इस प्रकार मानसिक एकता मे एक राष्ट्रीय मन (National Psyche) के निर्माण की स्थिति पायी जाती है। इस प्रकार की एकता हमे भारत-चीन तथा भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय देखने को मिली जब सारा राष्ट्र छोटे-मोटे मतभेदो को भुलाकर एक विराट पुरुष के रूप में उठ खड़ा हुआ।

(7) जातीय एकता—हिन्दू जाति-व्यवस्था एक खण्डात्मक संरचना है जिसमे अनेक उपजातियों सम्मिलित हैं। प्रत्येक खण्ड की अपनी विशेषताएँ, रीति रिवाज और प्रथाएँ हैं। इन विभिन्नताओं के बावजूद सभी जातियो मे कई समानताएँ भी हैं। विभिन्न जातियो के बीच पायी जाने वाली पारस्परिक अन्तर निर्भरता ने भी जातियों को एकता के सूत्र मे पिरोये रखा। प्रारम्भ से भारत विभिन्न धर्मों, प्रजातियों एवं संस्कृतियों का द्रवण-पात्र (Melting pot) रहा है। समय-समय पर अनेक बाह्य आक्रमणकारी लोग यहाँ आते रहे हैं किन्तु वे सभी भारतीय जाति व्यवस्था मे पुन मिल गये और उसी के अग बन गये। जाति-व्यवस्था ने सारे भारत की एकता उस समय भी बनाये रखी जबकि सम्पूर्ण यूरोप बर्बरता के दलदल मे डूबा हुआ था।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय एकीकरण को जन्म देने मे समान आर्थिक हितों की पूर्ति भी महत्त्वपूर्ण है। सभी देशवासी अपनी आर्थिक समस्याओ को हल करने के लिए एक होकर प्रयास करते रहे हैं। पचवर्षीय योजनाओं और विकास योजनाओ ने भारतीयों के मन मे एकता का भाव पैदा किया है।

सामान्य आधिपत्य और कष्ट भी एकता का निर्माण करते हैं। अंग्रेजों के शासन को समाप्त करने के समय तथा चीन और पाकिस्तान के युद्ध के दौरान सारे देश मे एकता का भाव दिखाई पड़ता था।

इसी प्रकार से राजनीतिक चेतना भी राष्ट्रीय एकीकरण के सुदृढ़ निर्माण के लिए आवश्यक है। भूतकालीन राजनैतिक जीवन और भविष्य के राजनैतिक जीवन की आशाएँ भी लोगो को राष्ट्रीय एकीकरण के सूत्र मे पिरोने मे सहायक हैं।

स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत प्राचीन समय से ही ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव जातीय आधारो पर एकता के सूत्र मे बँधा रहा है। किन्तु समय-समय पर इसकी राजनीतिक एकता बनती और बिगड़ती रही है, फिर भी एकता के अन्य तत्वों ने राष्ट्र के सभी लोगो को एकीकरण के सूत्र मे सँजोये रखा है।

भारत में राष्ट्रीयता का उदय
(RISE OF NATIONALISM IN INDIA)

भारत मे राष्ट्र-निर्माण और राष्ट्रीय एकता के उदय को ऐतिहासिक दृष्टि से तीन भागों मे बाँटा जा सकता है

(1) अंग्रेजो के पूर्व का काल,

(2) अग्रेजो के समय मे, तथा

(3) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का काल।

(1) **अग्रेजों के पूर्व का काल**—यह काल अति प्राचीन समय से लेकर अंग्रजों के आगमन के पूर्व तक रहा है। इस समय मे सारे देश मे आध्यात्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक एकता व्याप्त थी, किन्तु राजनैतिक और प्रशासकीय एकता नहीं थी। इस प्रकार की एकता को बनाये रखने मे यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों एव सामाजिक-सास्कृतिक तत्वों का योग रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैले इस विशाल उपमहाद्वीप मे अनेक भौगोलिक विषमता तथा जलवायु सम्बन्धी भिन्नताएँ हैं। घने जगल, रेगिस्तान, समुद्र तटीय भाग, कलकल बहती नदियाँ एव विभिन्न प्रकार की वनस्पति ने भारतीयो के जीवन, सामाजिक सगठन एव इतिहास को प्रभावित किया है। अनेक मानव शास्त्रीय और पुरातत्वीय खोजो ने इस बात को स्पष्ट किया है कि प्राचीन समय से ही भारत एक सामाजिक सास्कृतिक इकाई रहा है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सस्कृति वैदिक युग से भी प्राचीन है। आधुनिक भारतीय समाज के अवशेष पाषाण युग और पूर्व-पाषाण युग मे भी मिलते हैं जो यह बताते हैं कि सम्पूर्ण भारत का एक सामान्य इतिहास रहा है। प्राचीन काल से ही यहाँ अनेक धर्मों, प्रजातियो और संस्कृतियो के लोग आते रहे किन्तु उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं बना रहा वरन् वे भारतीय सस्कृति एव समाज व्यवस्था मे विलीन हो गये। आर्यों के आगमन से ही यहाँ की समाज व्यवस्था मे जाति जैसी सस्था का उदय हुआ जो अब तक चली आ रही है। इस व्यवस्था ने समाज के विभिन्न उपखण्डों को एकता मे बाँधे रखा है। जाति पचायत, ग्राम पचायत, सयुक्त परिवार प्रणाली आदि सामाजिक सगठनों का प्रचलन भी प्राचीन काल से ही रहा है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पौत्र अशोक के समय मे भी सम्पूर्ण भारत एक था। तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयो मे भारत के विभिन्न भागो से छात्र पढ़ने आते थे। विदेशी पर्यटक मेगस्थनीज ने अपने यात्रा-वर्णन मे भारतीय सस्कृति की एकता का उल्लेख किया है। महाभारत काल मे भी राज-घराने के लोगो ने भारत के विभिन्न भागो मे विवाह द्वारा अपने सम्बन्ध स्थापित किये थे। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी गान्धार देश (वर्तमान

अफगानिस्तान) की थी। इस प्रकार से सोवीरा (सिन्ध), कामरूप (असम), द्रविड देश (मदुराई), विदर्भ (बरार) आदि स्थानों से भी यहाँ के शाही घरानों के सम्बन्ध थे। स्वय श्रीराम ने जो अयोध्यावासी थे, जनकपुरी (नेपाल) मे विवाह किया था। दक्षिण में पाड्या वंश के शासक उत्तर के पाडवो के ही वशज थे। ये सभी उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि सम्पूर्ण देश मे राजघराने के लोग एक ही थे। रामायण मे उत्तर और दक्षिण की सस्कृति का उल्लेख है। राम उत्तर की सस्कृति और दक्षिण की सस्कृति से सम्बन्धित रहे हैं। रामायण, महाभारत, विभिन्न धर्म ग्रन्थ तथा कालिदास आदि अनेक विद्वानों की रचनाओं मे सम्पूर्ण भारतीय सस्कृति के दर्शन होते हैं। शकराचार्य ने जो कि मालाबार के निवासी थे, सस्कृत मे वेदान्त की रचना की। उनके दर्शन का आज भी लोगों पर काफी प्रभाव है। तमिल के वैष्णव सन्तों के आधार पर रामानुज ने वैष्णव धर्म में सुधार प्रस्तुत किये। इस प्रकार प्राचीन समय से ही सम्पूर्ण देश सामाजिक-सास्कृतिक एकता के सूत्र में बँधा रहा है।

(2) अग्रेजों के समय में—अग्रेजो के पूर्व जो एकता सम्पूर्ण देश मे थी, उसे हम सामाजिक-सांस्कृतिक एकता के नाम से जानते हैं। अंग्रेजों के समय में पहली बार सामाजिक-सास्कृतिक एकता के साथ-साथ भारत मे राजनैतिक और प्रशासकीय एकता स्थापित हुई। अंग्रेजो ने सम्पूर्ण भारत पर एकछत्र राज्य किया और देश के भीतर अनेक छोटे-छोटे सामन्तो और शासकों को अपने राजनैतिक आधिपत्य मे रखा। वर्तमान में जिस राष्ट्रीयता की धारणा का उदय पश्चिमी देशों मे हुआ है उसमे एक शासन के अन्तर्गत शासित रहने को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। अग्रेजो के शासन-काल में ही भारत की भौगोलिक सीमा के साथ-साथ राजनैतिक सीमा का भी निर्धारण हुआ। अग्रेजों के शासन ने देश मे राष्ट्रीय जागरण में योग दिया। कांग्रेस ने देश के विभिन्न भागों में निवास करने वाले लोगो को अपने धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक, भाषायी और क्षेत्रीय मतभेदों को भुलाकर आजादी के सघर्ष मे भाग लेने की प्रार्थना की। इस आह्वान को देशवासियों ने स्वीकार किया और सभी नर-नारियों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर विदेशी शासन को समाप्त करने मे सहयोग दिया। आजादी के सघर्ष के दौरान सारे राष्ट्र में एकता की लहर दौड़ पड़ी।

किन्तु इस चेतना और एकता को भी अग्रेजों ने गहरी चोट पहुँचाई तथा उन्होंने विभाजन की नीति अपनायी और भारतीय समाज के विभिन्न अगो में परस्पर तनाव और सघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ।

(3) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद—सन् 1947 मे देश स्वतन्त्र हुआ और पाकिस्तान को छोड़कर, शेष भाग को धर्मनिरपेक्ष भारत राष्ट्र के नाम से जाना जाने लगा। सरदार पटेल के सद्प्रयत्नों से कई रियासतों को भारतीय सघ मे मिला दिया गया और इससे राजनैतिक एकीकरण का कार्य पूरा हुआ। किन्तु अब भी भावात्मक एकीकरण की आवश्यकता बनी हुई थी। इस समय एक देश, एक भाषा, एक सस्कृति

और एक शासन की बात कही गयी । सम्पूर्ण देश के लिए एक संविधान बनाया गया और एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी । अखिल भारतीय सेवाएँ जैसे आई. ए एस , आई पी एस , आई एफ. एस आदि का निर्माण किया गया । सारे राष्ट्र के लिए एक झंडा (तिरंगा) एक गान (जन गण मन), एक चिह्न (त्रिमूर्ति शेर) तथा एक गीत (वन्दे मातरम्) निर्धारित किया गया । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रीय एकता निर्बाध रूप से अधिक समय तक नहीं बनी रह सकी । कभी भाषा के नाम पर, कभी क्षेत्रवाद के नाम पर, तो कभी धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर तनाव और संघर्ष हुए जिन्होंने सम्पूर्ण देश को एक बार फिर झकझोर दिया । केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों में और विभिन्न राज्यों मे परस्पर नदी पानी वितरण, सीमा-निर्धारण एवं विभिन्न योजनाओं को लेकर विवाद हुए, यहाँ तक कि मद्रास जैसे राज्य मे भारतीय संघ से पृथक् होने और अलग राज्य बनाने तक की भी माँग उठी । इस प्रकार इस काल में भी सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता मे बाँधे रखने की आवश्यकता बनी रही । इसके लिए समय-समय पर हमारे नेताओं ने प्रयास भी किये । सन् 1955 मे बंगलौर मे स्वर्गीय प्रधान मन्त्री नेहरू ने राष्ट्रीय एकीकरण पर बल देते हुए कहा था, "हम भारतीय गणतन्त्र के नागरिक भूमि पर पाँवों को दृढ़ता से रोपे हुए, आकाश की ओर निहारते हुए, कमर सीधी करके सीधे खड़े हों, और समन्वय तथा एकीकरण स्थापित करें । कुछ सीमा तक राजनैतिक एकीकरण तो हो गया है लेकिन मैं जिस एकीकरण को चाहता हूँ वह बहुत गहन है—वह है भारतीय लोगों का भावात्मक एकीकरण—जिससे कि हम एकता मे बँधें और एक राष्ट्रीय इकाई का निर्माण करें, साथ ही हम सभी आश्चर्यजनक विभिन्नताओं को भी बनाये रखें ।"[1] इस प्रकार नेहरू जी ने विभिन्नता में एकता (Unity in diversities) की बात कही थी । समय समय पर राष्ट्रीय एकीकरण के लिए अनेक सम्मेलनों तथा कान्फ्रेंसों आदि का आयोजन भी किया जाता रहा है जिनमे राष्ट्रीय एकता हेतु अनेक सुझाव दिये गये फिर भी आज देश मे भावात्मक एकता आकाश कुसुम बन कर रह गयी है ।

भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक कारक
(OBSTACLES TO NATIONAL INTEGRATION IN INDIA)

अब हम यहाँ उन कारकों या बाधाओं का उल्लेख करेंगे जो भारत मे राष्ट्री एकीकरण के मार्ग मे कठिनाइयाँ पैदा करते रहे हैं

1 "Let us, the citizens of the Republic of India, stand up straight with straight backs and look up at the skies keeping our feet firmly planted on the ground and bring about this synthesis, this integration of the Indian people Political integration has already taken place to some extent, but what I am after is something much deeper than that an emotional integration of the Indian people so that we might be welded into one and made into one strong national unit, maintaining at the some time all the wonderful diversity." —J L. Nehru a speech made at Bangalore in Oct. 1955, quoted by G S. Ghurye, *op cit*, p. 491.

(1) क्षेत्रवाद (Regionalism)—इससे पूर्व कि हम क्षेत्रवाद का राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक तत्व के रूप में उल्लेख करें, क्षेत्र और क्षेत्रवाद की अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है। साधारण अर्थों में प्रान्तवाद और क्षेत्रवाद का पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है स्थानीयतावाद, पृथक्करणवाद और अलगाव।[1] वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार, "क्षेत्रवाद में एक विशिष्ट उप-राष्ट्र या अधो-राष्ट्र क्षेत्र के प्रति जागरूकता और भक्ति पायी जाती है जिसकी विशेषता सामान्य संस्कृति, पृष्ठभूमि या हित है।"[2]

"क्षेत्रवाद को निर्धारित करने वाले प्रमुख दो कारक हैं—(i) व्यक्तिपरक (subjective) (ii) अव्यक्तिपरक या वैषयिक (objective)। क्षेत्रवाद का निर्धारण करने वाले व्यक्तिपरक कारकों में हम एक समूह के जीवनयापन के तरीके, प्रथाओं, परम्पराओं, कलाकृतियों, भाषा, साहित्य, सामाजिक विरासत, विश्वासों, धारणाओं तथा मूल्यों आदि को गिन सकते हैं। ऐसा समूह अपने आप को एक क्षेत्रीय समूह मानता है। वैषयिक तत्वों में भू-क्षेत्र और मानव-पर्यावरण संकुल सम्मिलित है जिसमें क्षेत्रीय समूह निवास करता है।"[3]

सैद्धान्तिक रूप से क्षेत्रवाद की निम्नांकित विशेषताएँ हैं—(i) क्षेत्र के आधार पर प्रशासन का विकेन्द्रीकरण पाया जाता है। (ii) राष्ट्रीय एकता के लिए जब सभी इकाइयों पर एक ही राजनैतिक विचारधारा, भाषा, सांस्कृतिक प्रतिमान आदि थोपे जाते हैं, तो प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक सांस्कृतिक प्रति-आन्दोलन (counter-movement) किया जाता है। (iii) संघात्मक संरचना में अधिकाधिक उप-संस्कृतियाँ स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए राजनैतिक प्रति-आन्दोलन (political-counter movement) करती हैं। (iv) इकाइयों में राजनैतिक आकांक्षाओं (political aspirations) को प्राप्त करने के लिए पृथक्करण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसा करने के पीछे 4 उद्देश्य हो सकते हैं—(1) क्षेत्रीय संस्कृति को पुनर्जीवित करना और उप संस्कृति का निर्माण करना। (2) प्रशासकीय और राज-

---

[1] "In popular parlance it (Regionalism) is supposed to be a synonym of provincialism which breeds localism, isolationism, and separatism."
—Arun K. Chatterji, "*Sociological Context of Regionalism in India, a Conceptual Framework*." *Regionalism and National Integration* (ed.) By Satish Chandra and other, p. 31.

[2] "Regionalism is consciousness of and loyalty to a distinct sub-national or supranational area usually characterised by a common culture, background or interest."
—Webster's *Third International Dictionary*, II, 1902 (Chicago 1966).

[3] "Two sets of components, subjective and objective, determine the nature of regionalism. The subjective components are ways of living, customs and traditions, art forms, language and literature, social heritage, beliefs, attitudes and values as related to a group of people termed as a regional group. The objective component includes the territorial region and the accompanied man-environment complex within which the regional group lives."
—Arun Kumar Chatterji, *op. cit.*, p. 31.

नीतिक जुए को उतार फेंकना। (3) केन्द्र व राज्य तथा क्षेत्र की दो या अधिक सम्कृतियों के बीच टकराव का दूर करना। (4) केन्द्र व राज्यों या उप-संस्कृतियों में आर्थिक व राजनैतिक सन्तुलन कायम करना।[1]

भारत में क्षेत्रवाद की भावना को पैदा करने में कई भौगोलिक, मानव-पर्यावरण ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक शक्तियों का योगदान रहा है। वर्तमान में भारत में क्षेत्रवाद को जन्म देने में चार प्रमुख मुद्दे रहे हैं: (i) भाषा समस्या, आर्थिक विषमता और स्थानीय नेतृत्व को अधिक मजबूत बनाने आदि विषयों को लेकर एक क्षेत्र के लोग अपने को सम्पूर्ण भारत के स्थान पर एक प्रान्त या क्षेत्र से अधिक जुड़ा मानते हैं। (ii) राष्ट्रीय नेतृत्व के स्थान पर स्थानीय नेतृत्व पर अधिक बल दिया जाता है। (iii) केन्द्र व राज्यों में आर्थिक एवं राजनैतिक हितों को लेकर टकराव। (iv) केन्द्रीय सत्ता का उल्लंघन।

क्षेत्रवाद के कई प्रभाव पड़े हैं जैसे राजनैतिक दलों में साम्प्रदायिकता पनपी है। क्षेत्रीय पक्षपात की भावना, अन्तर्राज्यीय तनाव एवं संघर्ष, भाषावाद एवं आर्थिक और राजनैतिक हितों आदि को लेकर टकराव उत्पन्न हुए हैं। इससे क्षेत्रीय-अहवाद (regional ethnocentrism) अर्थात् अपने ही क्षेत्र को प्रधानता देने की प्रवृत्ति को बल मिला है। प्रान्तों ने अधिकाधिक स्वायत्तता और अधिकारों की माँग की है जिसके परिणामस्वरूप पृथक्तावादी विचारों ने जोर पकड़ा है। इन सबने प्रजातन्त्र और राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा उत्पन्न किया है।

भारत में क्षेत्रवाद की धारणा के उदय के प्रमुख तीन कारण रहे हैं: (1) राजनैतिक, (2) आर्थिक, (3) सामाजिक।

(1) राजनैतिक कारण—क्षेत्रवाद को जन्म देने में प्रमुख कारण केन्द्र व राज्यों के तथा एक राज्य के अन्य राज्य या राज्यों से तनावपूर्ण सम्बन्ध भी हैं। ये तनाव कई कारणों को लेकर उत्पन्न हुए जैसे विभिन्न प्रोजेक्ट्स किस प्रान्त में लागू किये जायें, केन्द्र से दी जाने वाली आर्थिक सहायता, प्रान्तों द्वारा अधिकाधिक खाद्यान्न देने की माँग, प्रान्तों की सीमा निर्धारण, नदी पानी बँटवारे का विवाद आदि। अपनी माँगों को मनवाने के लिए स्थानीय एवं प्रान्तीय राजनैतिक दबाव समूहों (political pressure groups) का उदय हुआ जिन्होंने स्थानीय राजनीति को जन्म दिया।

(2) आर्थिक कारण—क्षेत्रवाद की भावना को जन्म देने में आर्थिक कारकों ने भी योग दिया। आर्थिक रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों ने अपने यहाँ उद्योग खोलने की माँग की। ऐसा करते समय वे यह भूल जाते हैं कि आर्थिक दृष्टि से वह उद्योग उस क्षेत्र में लाभदायक सिद्ध होगा या नहीं। जब प्रान्तीय दबाव गहन हो जाता है उद्योग के आर्थिक दृष्टिकोण को त्यागना होता है। योजना बनाने वाले के सम्मुख

1 *Ibid.*, pp. 31-32.

भी तब एक समस्या आ जाती है। राजनेता जन-भावनाओं को उभार कर समूह मनोविज्ञान का शोषण करते समय यह भूल जाते हैं कि इन आर्थिक समस्याओं को प्रजातन्त्रीय तरीकों से किस प्रकार से हल किया जाय। आर्थिक विकास की कौन-सी योजनाएँ किस क्षेत्र में प्रारम्भ हों, इस बात को लेकर केन्द्र एवं राज्यों के बीच उत्पन्न विवाद हमारे योजनाबद्ध आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करते रहे हैं। यदि हम भारत के विभिन्न प्रान्तों की प्रति व्यक्ति आय को देखें तो पायेंगे कि महाराष्ट्र, पंजाब, पश्चिमी बंगाल और गुजरात में अन्य राज्यों की तुलना में प्रति व्यक्ति आय अधिक है। इसी प्रकार से सार्वजनिक क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना में बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा आदि राज्यों में पूँजी का विनियोग अधिक किया गया है। इस प्रकार आर्थिक कारणों ने भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा उत्पन्न की।

(3) सामाजिक कारण—क्षेत्रवाद को जन्म देने में सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का भी योगदान रहा है। भाषा, संस्कृति आदि की समस्याओं और क्षेत्रीय आधार पर बनी सेनाओं जैसे शिव सेना, लच्छित सेना एवं हिन्दी सेना आदि ने भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया। इन सेनाओं का उद्देश्य सामूहिक समस्याओं को हल करना था।

हम यहाँ क्षेत्रवाद से सम्बन्धित पिछले वर्षों में घटित कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे। क्षेत्रवाद का उदय प्रमुख रूप से दक्षिणी राज्यों में हुआ। 19 जून, सन् 1966 में बाल ठाकरे ने महाराष्ट्र में क्षेत्रवाद के आधार पर शिव सेना को जन्म दिया। महाराष्ट्र में मराठों की तुलना में दक्षिणी भारत के लोग व्यापार, उद्योग, प्रशासन, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्र में उच्च पदों पर अधिक आसीन थे। इसका कारण दक्षिण के लोगों द्वारा अंग्रेजी भाषा पर अधिकार था। आजादी के तीन दशक तक अधिकांश मराठे कृषि कार्य में लगे हुए थे और उनकी कोई विशेष आर्थिक महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं थीं। किन्तु इसके बाद शिव सेना आदि ने उच्च महत्त्वाकांक्षाएँ पैदा कीं जिन्हें वे शीघ्र पूर्ण करना चाहते थे। अतः महाराष्ट्र के लोगों में दक्षिण के लोगों के प्रति घृणा की भावना पैदा की गई और उन्हें अपने प्रान्त से बाहर निकालने के लिए आन्दोलन भी किया गया। शिव सेना ने महाराष्ट्र वालों का कोई भला तो नहीं किया वरन् महाराष्ट्रियों और गैर-महाराष्ट्रियों में तनाव पैदा कर दिया। इसके परिणामस्वरूप वहाँ राजनैतिक दलों, ट्रेड यूनियनों आदि में भी फूट पड़ गयी जो राष्ट्रीय एकता व प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधक बन गयी।[1]

राज्यों के पुनर्गठन और छोटे-छोटे राज्यों के निर्माण को लेकर तथा सीमा-निर्धारण के आधार पर भी विभिन्न प्रान्तों में परस्पर संघर्ष हुए। बम्बई राज्य का

1 For a detail study see 'Structure and Symbols of Regional Social Movement: The Case of Shiv Sena in Maharashtra', by K. K. Gangadharan. *Regionalism and National Integration* (ed.) by Satish Chandra and others, pp. 53-64.

भाषा के आधार पर महाराष्ट्र और गुजरात मे विभाजन हुआ । पजाब का विभाजन—पजाब और हरियाणा दो राज्यों मे हुआ, फिर भी चण्डीगढ़ विवाद का विषय बना हुआ है । मैसूर और महाराष्ट्र के बीच बेलगाँव को लेकर तथा तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल मे केसरगढ़ गाँव तथा उड़ीसा और आन्ध्र मे कुछ समीपवर्ती गाँवो को लेकर विवाद रहे हैं । गुजरात, राजस्थान एव मध्य प्रदेश के बीच नदी के पानी के बंटवारे को लेकर, पजाब और हरियाणा में भाखरा-नांगल को लेकर तथा आन्ध्र मे तेलगाना को लेकर कई विवाद पनपे हैं । असम मे नागाओ ने पृथक राज्य की माँग की । दक्षिण मे उग्रक्षेत्रवादी विचारो को द्रविड मुनेत्र कषगम (D M K) ने जन्म दिया । डी० एम० के० पार्टी ने मद्रास, मैसूर, केरल एव आन्ध्र को मिलाकर, द्रविड़नाड बनाने की माँग की । इसके लिए डी० एम० के० नेता अन्नादुरै ने कश्मीर की तरह ही जनमत सग्रह की माँग की । यहाँ तक कि उन्होने पृथक् झडे की माँग भी की और भारत से पृथक् होने की बात भी कही । मद्रास और अनेक दक्षिणी शहरों मे रेलें रोकी गयीं, राजकीय कार्यालयो, पोस्ट ऑफिस एव सचिवालयों पर धरने, घेराव, हड़ताल, तोड़-फोड एव आगजनी की घटनाएँ हुईं । सन् 1962 मे चीन के आक्रमण के कारण इस माँग मे शिथिलता आ गई और इस आन्दोलन को दबा दिया गया । डी० एम० के० पार्टी ने भी पृथक्करण की अपनी माँग को त्याग दिया किन्तु मद्रास राज्य का नया नाम तमिलनाडु रखा गया ।

उपर्युक्त घटनाओ के उल्लेख से स्पष्ट है कि क्षेत्रवाद ने भारतीय राष्ट्रीय एकता की धारणा पर गहरी चोट की है और एकीकरण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित की है ।

(2) भाषावाद (Linguism)—भाषा के विवाद ने भी पृथकतावादी प्रवृत्ति को तेज करने मे आग मे घी का काम किया है। यह एक आम धारणा है कि एक ही भाषा होनी चाहिए । एक राष्ट्र, एक भाषा की धारणा पश्चिम से ग्रहण की गई है क्योंकि वहाँ विभिन्न भाषा-भाषी लोग एक ही राष्ट्र के अन्तर्गत एक ही भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप मे स्वीकार करके रह रहे हैं। भारतीय राजनीतिज्ञो ने भी यहाँ वही प्रतिमान अपनाया । आजादी के पूर्व से लेकर एक लम्बे समय तक सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टि से कभी भी एक राष्ट्र नही रहा । उस समय सम्पूर्ण भारत छोटे-छोटे सामन्तों के अधीन था। राजकाज की भाषा अभिजात-वर्ग की भाषा ही थी। प्रजातन्त्रीय प्रणाली के अभाव मे साधारण व्यक्ति राजकाज के कार्यों मे भाग नही लेता था अत 11वीं से 16वीं सदी तक राजकाज की भाषा की कोई समस्या नहीं थी ।

भाषा का विवाद मुसलमानो और अग्रेजों के आगमन के बाद पैदा हुआ । मुसलमानों ने उर्दू को और अग्रजो ने उर्दू के स्थान पर अग्रेजी को राजकाज और न्यायालय की भाषा बनाया । आजादी के सघर्ष के दौरान कांग्रेस ने गाँधीजी के

आगमन के साथ स्थानीय भाषाओं को महत्त्व दिया। कांग्रेस ने सन् 1920 के नागपुर के अधिवेशन में भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण और अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग की। स्वतन्त्र भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने भी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसकी लिपि देवनागरी रखी गई। साथ ही यह भी कहा गया कि जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचलन नहीं है वे मातृ-भाषा या अंग्रेजी का प्रयोग कर सकते हैं। 10 वर्ष के भीतर केन्द्रीय स्तर पर तथा शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग की बात कही गई। साथ ही यह भी कहा गया कि संसद जब तक चाहे अंग्रेजी को बनाये रखने की अवधि बढ़ा सकती है।

भाषावाद तब पैदा होता है जब अनेक भाषाएँ होने पर एक भाषा-भाषी समूह अपनी भाषा को दूसरी भाषाओं से श्रेष्ठ होने का दावा करता है। साहित्यिक दृष्टि से उस भाषा को श्रेष्ठ समझा जाता है जो अन्य भाषाओं की तुलना में सुस्पष्ट और समृद्ध हो। परन्तु भाषा के साथ व्यक्ति का मानसिक लगाव होता है। अत. जब एक भाषा बोलने वालों पर दूसरी भाषा थोपी जाती है तो तनाव पैदा होता है। भारत में भाषा समस्या अनेक पहलुओं को लेकर पैदा हुई, जैसे (i) राष्ट्र-भाषा क्या हो? (ii) अहिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी का प्रचलन। (iii) अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग। (iv) शिक्षा का माध्यम क्या हो? (v) विभिन्न प्रान्तों एवं केन्द्र के बीच सम्पर्क-भाषा क्या हो? (vi) भाषा के आधार पर प्रान्तों का निर्माण आदि।

सन् 1948 में भाषायी प्रान्त कमीशन (Linguistic Provinces Commission) ने भाषा के आधार पर राज्य के निर्माण की बात को तो स्वीकार किया किन्तु फिलहाल वैसा न करने की बात कही थी क्योंकि उस समय कश्मीर विवाद चल रहा था तथा देश के सामने कई आर्थिक और प्रशासकीय कठिनाइयाँ थी। उस समय तक राज्यों का पूरी तरह से एकीकरण नहीं हुआ था। किन्तु इस बात को लेकर भारत के कई प्रान्तों में दंगे हुए। बम्बई राज्य को गुजरात और महाराष्ट्र में बाँट देने की मांग की गई। सन् 1953 में राज्य पुनर्गठन कमीशन (State Reorganization Commission) की नियुक्ति की गई जिसने सन् 1955 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस कमीशन ने भाषा और संस्कृति के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन को राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आवश्यक माना। अत मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, केरल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सभी राज्यों का पुनर्गठन किया गया। किन्तु इस पुनर्गठन ने सीमा-विवाद को जन्म दिया। आन्ध्र में तेलगू भाषा भाषियों ने पृथक् तेलंगाना राज्य की और पंजाब में मास्टर तारासिंह ने पंजाबी भाषी लोगों के लिए पंजाबी सूबे की मांग की। इसके लिए आन्दोलन, भूख हड़ताल और आत्मदाह की धमकियाँ दी गयीं। अन्ततः पंजाब को विभाजित कर पंजाब और हरियाणा दो राज्य बनाये गये।

भाषावाद ने उस समय भी उग्र रूप धारण किया जब सन् 1963 में हिन्दी को राजकाज की भाषा बनाने का बिल संसद में पेश किया गया। दक्षिण के राज्यों प्रमुखतः मद्रास और द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम जैसे राजनैतिक दलों ने इसका विरोध किया। दक्षिण में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम दल का समर्थन भाषा विवाद पर सी० राज गोपालाचार्य एवं स्वतन्त्र पार्टी ने भी किया। दक्षिण के प्रान्त हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी को बनाये रखने के पक्ष में थे। अतः अपना विरोध प्रकट करने के लिए दक्षिणी प्रान्तों में तोड़ फोड़, दंगे, हड़तालें आदि हुई तथा मद्रास में 13 अक्टूबर सन् 1963 को अन्नादुरै के नेतृत्व में रेलें रोकी गई, रेलों में बिना टिकट यात्रा की गई, उन कार्यालयों में जहाँ हिन्दी पढ़ाई जाती थी, धरने दिये गये तथा राज्य एवं केन्द्रीय मन्त्रियों को काले झण्डे दिखाये गये, तथा भाषा विधेयक बिल की प्रतियाँ जलाई गयीं। हिन्दी में लिखे पोस्टरों और बोर्डों को फाड़ा गया एवं कोलतार पोता गया। हिन्दी विरोधी आन्दोलन की प्रतिक्रिया उत्तरी भारत में हिंदी भाषी प्रान्तों में हुई और उन्होंने अंग्रेजी के विरोध में वैसा ही किया जैसा दक्षिणी राज्यों में हिन्दी के विरोध में हो रहा था।

भाषा की समस्या शिक्षा के क्षेत्र में भी पैदा हुई। अहिन्दी भाषी लोग अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाये रखना चाहते थे जबकि हिन्दी भाषी नहीं। केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रति वर्ष होने वाली विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी व अंग्रेजी दोनों को रखा गया। शिक्षण संस्थाओं में भाषा समस्या को हल करने के लिए सन् 1959 में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने राज्यों से सलाह करके त्रिभाषा सूत्र (Three Language Formula) बनाया। इसका उद्देश्य अंग्रेजी के स्थान पर धीरे धीरे हिन्दी को लाना था। इस सूत्र के अनुसार हिन्दी भाषी प्रान्तों में प्रत्येक बच्चे को अंग्रेजी और हिन्दी व साथ-साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं में से कोई भी एक भाषा सीखने की बात रखी गई। साथ ही अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी व अंग्रेजी के साथ-साथ अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में से कोई एक भाषा सीखनी होगी। किन्तु मद्रास सरकार ने इस सूत्र को भी अस्वीकार कर दिया। सन् 1967 में तत्कालीन शिक्षा मन्त्री की अध्यक्षता में संसद में भाषा समस्या पर एक कमेटी बनाई गई जिसमें डी० एम० के०, जनसंघ एवं अन्य दलों के भी सदस्य थे। इस कमेटी ने दो भाषाओं का सुझाव दिया—प्रथम 5 वर्ष के अध्ययन के दौरान छात्र केवल अपनी मातृ भाषा में ही शिक्षा ग्रहण करेगा। शेष समय वह मातृ-भाषा के साथ-साथ संविधान की अनुसूची 8 में लिखित भाषाओं में से कोई भी एक भाषा कक्षा 10 तक पढ़ेगा और छात्र चाहे तो आठवीं कक्षा के बाद तृतीय भाषा का भी अध्ययन कर सकता है। इस सूत्र की भी कई लोगों ने आलोचना की। हिन्दी भाषी प्रान्तों में आन्दोलन हुए। इन राज्यों में वाइस चांसलरों की बैठक बुलाई गई जिसमें उन्हें निर्देश दिया गया कि 5 वर्ष के भीतर हिन्दी को

लागू किया जाय। सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा और सेठ गोविन्द दास ने अंग्रेजी के विरोध में अपनी पद्म भूषण की उपाधियाँ केन्द्रीय सरकार को लौटा दी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भाषा समस्या ने देश के सभी प्रान्तों में घृणा, हिंसा, तनाव और संघर्ष की स्थिति पैदा की जिसके परिणामस्वरूप देश में एकता को धक्का लगा और देश के विभिन्न भागों में बसने वाले लोगों में परस्पर घृणा, द्वेष और मनमुटाव को बढ़ावा मिला।

(3) साम्प्रदायिकता (Communalism)—विभिन्न सम्प्रदायों के बीच तनाव भी राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक रहा है। पुलिस रिकार्ड के अनुसार अधिकांश साम्प्रदायिक तनावों के पीछे छोटे-मोटे कारण रहे हैं जैसे मूर्ति तोड़ देना, गोहत्या कर देना, मुसलमानों पर रंग छिड़क देना, मस्जिद के सामने बैंड बजाना या संगीत का कार्यक्रम रखना, धार्मिक जुलूसों एवं उत्सवों में पथराव करना आदि। इस प्रकार की घटनाएँ मानसिक संकीर्णता की द्योतक हैं। भारत में साम्प्रदायिकता अंग्रेजों की देन है। उन्होंने अपने शासन को बनाये रखने के लिए 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई थी। वे हिन्दुओं, मुसलमानों एवं हरिजनों को आपस में लड़ाते रहे। इस साम्प्रदायिकता का ही परिणाम था कि भारत का विभाजन हुआ। विभाजन के दौरान देश में कई दंगे, खून, आगजनी, लूटपाट, बलात्कार आदि की घटनाएँ हुयीं। भारत के दो टुकड़े हो जाने पर भी साम्प्रदायिकता की समस्या नहीं सुलझी क्योंकि कई मुसलमान जो पाकिस्तान नहीं जाना चाहते थे, भारत में ही बने रहे। भारत-विभाजन में मुसलमानों के विशिष्ट योग के ही कारण उन्हें शंका की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यही नहीं, स्वयं मुसलमानों ने भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास किया है। प्रो० दयाकृष्ण[1] का मत है कि भारतीय मुसलमानों ने भारत की भूतकालीन परम्पराओं में भागीदार होने के प्रति उदासीनता दर्शायी है और उन्होंने अपने सामाजिक विधानों में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया है जबकि हिन्दुओं ने धर्मनिरपेक्ष संविधान अपनाया तथा अपने सामाजिक-पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित नये सुधारों और कानूनों को स्वीकार किया है। इसलिए ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठन ने मुसलमानों के भारत की मुख्य धारा में घुस-मिल जाने की और उनके भारतीयकरण की माँग की। मुसलमानों ने उर्दू को उत्तर प्रदेश में द्वितीय राज्य भाषा का स्तर देने की माँग की। सन् 1961 में तथाकथित राष्ट्रीय मुस्लिम कन्वेंशन हुई जिसमें राष्ट्रीय गान के स्थान पर मोहम्मद इकबाल के गीत से कार्यवाही प्रारम्भ की गई। सन् 1967 के चुनावों में मुसलमानों ने अपने लिए उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाने, मुसलमानों के व्यक्तिगत कानून (Personal law) को बनाये रखने एवं विधान सभाओं में अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व देने की माँग की। *दूसरे शब्दों में ये माँगें दो-राष्ट्रवाद सिद्धान्त पर ही*

1 P C. Mathur, *Regionalism and National Integration*, p 187.

आधारित था जिसका परिणाम भारत सन् 1947 मे विभाजन के रूप मे भुगत चुका है।

साम्प्रदायिकता की कलुषित भावना के कारण देश के विभिन्न भागों मे दंगे हुए। जबलपुर, रांची, इन्दौर, भिवानी, अहमदाबाद तथा अलीगढ़ आदि अनेक शहरो मे साम्प्रदायिकता की आग भड़की। इन दगो के पीछे धार्मिक एव सामाजिक कारणो के साथ-साथ आर्थिक कारण भी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। अहमदाबाद में जगन्नाथ मन्दिर पर कुछ लोगो ने आक्रमण किया किन्तु यह स्पष्ट नहीं था कि आक्रमणकारी मुसलमान ही थे। फिर भी उनके प्रति रोष बढ़ा और प्रतिक्रियास्वरूप पास की एक दरगाह पर आक्रमण किया गया। 24 घण्टे के अन्दर सारे शहर में तनावपूर्ण वातावरण बन गया और दोनो ही पक्षो ने मार काट तथा आगजनी प्रारम्भ कर दी। मकान, मोटरें दुकानें तथा रामायण और कुरान की प्रतियाँ जलाई गयी। बहुसंख्यकों का मत है कि यदि आक्रामक रवैया नहीं अपनाया जाता तो उन्हें अल्पसंख्यकों के आक्रमण का शिकार होना पड़ता।

साम्प्रदायिक दगो के पीछे मुसलमानों की देश-भक्ति मे शका प्रकट करने के अतिरिक्त आर्थिक कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। यह बात अहमदाबाद के उदाहरण से स्पष्ट है। अहमदाबाद म उत्तर प्रदेश और दिल्ली के कई मुसलमान बसे हुए हैं जो कि दक्ष और अदक्ष कार्यों मे लगे हुए हैं। लगभग तीन पीढ़ियो से ये लोग वहाँ बसे हुए हैं फिर भी वहाँ की संस्कृति और भाषा से अपने को उन्होंने पृथक् रखा है। अहमदाबाद मे आस-पास के क्षेत्र से भी कई लोग काम की खोज मे आते हैं किन्तु काम के अभाव मे उन्हें निराश होना पड़ता है। यह निराशा उनमे प्रान्तीयता और भाषावाद की भावना पैदा करती है तथा वे एकजुट होकर बाह्य लोगों से संघर्ष करते हैं। अहमदाबाद मे सन् 1961 मे काम की खोज मे आने वाले बाह्य लोगों मे से 50% हिन्दू थे और 36% मुसलमान। हिन्दू आस-पास के क्षेत्र के निवासी थे जबकि मुसलमान महाराष्ट्र, दिल्ली, उत्तर प्रदेश एव राजस्थान के। अहमदाबाद मे 70% लोग गुजराती, 13% उर्दू 8% हिन्दी और 3% मराठी भाषा बोलने वाले हैं।[1]

इन आँकड़ो से स्पष्ट है कि अहमदाबाद मे लगभग 50% जनसंख्या बाह्य प्रान्तों के लोगों की है। यहाँ के मूल निवासी (Son of the soil) बाहरी लोगों को यहाँ नही चाहते क्योंकि उन्होने यहाँ के लोगों के लिए बेकारी की समस्या पैदा कर दी है। अत वहाँ बहुसंख्यक लोगों ने अल्पसंख्यकों के साथ काम करने से मना कर दिया। उन्होंने भरती पद्धति एव उच्च पदो पर बाह्य लोगों के काम करने पर असन्तोष प्रकट किया। इससे परस्पर तनाव और संघर्ष पैदा हुआ। इन्दौर में हुए साम्प्रदायिक दगो के पीछे भी यही कारण था। स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक तनावों के

1 K C. Pandey, *Regionalism and National Integration*, pp 9-10.

पीछे ऊपरी तौर पर जो कारण दिखाई देते हैं वे नहीं वरन् उनके पीछे निहित आर्थिक स्वार्थ एवं सामाजिक-सांस्कृतिक कारक ही उत्तरदायी हैं।

(4) जातिवाद (Casteism)—जातिवाद ने भी एकीकरण के मार्ग में बाधा उपस्थित की है। एक जाति जब अन्य जातियों की तुलना में अपनी जाति को श्रेष्ठ समझती है तथा अन्य जातियों के हितों की अनदेखी कर अपनी ही जाति के लोगों के हितों की रक्षा करती है तो हम उसे जातिवाद के नाम से पुकारते हैं। वर्तमान में जातियों ने अपने स्थानीय घेरों को तोड़कर प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर के संगठन बनाये हैं। राजनैतिक क्षेत्र में जातिवाद के परिणामस्वरूप जाति विशेष के लोगों ने अक्सर अपनी ही जाति के सदस्यों के पक्ष में मतदान किया है। एन० एम० श्रीनिवास का मत है कि मैसूर में पंचायत के चुनावों से लेकर राज्य में मन्त्रियों और सचिवों की नियुक्ति तक में जातीय आधार अपनाया गया है।[1] रजनी कोठरी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय राजनीति में जाति' (Caste in Indian Politics) तथा रुडोल्फ एवं रुडोल्फ ने अपनी पुस्तक मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडीशन (Modernity of Tradition) में जाति और राजनीति के सम्बन्धों का विस्तार से उल्लेख किया है। प्रजातन्त्र के कारण सत्ता प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में टकराव पैदा हुआ है। राजस्थान में राजपूत और जाटों में, महाराष्ट्र में मराठा, ब्राह्मण और महार में, आन्ध्र में रेड्डी और कामा में; उत्तर प्रदेश में जाट, कायस्थ और बनियों में, बिहार में भूमिहार और क्षत्रियों के बीच, गुजरात में बनिया, पाटीदार और कोलियों में, केरल में ईसाई, मुसलमान और इजावह लोगों में, तमिलनाडु में ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों में राजनैतिक हितों को लेकर संघर्ष हुए हैं। प्रत्येक जाति साधारणतः अपनी और अपने सदस्यों के अधिकाधिक हितों की रक्षा के लिए राजनीति का सहारा लेती है और अपने प्रतिनिधियों को विधान सभाओं और संसद में भेजकर अपने कानूनी, राजनैतिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए राजनीति का सहारा लेती है और अपने प्रतिनिधियों को विधान सभाओं और संसद में भेजकर अपने कानूनी, राजनैतिक और आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करती है। इससे जातिवाद की भावना और प्रबल हुई है। निम्न जातियाँ संविधान द्वारा प्रदत्त राजनैतिक, प्रशासनीय और आर्थिक सुविधाओं का लाभ लम्बी अवधि तक उठाते रहने के लिए संगठित हुई हैं। धार्मिक एवं सार्वजनिक स्थानों के उपयोग को लेकर उच्च और निम्न जातियों में संघर्ष हुए हैं। राल्फ निकोलस ने उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु के गाँवों का अध्ययन किया तो पाया कि वहाँ निम्न जातियों ने उच्च जातियों को चुनौती दे रखी थी। राजनैतिक दलों ने भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रभुत्वशाली और बहुसंख्यक जातियों का चुनावों में सहारा लिया है और शासन में आने पर अपने समर्थकों का अधिकाधिक हित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार जातिवाद ने राष्ट्रीय एकीकरण को धक्का पहुँचाया है।

1 M. N. Srinivas, *Caste in Modern India and other Essays*, pp. 98-111.

(5) धार्मिक पूर्वाग्रह (Religious Prejudices)—भारत में अनेक धर्मों का प्रचलन रहा है किन्तु कभी-कभी छोटे-छोटे स्वार्थों को लेकर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच तनाव और संघर्ष हुए हैं, अधिकांशतः हिन्दुओं और मुसलमानों में। मुसलमानों ने हिन्दुओं को काफिर और हिन्दुओं ने मुसलमानों को मलेच्छ के नाम से सम्बोधित किया है। हिन्दू एवं मुस्लिम धर्म में टकराव उस समय प्रारम्भ हुआ जब मुसलमान आक्रमणकारी के रूप में यहाँ आये और उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को जबरन मुसलमान बनाया। इस प्रकार धार्मिक पूर्वाग्रहों ने भी विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच फूट, तनाव और मतभेद पैदा किये जिससे राष्ट्रीय एकता को धक्का लगा।

(6) उग्रपंथी विचार—कई ऐसे दल और संगठन हैं जो हिंसा में विश्वास करते हैं और उन्होंने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा का सहारा लिया है। नक्सलवादियों ने कुछ समय पूर्व बंगाल, बिहार, उड़ीसा और अन्य प्रान्तों में तोड़-फोड़ और मार-काट की थी। फासिस्ट और माओवादी विचारधारा के समर्थकों ने भी समय-समय पर हिंसा की घटनाएँ उत्पन्न की हैं। आनन्द मार्ग जिसके प्रणेता प्रभात सरकार या आनन्द मूर्ति हैं का विचार है कि प्रजातन्त्र, भीड़तन्त्र या मूर्खतन्त्र है। वे प्रजातन्त्र के स्थान पर एकतन्त्र में विश्वास करते हैं तथा इससे मुक्ति के लिए रक्त-क्रान्ति को आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी तथा तोड़-फोड़ करने वाले तत्वों ने भी राष्ट्रीय एकीकरण को ठेस पहुँचाई है।

(7) आर्थिक विषमता—राष्ट्रीय एकीकरण को आर्थिक विषमता ने भी खतरे में डाला है। दिनों-दिन बढ़ती महँगाई, बेकारी और गरीब-अमीर के बीच बढ़ती खाई ने भी लोगों के बीच विद्रोह की भावना पैदा की है। अधिकांश व्यक्ति गरीबी की रेखा से भी नीचे का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दूसरी ओर कुछ लोग कालाबाजारी, स्मगलिंग, मुनाफाखोरी, मिलावट और संग्रह करके सम्पन्न बन रहे हैं। प्रो० एम० वी० माथुर[1] का मत है कि ऊपरी तौर पर तो ऐसा लगता है कि हमारे देश में होने वाली घटनाओं के पीछे साम्प्रदायिकता, भाषावाद और क्षेत्रवाद का हाथ है किन्तु इसके मूल में विकास की कमी और उपलब्ध साधनों का उचित वितरण न होना है। इस आर्थिक विषमता ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।

(8) राष्ट्रीय जागृति की कमी ने भी विघटनकारी तत्वों को खुलकर खेलने का अवसर दिया है और उन्होंने राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात किया है।

(9) राष्ट्रीय चरित्र में गिरावट ने भी एकीकरण में बाधा उपस्थित की है।

---

1 "Lot of things happened in our country in the name of communal disturbance, linguistic disturbances, regional rivalaries, but their root cause lies in the lack of development and lack of equitable distribution of whatever we have got." —Prof M V. Mathur in his inaugural speech in the seminar on *Regionalism and National Integration*, p. 217.

(10) स्वार्थपूर्ण नेतृत्व और राजनैतिक भ्रष्टाचार ने भी राष्ट्रीय हितों के स्थान पर वैयक्तिक और दलीय हितों को महत्त्व देकर लोगों में फूट, तनाव और संघर्ष को जन्म दिया है।

(11) विकास योजनाओं की असफलताओं ने भी लोगों में असन्तोष और रोष पैदा किया है।

(12) राज्यों और केन्द्रों के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने भी एकता की भावना को ठेस पहुँचाई है।

(13) छात्र असन्तोष ने भी विभिन्न आन्दोलनों को जन्म दिया है और इन आन्दोलनों में छात्रों ने तोड़-फोड़ और हिंसात्मक उपायों का सहारा लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समय-समय पर अनेक तत्त्वों ने राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा उपस्थित की है, फिर भी इन बाधाओं से देश जूझता रहा है और अपनी राष्ट्रीय एकता और गरिमा को आज भी बनाये हुए है।

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में इन बाधाओं के कारण देश में समय-समय पर हिंसा की आग भड़की है, प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ सशक्त हुई हैं, पृथकतावादी शक्तियों ने सिर उठाया है, राष्ट्रीय दृढ़ता का ह्रास हुआ है, बाह्य आक्रमण और आन्तरिक संकट पैदा हुए हैं, राष्ट्रीय शक्ति और स्रोतों की हानि हुई है'। देश में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न हुई है। साथ ही स्वार्थी तत्त्वों ने 'बहुजन हिताय' की कीमत पर अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति की है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक इन तत्त्वों से शक्ति के साथ निपटा जाय और एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण किया जाय। राष्ट्रीय एकीकरण को बनाये रखने के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता है, अब हम यहाँ उनका उल्लेख करेंगे।

राष्ट्रीय एकीकरण के उपाय
(MEASURES FOR NATIONAL INTEGRATION)

राष्ट्रीय एकीकरण को बनाये रखने के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार से दिये जा सकते हैं :

(1) सारे देश में राष्ट्रीय एकीकरण के लिए प्रचार-प्रसार किया जाय और इसके लिए रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन, अखबार, पत्र-पत्रिकाओं आदि का उपयोग किया जाय। वर्तमान समय में ये सभी साधन जनमत-निर्माण के सशक्त साधन हैं। जनता को ऐसे लोगों से सावधान रहने को कहा जाय जो साम्प्रदायिकता और धार्मिक विद्वेष फैलाते हैं और उनकी सार्वजनिक रूप से निन्दा की जाय।

(2) शिक्षण संस्थाओं में सभी धर्म, प्रान्त, भाषा, संस्कृति आदि से सम्बन्धित लोगों को एक ही साथ शिक्षा प्रदान की जाय। जाति, धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर चलने वाली शिक्षण संस्थाओं एवं छात्रावासों पर रोक लगायी जाय क्योंकि ये धार्मिक और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह पैदा करते हैं। अधिकाधिक शिक्षा का प्रसार किया क्योंकि अज्ञानता अनेक बुराइयों को जन्म देती है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे विश्वविद्यालयों

की स्थापना की जाय जो सभी धर्मों के सिद्धान्तों की शिक्षा प्रदान करें। शिक्षण संस्थाओं में राष्ट्रीय गान के बाद ही शिक्षण प्रारम्भ किया जाय तथा सभी छात्रों में समभाव, राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावना पैदा की जाय।

(3) विभिन्न प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों (prejudices) को समाप्त किया जाय और इसके लिए जनमत बनाया जाय।

(4) राजनैतिक दल जाति, जनजाति एवं क्षेत्रीय भावनाओं को त्यागें और राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर कार्य करें।

(5) अन्तर्प्रान्तीय सहयोग को बढ़ावा दिया जाय। राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के खेलों, शिविरों आदि का आयोजन किया जाय जिनमें सभी प्रान्तों के व्यक्ति भाग ले सकें ताकि विभिन्न प्रान्तों में परस्पर मेल-मिलाप एवं सहयोग की भावना उत्पन्न हो।

(6) जनजातियों और अल्पसंख्यकों के हितों को भी उचित संरक्षण प्रदान किया जाय जिससे वे अपने को उपेक्षित न समझें और उनमें हीनता एवं उग्रता की भावना न पनपे।

(7) प्रतिक्रियावादियों, फासिस्ट ताकतों, माओवादियों और ऐसे ही अन्य संगठनों पर रोक लगायी जाय जो हिंसा और आतंक में विश्वास करते हों। ऐसे तत्वों से निपटने के लिए कठोर कानून और दण्ड की व्यवस्था की जाय।

(8) केन्द्र एवं प्रान्तों के आपसी सीमा विवादों, नदी जल विवादों आदि के लिए इस प्रकार के ट्रिब्यूनल बनाये जायें जिनमें सम्बन्धित पक्षों के भी प्रतिनिधि हों ताकि वे अपनी बात भी कह सकें और उनके द्वारा लिये गये निर्णयों का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन किया जा सके।

(9) सभी भाषाओं की शिक्षा देने के साथ-साथ हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए प्रचार, प्रसार एवं प्रशिक्षण का कार्य किया जाय। हिन्दी अहिन्दी भाषी प्रान्तों पर थोपी नहीं जाय वरन् उन प्रान्तों में ऐसे प्रयास किये जायें कि वे स्वयं ही हिन्दी को अपनाने के लिए आग्रह करें। अंग्रेजी को ऐच्छिक विषय के रूप में चालू रखा जाय।

(10) सभी प्रकार की सेनाओं जैसे शिव सेना, लच्छित सेना आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय क्योंकि ये लोगों में प्रान्तीयता और भाषायी भावनाएँ भड़का कर समूह मनोविज्ञान का शोषण करते हैं।

(11) सभी प्रान्तों और लोगों के आर्थिक हितों की रक्षा की जाय। केन्द्र द्वारा प्रारम्भ की जाने वाली विकास योजनाएँ लागू करते समय प्रान्त की आर्थिक स्थिति, जनसंख्या और उपलब्ध साधनों का भी ध्यान रखा जाय तथा उद्योगों का केन्द्रीयकरण न किया जाय। ऐसा करने से उन क्षेत्रों में पानी, बिजली, गन्दी बस्तियों, मकानों और सड़कों की समस्या पैदा होती है।

(12) यातायात के साधनों (सड़कों आदि) का अधिकाधिक विकास कर लोगों को भौगोलिक गतिशीलता के लिए प्रोत्साहित किया जाय जिससे वे अपने घर, गाँव और प्रान्त छोड़कर बाहर जायें और कूपमण्डूकता एवं संकीर्णता से मुक्ति पायें ताकि वे अपने विचारों में विश्व-दृष्टिकोण पैदा कर सकें।

(13) अधिकाधिक धर्म-निरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया जाय जिससे कि मानव धर्म और मानवीय दृष्टिकोण का तार्किक विकास हो।

राष्ट्रीय एकीकरण के लिए किये गये प्रयत्न
(EFFORTS MADE FOR NATIONAL INTEGRATION)

आजादी के बाद से ही राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी क्योंकि जो एकता देश में आजादी के संघर्ष के दौरान पैदा हुई वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद लड़खड़ाने लगी थी और देश में अनेक स्थानों पर भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि को लेकर कई दंगे और संघर्ष हुए थे। इन विघटनकारी घटनाओं को रोकने और एकीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए 15 मई, सन् 1961 में भारत सरकार ने भावात्मक एकीकरण समिति (Emotional Integration Committee) की स्थापना की। इस समिति ने सन् 1962 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति के उद्घाटन के अवसर पर श्री नेहरू ने एकीकरण के विभिन्न सांस्कृतिक, शैक्षणिक, भाषायी और प्रशासकीय पक्षों को स्पष्ट किया। नेहरूजी स्वयं राष्ट्रीय एकीकरण के महान् समर्थक थे। । उन्होंने समय-समय पर एकीकरण के लिए पुरजोर कोशिश की। भारत के 14वें स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर लाल किले से प्रसारित अपने भाषण में श्री नेहरू ने राष्ट्रीय एकीकरण पर बल देते हुए कहा था, "भारत में जबकि नये सूर्य का उदय हो रहा है, हम सभी के लिए यह उपयुक्त होगा कि हम सही मार्ग पर रहें, धीरे-धीरे एकता की ओर बढ़ें, स्वतन्त्रता की रक्षा करें और राष्ट्रीय समृद्धि के लिए कार्य करें।"[1] भारतीय एकी-एकीकरण समिति ने कई निर्णय लिये जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—(1) यदि कोई व्यक्ति या समूह भारतीय संघ से पृथक होने की वकालत करता है तो ऐसा करना अपराध माना जायेगा। (2) इंजीनियरिंग, मेडीकल एवं वन विभाग की अखिल भारतीय सेवाएँ बनाई जायें तथा इन सेवाओं में अफसरों का क्रमावर्तन (Rotation) हो। (3) प्रत्येक प्रान्त के उच्च न्यायालय में एक न्यायाधीश उस प्रान्त के बाहर का हो। (4) अल्पसंख्यकों की भाषा को संरक्षण प्रदान किया जाय।

28 सितम्बर, सन् 1961 को त्रि दिवसीय राष्ट्रीय एकीकरण कांफ्रेंस का दिल्ली में आयोजन किया गया जिसमें 150 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें

---

[1] "When a new sun is rising in India, it behoves all of us to remain on the right path, forge unity, defend freedom and work for the prosperity of the nation."
—J. L. Nehru, quoted by G. S. Ghurye, *op. cit* p. 491

राष्ट्रीय एकीकरण समिति तथा सन् 1958 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं मई, जून और अगस्त सन् 1961 में प्रान्तों के मुख्यमन्त्रियों की बैठकों में प्रकट किये गये विचारों एवं सुझावों का विस्तारपूर्वक लेखा-जोखा किया गया। इस कांफ्रेंस ने निम्नांकित निर्णय लिये—(1) लोगों में समझ, पारस्परिक सद्भाव और राष्ट्रीय-दृढ़ता पैदा करने के लिए सभी राज्यों के विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में दूसरे प्रान्तों के अध्ययन करने वाले छात्रों को भी छात्रवृत्तियाँ, प्रवेश और और अन्य सुविधाएँ दी जायें। (2) भारत में सभी स्कूलों में शिक्षण कार्य राष्ट्रगान के बाद ही प्रारम्भ किया जाय। (3) राष्ट्रीय एकीकरण का विकास करने के लिए राजनीतिक दलों, प्रेस, छात्रों एवं सामान्य नागरिकों के लिए व्यवहार के नियम तय किये जायें। (4) इस कांफ्रेंस में राष्ट्रीय एकता परिषद की स्थापना करने का सुझाव भी दिया गया जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होंगे। (5) यह परिषद छात्रों, राजनीतिक दलों, प्रेस एवं जनता के लिए व्यवहार के नियम बनायेगी तथा अल्पसंख्यकों की शिकायतें दूर करने के सुझाव देगी। राजनीतिक एवं अन्य उद्देश्यों के लिए किये जाने वाले उपवास की औचित्यता पर भी विचार करेगी। (6) राष्ट्रीय एकीकरण के लिए आर्थिक कार्यक्रमों को लागू करने में क्षेत्रीय सन्तुलन लाया जाय तथा अल्पसंख्यकों एवं ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर अधिक जोर दिया जाय। (7) सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण तरीकों से हो।

सन 1961 में राष्ट्रीय एकीकरण परिषद की स्थापना इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में हुई जिसके सोलह सदस्य थे उनमें से नौ मुसलमान, पाँच हिन्दू एवं एक-एक ईसाई और सिक्ख थे। इस परिषद ने अपनी रिपोर्ट में एकीकरण के लिए निम्नांकित सुझाव दिये : (1) नौकरी में समुदायों की संख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित नहीं किये जायें। (2) अल्पसंख्यक समुदायों को व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण सुविधाएँ दी जायें तथा उन्हें सरकारी और गैर-सरकारी सेवाओं, उद्योग एवं वाणिज्य में सेवा करने के अवसर प्रदान किये जायें।

मार्च सन् 1968 में राष्ट्रीय एकीकरण परिषद की तीन उप-समितियाँ बनायी गयीं जो साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीय विभेद और जन शिक्षण प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित थीं। इस परिषद की तीनों कमेटियों ने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए निम्नांकित सुझाव दिये

साम्प्रदायिक कमेटी ने अफवाहें फैलाने, उत्तेजक समाचार छापने, साम्प्रदायिक तनावों को बढ़ावा देने, पूजा-गृहों एवं धार्मिक समाजों में साम्प्रदायिकता का प्रचार करने आदि पर रोक लगाने के लिए कठोर कार्यवाही करने की सलाह दी तथा साम्प्रदायिक दंगों की निष्पक्ष जाँच करने की बात कही। नागरिकों में परस्पर सद्भाव और सामंजस्य पैदा करने के लिए जिला और राज्य स्तर पर नागरिक परामर्श समितियों की स्थापना करने का भी सुझाव दिया।

क्षेत्रीयता की समस्या से सम्बन्धित कमेटी ने भाषा और सीमा विवादों को सुलझाने के लिए स्थायी समिति के निर्माण का सुझाव दिया। अन्तर्राज्यीय जल-विवादों का निपटारा अन्तर्राज्यिक जल-विवाद अधिनियम, 1956 (Inter-State Water Dispute Act, 1956) के आधार पर हो। क्षेत्रीय एवं आर्थिक विषमता को दूर करने के प्रयत्न किये जायें जिसका आधार जनसंख्या न होकर पिछड़ापन हो। जन आक्रोश को भड़काने वाले एवं क्षेत्रीय भावना पैदा करने वाले संगठनों और सेनाओं पर रोक लगा दी जाय।

शिक्षा तथा जन समूह संचार समिति ने केन्द्र द्वारा एक राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना की बात कही जो कि पाठ्य-पुस्तकों का निर्धारण करे। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा को बढ़ावा दिया जाय एवं विश्वविद्यालयों में अन्य राज्यों के छात्रों को भी योग्यता छात्रवृत्तियाँ दी जायें।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही भारत में राष्ट्रीय एकता विद्यमान रही है। अति प्राचीन काल में इसका आधार सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक समानता रहा है। वर्तमान में इसमें राजनैतिक एकता भी जुड़ गई है। एकता को समय-समय पर भाषावाद, क्षेत्रवाद जातिवाद, धर्म, साम्प्रदायिकता आदि की भावनाओं ने नष्ट करने का प्रयास किया है। इन बाधाओं से निपटने के लिए अनेक महापुरुषों ने प्रयास किये हैं। सरकार ने कई सम्मेलनों और परिषदों का आयोजन एवं गठन किया है जिन्होंने समय-समय पर एकीकरण के लिए अनेक सुझाव दिये हैं। सभी प्रकार की बाधाओं और विघटनकारी शक्तियों से लोहा लेते हुए भी भारत ने अपनी सदियों पुरानी राष्ट्रीय एकता और अक्षुण्णता को बनाये रखा है। आज भी यह एक सशक्त राष्ट्र के रूप में सिर ऊँचा किये खड़ा है। इस संदर्भ में सर हर्बर्ट रिजले ने उचित ही लिखा है, "भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और भौतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखी जा सकती है। वास्तव में भारत का एक अलग चरित्र एवं व्यक्तित्व है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।"[1]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनेक कारकों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप हमारे देश में राष्ट्रीय एकीकरण की विकट समस्या रही है। यह सत्य है कि धार्मिक दृष्टि से देश के विभिन्न भागों में भावात्मक एकता अवश्य पाई जाती है लेकिन अंग्रेजों के शासन काल में तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति

---

1 "Beneath the manifold diversity of physical and social type language, custom, religion which strikes the observers in India, there can still be discerned a certain underlying uniformity of life from the Himalayas to Cape Comarin. This is, in fact an Indian character, a general Indian personality which we can not resolve into its component elements."

—Sir Herbert Risly. *People of India*

के पश्चात् अनेक निहित स्वार्थों के कारण राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में कई बाधायें विविध रूपों में उत्पन्न हुई हैं। वोट की राजनीति ने भी कई बार संकीर्ण मनोवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। यदि लोगों के सामने एक समग्र राष्ट्र की स्पष्ट कल्पना हो, इस देश के कण-कण, नदी नालों, पर्वतमालाओं से प्यार हो और इन सब से ऊपर प्रखर राष्ट्रीय चरित्र हो तो राष्ट्रीय एकीकरण की कोई समस्या नहीं रहेगी। यह सब उसी समय सम्भव है जब देश का नेतृत्व समर्पित भावना से कार्य करे और व्यक्तिगत एवं दलीय क्षुद्र स्वार्थों से अपने को मुक्त रखे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि देश में सभी समूह, चाहे वे आदिवासी समूह हों, हरिजन समूह हों, उच्च या निम्न जातीय समूह हों, हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई समूह हों, अपने-अपने दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लायें और तार्किक, धर्म-निरपेक्ष तथा सार्वभौम बनें।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय एकता की अवधारणा समझाइए। भारत में राष्ट्रीय एकता में बाधक कारकों की व्याख्या कीजिए।
2. भारत में राष्ट्रीय एकता में भाषा एवं जातिवाद की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. "भारत में विभिन्न सांस्कृतिक विभेदों के रहते हुए भी हम एकता स्थापित कर सकते हैं?" विवेचन कीजिए।
4. भारत में विभिन्न विभाजनात्मक कारकों की व्याख्या कीजिए। इन्हें नियन्त्रित करने के उपाय बताइए।
5. भारत में राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के उपाय बताइए।
6. भारत में राष्ट्रीय एकता में क्षेत्रवाद, भाषावाद एवं जातिवाद जैसे मुख्य बाधक तत्त्वों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
7. भारत में राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया के प्रतिकूल कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं? इनको सविस्तार समझाइए।
8. राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए एवं हमारे देश में इसे प्रतिस्थापित करने के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत कीजिए।
9. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (अ) क्षेत्रवाद,
   (ब) जातिवाद,
   (स) भाषावाद,
   (द) सम्प्रदायवाद।

6
विद्यार्थी असन्तोष
(STUDENT UNREST)

आज भारतीय विद्यार्थी को अनुशासनहीन माना जाता है। कहा जाता है कि वह तोड़-फोड़ में विश्वास करता है, अशान्ति फैलाता है, जनजीवन के मार्ग में बाधा उपस्थित करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्यार्थियों में व्याकुलता पायी जाती है, वे आज असन्तुष्ट हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् छात्र-आन्दोलनों की घटनाएँ व्यापक रूप ग्रहण करती रही हैं। समय-समय पर विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में हड़ताल, पथराव, प्राध्यापकों का अनादर, फर्नीचर की तोड़-फोड़, सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि, परीक्षाओं का बहिष्कार, जलूस, प्रदर्शन, घेराव तथा मारपीट आदि की घटनाएँ समाचार पत्रों में छपती रही हैं। आपात-काल के दौरान स्थिति पर कुछ नियन्त्रण रहा लेकिन ऐसा केवल भय के कारण। आखिर प्रश्न यह उठता है कि छात्रों में असन्तोष क्यों पाया जाता है? इस असन्तोष के लिए क्या विद्यार्थी ही उत्तरदायी हैं। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री डा० राव का कहना है, "विद्यार्थी अनुशासनहीनता न तो युवा विक्षोभ का प्रदर्शन मात्र ही है और न इसकी व्याख्या निहित स्वार्थ वाले बाहरी तत्त्वों (जो विद्यार्थी-अशांति से लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील हैं, चाहे वे राजनीतिक हों अथवा गैर राजनीतिक) के कार्यों द्वारा की जा सकती है। विद्यार्थी अनुशासनहीनता एक सांस्कृतिक, आर्थिक, समाजशास्त्रीय एवं शैक्षणिक समस्या है। यदि हम इसके उपचार के उचित उपाय प्राप्त करना चाहते हैं, तो इसका वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक रीति से अध्ययन तथा विश्लेषण करना होगा। किसी रोग का निवारण उसके बाहरी लक्षणों का उपचार रूप का शक्ति द्वारा दमन करने से नहीं होगा।"[1]

दमन की नीति या बल-प्रयोग के द्वारा किसी असन्तोष को कुछ समय के लिए दबाया जा सकता है, परन्तु समस्या को हल नहीं किया जा सकता। आज

1. डॉ० वी० के० आर० वी० राव, "तरुणाई का उत्थान और आत्म-चिन्तन" छात्र विक्षोभ, पृष्ठ 3.

विद्यार्थी-असन्तोष एक सामाजिक समस्या के रूप में है। यह असन्तोष सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के लिए एक चुनौती है। आज युवा वर्ग इस समस्या से ग्रसित है और कुछ कर गुजरने को व्याकुल है। बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्री, राजनेता और प्रशासक इस समस्या की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने और इसे सुलझाने के लिए सुझाव प्रस्तुत करते रहे हैं। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि यह समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। आखिर ऐसा क्यों है? इस सम्बन्ध में अध्ययन एवं शोध की अत्यन्त आवश्यकता है। समस्या की ऊपरी सतह को छूने वाले प्रयत्न कभी भी सफल नहीं हो सकते, हमें इस बात को भली-भाँति समझ लेना है।

विद्यार्थी असन्तोष का अर्थ
(MEANING OF STUDENT UNREST)

विद्यार्थी असन्तोष के सन्दर्भ में विद्यार्थी का तात्पर्य ऐसे शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति से है जो अनुशासनहीन कार्य करने, अव्यवस्था फैलाने या अशान्ति उत्पन्न करने के योग्य हो। अतः इस आयु समूह में साधारणतः 15 वर्ष से 25 वर्ष के शिक्षा प्राप्त कर रहे व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है। यह एक ऐसी आयु है जब विद्यार्थी अपने में अपार शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का अनुभव करता है। वह अपने अत्यधिक उल्लास एवं उत्साह को किसी न किसी रूप में प्रकट करना चाहता है। जहाँ विद्यार्थी को अपनी शक्ति के प्रदर्शन का कोई निर्माणात्मक स्रोत (creative source) नहीं मिलता, वहाँ वह अपने को असामाजिक कार्यों में लगा लेता है। शक्ति प्रदर्शन के उचित माध्यम का अभाव तथा देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में व्याप्त असुरक्षा विद्यार्थी असन्तोष के लिए प्रमुखतः उत्तरदायी हैं।

असन्तोष का तात्पर्य है—मौजूदा व्यवस्था से असन्तुष्ट होना। विद्यार्थी प्रमुखतः शिक्षण संस्थाओं में पायी जाने वाली कमियों से खीझ उठता है। प्रारम्भ से ही उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके पिता अथवा संरक्षक को उसे शिक्षण संस्था में प्रवेश दिलाने के लिए सिफारिश तक पहुँचानी पड़ती है, समय-समय पर उसको फीस, पुस्तकें, वस्त्र तथा अन्य आवश्यक खर्च उठाने के लिए आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कई बार शिक्षण संस्था में विद्यार्थी को सही मार्गदर्शन नहीं मिल पाता। शिक्षक स्वयं की समस्या में उलझा रहता है, सुविधाओं का अभाव पाया जाता है, चारित्रिक निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, छात्र एवं अध्यापक के सम्बन्धों में औपचारिकता और दूरी पायी जाती है। ये सारी परिस्थितियाँ बालक के व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में बाधा उपस्थित करती ~~ भी कभी राजनीतिज्ञ विद्यार्थी शक्ति का अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा ~प्रयोग भी करता है। विद्यार्थी पर सम्पूर्ण समाज की परिस्थितियों उसके चारों ओर का वातावरण कई बार उसे व्यवस्था के ~पनाने के लिए बाध्य कर देता है। आज उसका आदर्श

अध्यापक नहीं रह गया है। उसकी प्रेरणा का स्रोत या तो ऐसा राजनेता है जो भ्रष्ट तरीके अपना कर आगे बढ़ता है, विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करता है, या जिसके कहने और करने मे रात-दिन का अन्तर पाया जाता है। इन परिस्थितियो मे विद्यार्थी का समाजीकरण होता है, वह एक के बाद दूसरी परीक्षा पास करता जाता है, जीवन मे दस या पन्द्रह वर्ष इसी प्रकार बिता देता है। स्नातक या स्नातकोत्तर परीक्षा पास करने या कोई व्यावसायिक परीक्षण प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी को नौकरी की तलाश मे इधर-उधर भटकना पड़ता है। बेकारी की अवस्था मे उसे मानसिक कष्ट सहन करना पड़ता है। वह अपने माता-पिता की अपेक्षाओं को पूर्ण नहीं कर पाता और उसकी स्वयं की आकांक्षाएँ अधूरी रह जाती हैं। यह सारी परिस्थिति विद्यार्थी असन्तोष के लिए उत्तरदायी है।

यह वह मन स्थिति है जब विद्यार्थी अपने मे व्याकुलता, अशान्ति और विद्रोह का अनुभव करता है। ऐसी मानसिक दशा मे वह विश्वविद्यालय या कालेज के नियमो का उल्लंघन करता है, शोर-गुल मचाता है, छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़ा करता है। अपनी शिकायतों को दूर करने अथवा किसी सार्वजनिक समस्या की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से वह प्रदर्शन करता है, हड़ताल का सहारा लेता है। यदाकदा विश्वविद्यालयो तथा कालेजो में हिंसा भी भड़क उठती है, आगजनी और सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट करने की घटनाएँ भी घटित हो जाती हैं। कभी-कभी बस को नुकसान पहुँचाया जाता है तो कभी किसी इमारत को। ये सब छात्र-असन्तोष को व्यक्त करते हैं। ऐसी स्थिति मे विद्यार्थी को अनुशासनहीन, उद्दण्ड एवं असभ्य मान लिया जाता है।

स्पष्ट है कि विद्यार्थियों मे पाया जाने वाला असन्तोष अनुशासनहीनता के रूप मे व्यक्त होता है। डा० फिलिप एलबैच ने बतलाया कि सन् 1966 मे भारत मे कुल 2,206 छात्र प्रदर्शन हुए जिनमें 480 हिंसात्मक थे।[1] इसी प्रकार के प्रदर्शन और छात्र आन्दोलन विभिन्न विश्वविद्यालयो एव कालेजों मे चलते ही रहते हैं। विद्यार्थियों मे व्यवस्था के प्रति पाये जाने वाले असन्तोष के फलस्वरूप ही अनुशासनहीनता पनपती है। विद्यार्थियो से प्रमुखतः दो आशाएँ की जाती हैं— प्रथम, विद्या प्राप्त करने एव ज्ञान का अर्जन करने की तथा द्वितीय, उत्तरदायी एव उपयोगी नागरिक बनने की। इन अपेक्षाओ की पूर्ति हेतु विद्यार्थियो को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधनों का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे साधन हैं—परीक्षा पास करना, विभिन्न शैक्षणिक एव पाठ्येतर (co-curricular) गतिविधियो मे भाग लेना, छात्र संघ तथा अन्य समितियो के विविध कार्यक्रमों मे सम्मिलित होकर प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता प्राप्त करना और अनुशासित जीवन व्यतीत करना। जब विद्यार्थी

1 Albach Philip. '*Student and Politics*' in Student Politics (ed.) Lipset, Seymor Martin, pp. 74 92.

उपर्युक्त अपेक्षाओ के विपरीत कार्य करते हैं, उद्देश्यों एवं मान्यता-प्राप्त साधनों की अवहेलना करते है, तो वे अनुशासनहीनता का परिचय देते है। विश्वविद्यालय द्वारा विद्यार्थी असन्तोष की समस्या का अध्ययन करने हेतु सन् 1960 मे बनाई गई कमेटी ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता को परिभाषित करते हुए बतलाया है, "जन समूह का नैतिक पतन एवं सत्ता का सामूहिक उल्लघन तथा वास्तविक या काल्पनिक शिकायतो को दूर कराने के लिए ऐसे तरीको का उपयोग जो विद्यार्थियो के लिए उचित नही है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा मे व्यक्तियों द्वारा नही बल्कि समूह द्वारा नियमो के उल्लघन को अनुशासनहीनता में शामिल किया गया है। लेकिन जब एक विद्यार्थी मे पाया जाने वाला विचलित व्यवहार अनेक विद्यार्थियो मे पाया जाता हो तो ऐसे व्यवहार को अनुशासनहीनता मे सम्मिलित करना उपयुक्त नही होगा। अनुशासनहीनता की इस परिभाषा मे शिकायतो को दूर कराने के लिए ऐसे साधनों के उपयोग पर जोर दिया गया है जो छात्रों के लिए अनुचित हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कौन-से तरीके उचित हैं और कौन-से अनुचित, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है।

अस्थाना एव सूमा चिटनिस[2] ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता को भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार किसी सगठन मे अनुशासन उसके नियमो, विधि-विधानों तथा परम्पराओं के प्रति आदर तथा उसके पालन में निहित है। इसके उल्लघन को ही अनुशासनहीनता कहा जाता है। सदस्य सगठन की अपेक्षाओ के अनुरूप आचरण इसलिए करते हैं कि वे उसके लक्ष्यो को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि व्यवहार के निर्धारित मानदण्ड इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही हैं। कोई भी सगठन अपने सदस्यों से नियमो के पूर्णत: पालन की आशा नहीं करता। लेकिन सगठन अपने सकारात्मक एव नकारात्मक नियमो एव निर्देशों के माध्यम से लक्ष्यों के अनुसार व्यवहार को निर्देशित करने और अनुशासनहीनता को इतना सीमित रखने मे अवश्य समर्थ होते हैं कि सगठनो के सामान्य कार्यों के संचालन में कोई बाधा नहीं आये। अनुशासनहीनता की गम्भीर समस्या केवल उस समय उत्पन्न होती है जब नियमो का उल्लघन इस सीमा तक पहुँच जाता है कि उपलब्ध नियम एव निर्देश परिस्थिति को नियन्त्रित करने में असमर्थ रहते हैं। अस्थाना और सूमा चिटनिस के अनुसार निम्नलिखित मे से किसी एक अथवा अधिक दशाओं के पाये जाने पर ऐसा होता है :[3]

1 Report of University Garnts Commission, *Committee on the Problem of Student, Indiscipline in India*, 1960

2 H S. Asthana and Chitnis Suma. *The Disturbed Campus*, in 'Sociology of Education in India' edited by M S Gore, pp 313-314

3 *Ibid*, p 314

(1) सदस्यों की संगठन के लक्ष्यों में रुचि समाप्त हो सकती है। ऐसी स्थिति में वे संगठन की अनेक प्रक्रियाओं से अपने को पृथक् कर लेते हैं, और उसके नियमों का कठोरतापूर्वक पालन नहीं करते।

(2) इस स्थिति में सदस्यों का लक्ष्यों में विश्वास तो बना रहता है लेकिन वे इनकी प्राप्ति में संगठन की क्षमता के सम्बन्ध में सन्देह रखते हैं। ऐसी परिस्थिति में संगठन में पायी जाने वाली कमियों या अपर्याप्तताओं को दूर करने का प्रयत्न तार्किक हल मालूम पड़ता है। लेकिन विरोध अथवा समस्या का सही ढंग से विश्लेषण नहीं कर पा सकने के कारण पूर्व-स्थापित नियमों में परिवर्तन लाना या सुधारात्मक कदम उठाना सदैव सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में लोगों का संगठन में विश्वास और उसके प्रति आदर समाप्त हो जाता है। परिणाम यह होता है कि संगठन के आदर्श-नियमों की अवहेलना होती है और अनुशासनहीनता पनपती है।

(3) संगठन में पायी जाने वाली अन्य दशाओं या सामान्य सामाजिक परिस्थिति के बदल जाने से किसी संगठन के नियमों के अनुपयुक्त होने पर वे अप्रभावशाली हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अनुशासनहीनता उत्पन्न होती है। संगठन के नियम उस अवस्था में भी असमर्थ प्रमाणित होते हैं जब उन मूल्यों एवं प्रवृत्तियों का सदस्यों में आन्तरिकीकरण (Internalization) नहीं हुआ हो जो इन नियमों के प्रभाव को बनाये रखने में योग देते हैं।

विद्यार्थी-असन्तोष एवं अनुशासनहीनता के कारण
(CAUSES OF STUDENT UNREST AND INDISCIPLINE)

भारत में विद्यार्थी असन्तोष एवं अनुशासनहीनता के कारणों पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए। इस स्थिति के लिए केवल विश्वविद्यालय या कालेज अधिकारियों, अध्यापकों तथा माता-पिता या राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक समूहों की अस्वस्थ गतिविधियों को ही उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। इन तत्वों के अतिरिक्त पुलिस द्वारा विचारपूर्वक बल का प्रयोग या पुलिस जुल्म भी छात्र-असन्तोष का एक कारण है।

छात्र-असन्तोष एवं अनुशासनहीनता के गम्भीर कारणों को खोज लेना कोई सरल कार्य नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि इस परिस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न कारणों का गहराई के साथ अध्ययन किया जाय। विद्यार्थी असन्तोष पर प्रकाशित एक रिपोर्ट में छात्रों में असन्तोष के चार कारण बताये गये हैं[1] (1) उचित शैक्षणिक पर्यावरण का अभाव। (2) सत्ता (माता-पिता, शैक्षणिक एवं सरकारी) के प्रति आदर एवं सम्मान का अभाव। (3) आदर्श विचारधारा से सम्बद्ध नैराश्य। (4) राजनीतिक हस्तक्षेप।

---

1 A Correspondent, *'Student Indiscipline under Study'*, 'Thought' Oct 20 1966, p. 11

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियुक्त कमेटी ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता के पाँच कारक बताये हैं[1]

(1) आर्थिक कारक—फीस बढ़ाना, छात्रवृत्ति कम करना तथा उसका पक्षपातपूर्ण तरीके से वितरण करना आदि।

(2) परीक्षा एवं प्रवेश प्रणाली—प्रवेश सम्बन्धी नीतियाँ, कक्षा में पढ़ाने का माध्यम, परीक्षा प्रणाली में होने वाले परिवर्तन तथा पास होने के नियम आदि।

(3) पढ़ाई सम्बन्धी व्यवस्था—पुस्तकालयों एवं प्रयोगशालाओं की अपर्याप्त सुविधाएँ, अयोग्य शिक्षक, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के बीच पारस्परिक सम्पर्क का अभाव आदि।

(4) रहने व खाने-पीने सम्बन्धी व्यवस्था—छात्रावास की कमी, वहाँ ठीक खाना नहीं मिलना, कैण्टीन की उचित सुविधा का अभाव, पीने के पानी की समुचित व्यवस्था की कमी आदि।

(5) नेतृत्व—विद्यार्थी-राजनीतिज्ञों, अध्यापक-राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक नेताओं द्वारा विद्यार्थियों को भड़काया जाना आदि।

'सेमिनार' में वर्णित विचारों के अनुसार विद्यार्थी अनुशासनहीनता का कारण स्वयं विद्यार्थी नहीं बल्कि वह सामाजिक पर्यावरण है जिसमें वह रहता है।[2] मेटा स्पेन्सर ने भारतीय विद्यार्थियों की असन्तुष्टि का मूल कारण भविष्य की असुरक्षात्मक भावना को माना है।[3] विद्यार्थी अनुशासनहीनता के सम्बन्ध में समय-समय पर शिक्षाशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से ज्ञात होता है कि इस समस्या के प्रमुखतः चार कारण हैं : (1) पुरानी व नयी पीढ़ी के व्यक्तियों के बीच वैचारिक अन्तर, (2) राजनीतिक दलों का कुत्सित प्रभाव, (3) शिक्षण संस्थाओं में पर्याप्त सुविधाओं का अभाव, और (4) आर्थिक असुरक्षा। विद्यार्थी-असन्तोष के लिए वास्तव में देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं, न कि स्वयं विद्यार्थी। जे० पी० नायक तथा डा० राव ने बतलाया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुछ विद्यार्थी शिक्षण-संस्थाओं में ऐसे परिवारों से आये हैं जिनकी शैक्षणिक परम्पराएँ नहीं रही हैं। परिणामस्वरूप ऐसे विद्यार्थी नगरीय पर्यावरण से सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाते।

विद्यार्थी असन्तोष के कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं

(1) हमारी मान्यता है कि भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक असुरक्षा विद्यार्थी-असन्तोष का एक मूल कारण है। नौकरी चाहने वाले शिक्षित व्यक्तियों और

1 Report of U G C. Committee, *op. cit.*

2 Seminar, No. 44 on *'Crisis on the Campus'*, April, 1963.

3 Metta. Spencer, *'Professional Scientific and Intellectual Students in Student Politics*, ed by Lipset, *op. cit*, pp 357-69

उपलब्ध नौकरियों या रोजगार के अवसरों के अनुपात में काफी अन्तर पाया जाता है। परिणामस्वरूप शिक्षितों में बेकारी एक गम्भीर समस्या के रूप में पायी जाती है। जिस देश के करीब 70 प्रतिशत लोग निर्धनता रेखा (Poverty line) के नीचे हों, वहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी भविष्य के प्रति कोई आर्थिक सुरक्षा न हो, वहाँ ऐसे स्तर के विद्यार्थियों में असन्तोष पाया जाना अस्वाभाविक नहीं है। भविष्य के प्रति आर्थिक सुरक्षा ही विद्यार्थी में अलगाव एवं निरुद्देश्यता की स्थिति पैदा करती है।

(2) शिक्षण संस्थाओं में पर्याप्त सुविधाओं का अभाव भी विद्यार्थी-असन्तोष एवं अनुशासनहीनता का एक मुख्य कारण है। कई बार शिक्षक वे व्यक्ति बनते हैं जिन्हें अन्य क्षेत्रों में रोजगार की सुविधा नहीं मिल पाती है। ऐसे व्यक्तियों का संस्था के प्रति कितना लगाव होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। इनमें अपने कार्य के प्रति अरुचि, छात्रों के प्रति लगाव की कमी तथा कर्तव्य-निष्ठा का अभाव छात्रों में असन्तोष के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। अध्यापक का प्रमुख कार्य नेतृत्व, प्रोत्साहन एवं मार्ग-दर्शन है और जब तक योग्य एवं निष्ठावान अध्यापकों का अभाव रहेगा, यह कार्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। विद्यार्थी और अध्यापक के बीच सामाजिक और मानसिक दूरी पायी जाती है, इनके बीच मधुर सम्बन्धों का अभाव पाया जाता है। इस सारी स्थिति का विद्यार्थी पर कुत्सित प्रभाव पड़ता है। छात्र अध्यापक के निकट सम्पर्क से बहुत कुछ सीख सकता है परन्तु आज की बदली हुई परिस्थितियों में जहाँ छात्र-शिक्षक अनुपात काफी बढ़ गया है, ऐसा होना सम्भव नहीं रहा है। कई बार शिक्षण-संस्थाओं में विद्यार्थियों की उचित माँगों पर भी उस समय तक ध्यान नहीं दिया जाता जब तक कि वे आन्दोलनात्मक रुख नहीं अपनाते। यह सारी परिस्थिति छात्रों में असन्तोष एवं अनुशासनहीनता उत्पन्न करती है।

(3) छात्र असन्तोष एवं अनुशासनहीनता के लिए राजनीतिक कारक भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज का विद्यार्थी देश और विदेश में घटित होने वाली घटनाओं से अप्रभावित नहीं रह सकता। छात्र-आन्दोलन एक विश्वव्यापी घटना है। विकसित और अविकसित, प्रजातन्त्रात्मक, एकतन्त्रात्मक एवं साम्यवादी सभी देशों में किसी न किसी रूप में छात्र-आन्दोलन पाये जाते हैं। कहीं सत्ता के विरुद्ध और सरकारों को बदलने के लिए आन्दोलन हुए हैं तो कहीं अधिकारों की माँग को लेकर प्रचंड प्रदर्शन। सन् 1947 के पूर्व भारतीय विद्यार्थियों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। उस समय उनका यह कार्य देश भक्ति पूर्ण था, परन्तु ज्यों ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई, छात्र-आन्दोलन का रूप बदल गया। राजनीतिज्ञों ने इस देश में छात्रों की आकांक्षाओं (aspirations) को काफी उभार दिया परन्तु उन्हें पूरा नहीं किया। परिणामस्वरूप छात्र असन्तोष उत्पन्न हुआ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सत्ता-प्राप्त

अधिकांश राजनेताओं ने अपनी शक्ति का राष्ट्र हित में सदुपयोग न करके व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति मे दुरुपयोग किया है। उन्होंने भाई-भतीजेवाद को पनपाया है, भ्रष्टाचार को देश-व्यापी बना दिया है, नैतिकता और ईमानदारी से वे परे रहे हैं, स्वार्थपरता और लालच को उन्होंने बढ़ावा दिया है, भौतिकता की चकाचौंध में कर्त्तव्य पथ से विमुख रहे हैं। राजनेताओं के इन तौर तरीकों का नौकरशाही अर्थात् अधिकारी वर्ग ने खूब लाभ उठाया है। सत्ता के नशे मे वे इतने चूर हो रहे हैं कि जन सेवा के प्रमुख दायित्व को ही भूल चुके हैं। सर्वत्र पक्षपात का बोलबाला है, बिना रिश्वत और सिफारिश के कोई काम होना सम्भव नही है। राजनेताओं ने समाजवाद का नारा दिया, परन्तु पिछले 30 वर्षों में गरीब-अमीर का भेद बढ़ा है। इस सम्पूर्ण विषाक्त पर्यावरण ने छात्र असन्तोष को भड़काने मे अपूर्व योग दिया है।

डा० योगेश अटल ने बतलाया है कि आज विद्यार्थी-वर्ग का सन्दर्भ समूह (reference group) शिक्षक न होकर राजनीतिज्ञ, प्रशासक एवं फिल्मी स्टार होते हैं। आज का विद्यार्थी महापुरुषों, शिक्षकों एवं माता-पिताओं से प्रेरणा प्राप्त नहीं करके इन उपर्युक्त व्यक्तियों से प्रेरणा प्राप्त करता है। चित्त रंजन (Chitta Ranjan) *ने बतलाया है कि जब नेतृत्व के बहुत बड़े भाग में चरित्र और समर्पण का अभाव* पाया जाता हो, जब जन-सेवा के स्थान पर शक्ति और सम्पत्ति-प्राप्ति का प्रयत्न सर्वोपरि हो, जब लोगों के मस्तिष्क मे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का वायदा केवल थोथा नारा है जिसमे किसी प्रकार की कोई सच्चाई है, तो उस पीढ़ी मे विश्वास उत्पन्न करने की अपेक्षा वास्तव मे निरर्थक है जो इस बात के प्रति पूर्णत जागरूक है कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है। एक दृष्टि से इसलिए विद्यार्थियों में पाये जाने वाले मौजूदा असन्तोष को एक विद्रोह माना जा सकता है, चाहे यह कितना ही अजागरूक एवं बिखरा हुआ क्यों न हो। यह विद्रोह पुरानी पीढ़ी के द्वारा सर्वोच्च मानवीय मूल्यों को छोड़ देने के विरोध मे है, उस बहाव के विरुद्ध है जो युवकों मे दिशा और लक्ष्य के प्रति अनिश्चितता के लिए उत्तरदायी है।[1] विचारणीय प्रश्न यह है कि छात्र को कालेज या विश्वविद्यालय के बाहर कैसा पर्यावरण मिलता है? क्या वर्तमान परिस्थितियों में हम विद्यार्थियों से यह अपेक्षा कर सकते हैं कि वह पूर्णत अनुशासित होगा और समर्पित भाव से अपने अध्ययन कार्य मे लगा रहेगा।

इनके अतिरिक्त शिक्षण सस्थाओं मे सत्ताधारी दल के स्थानीय और राज्य-स्तर के नेताओं का अनुचित हस्तक्षेप भी विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता को बढ़ाने में योग देता है।

---

1 C. N Chitta Ranjan, *'Thought on Student Unrest'*, 'Social Determinants of Educability in India', edited by S P Rubela, p 160.

(4) पीढ़ियों का अन्तर (Generation gap) भी विद्यार्थी असन्तोष एवं अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायी है। पुरानी और नवीन पीढ़ी के मूल्यों, विचारों और मनोवृत्तियों में काफी अन्तर पाया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात नवीन पर्यावरण में पले आज के युवकों और पुरानी पीढ़ी के लोगों के विचारों में काफी अन्तर है। डॉ० दामले का विचार है कि नवीन पीढ़ी स्वयं उठना चाहती है और अपना पृथक् अस्तित्व या व्यक्तित्व बनाना चाहती है परन्तु समाज की विविध परिस्थितियाँ उसके ऐसा करने के मार्ग में बाधक होती हैं। अनेक समाजशास्त्रियों ने विद्यार्थी असन्तोष को पुरानी एवं नवीन पीढ़ी के बीच वैचारिक विषमता की समस्या माना है। डॉ० वी० के० आर० वी० राव एवं डॉ० दामले का मत है कि राजनीतिक परिवर्तन तथा औद्योगिक तकनीकीकरण ने युवकों के मन में परम्परागत जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक और सामाजिक स्थापनाओं के प्रति अनास्था उत्पन्न की है। पुराने मूल्यों के प्रति आस्था समाप्त होती जा रही है परन्तु अभी तक नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं हो पायी है। अतः वर्तमान काल दो विरोधी मूल्यों का संघर्ष काल है जो छात्र-असन्तोष के लिए उत्तरदायी है।

डॉ० ब्रजमोहन ने छात्र-असन्तोष के निम्न पाँच कारणों को उत्तरदायी माना है: (1) भयंकर आर्थिक असुरक्षा, (2) दमनकारी सांस्कृतिक प्रतिमानों के कारण आश्चर्यचकित कर देने वाला यौन-नैराश्य (Sexual frustration), (3) युवा वर्ग की अन्त शक्तियों (potentialities) को विकसित करने में शिक्षण संस्थाओं की असफलता, (4) उजाड़ भविष्य, तथा (5) पीढ़ियों का अन्तर। अधिकांश युवकों की समस्याएँ इनमें से एक या अधिक कारकों के साथ सम्बन्धित हैं।[1] विश्वविद्यालय शिक्षा पर राधाकृष्णन कमीशन[2] ने अपनी रिपोर्ट में छात्र असन्तोष के बाह्य एवं आभ्यान्तरिक (external and internal) कारणों पर प्रकाश डाला है। इस रिपोर्ट के अनुसार यह तथ्य है कि हम अस्तव्यस्तता तथा संघर्ष के काल में रह रहे हैं''''प्रत्येक देश के युवकों पर उत्तेजित प्रभाव डालता है। रिपोर्ट में यह भी बतलाया गया है कि राजनीतिज्ञों में विद्यार्थियों को अस्वास्थ्यकर गतिविधियों में लगाने की प्रवृत्ति पायी जाती है और साथ ही समाज-विरोधी तत्त्व भी इस दिशा में कार्य करते हैं।

राधाकृष्णन कमीशन ने शिक्षा व्यवस्था में पायी जाने वाली कमियों को भी बताया है, ''सामान्य यद्यपि अप्रत्यक्ष कारणों में स्वस्थ कालेज जीवन के लिए धन के अभाव में आवश्यक सुविधाओं की कमी आती है। इन तत्त्वों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित कुछ संस्थाओं का आर्थिक संकट है जिसकी वजह से वे उचित छात्रावास तथा आरामदायक जीवन की दशाएँ, खेल के मैदान तथा विद्यार्थियों के लिए वांछनीय

---

1 Dr Brij Mohan, *India's Social Problems*, pp. 96-97.
2 C. N Chitta Ranjan, *op. cit.*, pp 161-62.

समानता की धारणा के सम्बन्ध में भी अस्पष्टता रही। राजनीतिक दबावों के कारण समानता के नाम पर शिक्षण संस्थाओं में स्थान और अन्य सुविधाओं की कमी के बावजूद भी विद्यार्थियों की संख्या तेजी के साथ बढ़ती गयी। इसने शैक्षिक स्तरों को गिराने में योग दिया। प्रजातन्त्र का लोगों ने गलत अर्थ लिया और प्रत्येक अपने अधिकारों पर जोर देने लगा। शिक्षण संस्थाओं में ऐसे पर्यावरण का अभाव पाया जाता है जहाँ विद्यार्थियों में स्वस्थ प्रजातान्त्रिक प्रकृति का विकास हो सके और उनमें समानता, प्रगति में विश्वास तथा कठिन परिश्रम के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो सके। यदि यह कहा जाय कि भारतीय शिक्षण-संस्थाओं में आलस्य और नैराश्य का वातावरण पाया जाता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि लक्ष्य के अनुरूप व्यक्ति का समाजीकरण करने में शैक्षणिक प्रणाली असफल रही है।

(2) आदर्श-नियमों, निर्देशों, मूल्यों तथा प्रवृत्तियों में परिवर्तन—अनुशासन को दृष्टि से परिणाम (Change in Norms, Sanctions, Values and Attitudes—Conseqeunces to Discipline)—पहले उद्दंड छात्र को कालेज से निकाल दिया जाता था, शरारती छात्र को डाँट-फटकार या कक्षा से बाहर कर दिया जाता था। कर्त्तव्यनिष्ठ छात्र को उसके साथियों एवं अध्यापकों द्वारा आदर दिया जाता था। प्राध्यापकों का अध्ययन प्रेरणादायक होता था और कक्षा में उपस्थित होना छात्र अपने लिए लाभदायक समझते थे। प्राध्यापक पूर्ण कुशल होते थे और उन्हें विद्वता के कारण काफी सम्मान मिलता था। उस समय कोई भी विद्यार्थी अपने शिक्षकों की दृष्टि में नीचे नहीं गिरना चाहता था। शैक्षणिक प्रणाली के ये वे प्रतिमान हैं जो अंग्रेजों के काल में स्थापित हुए। इनका प्रयोग आज भी किया जाता है। परन्तु अब ये प्रभावशाली नहीं रहे हैं।

आज परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। किसी विद्यार्थी को कालेज से निकाल देना आसान नहीं रहा है। किसी भी प्रतिकूल निर्णय से शीघ्र ही हड़ताल हो जाती है। कई शिक्षकों में आवश्यक शैक्षणिक योग्यता तो पायी जाती है परन्तु विद्वता का अभाव है। विद्यार्थियों में अपने शिक्षकों के प्रति वह आदर भाव नहीं पाया जाता जो किसी समय पाया जाता था। अत: वे अध्यापकों की अच्छी राय की भी परवाह नहीं करते। कठिन परिश्रम और शैक्षिक उपलब्धि का साथियों की दृष्टि में विशेष महत्व नहीं पाया जाता। लोग सोचते हैं कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए अच्छे व्यक्तित्व, उच्च लोगों के साथ अच्छे सम्बन्धों या विदेशी डिग्री का विशेष महत्व है न कि अच्छे परिणामों का। स्पष्ट है कि वर्तमान में आचरण के मानदण्ड काफी बदल गये हैं।

मूल्यों, प्रवृत्तियों तथा नैतिकता सम्बन्धी धारणा ने पूर्वकाल में शिक्षण-संस्थाओं में अनुशासन को बनाये रखने में योग दिया। लोग अपने से बड़ों का आदर करते थे। पारिवारिक संरचना इस प्रकार की थी कि सत्ता के प्रति आदर और व्यवस्था के प्रति आस्था बनी रहती थी। परिवार का अधिनायकवादी प्रतिमान (authoritarian

pattern) बाल्यावस्था से ही अनुशासन के प्रति निष्ठा जागृत करता था। उस समय बाल-विवाह के कारण किशोरावस्था एवं स्वतन्त्रता का काल नहीं था। समाज में शिक्षण को प्रतिष्ठित व्यवसाय समझा जाता था। अध्यापक का आदर तथा शैक्षिक और अशैक्षिक मामलों में उसकी सत्ता को स्वीकार किया जाता था। अध्यापक भी अपने विद्यार्थियों के कल्याण में पूर्ण रुचि लेता था। ये दोनों शिक्षण-संस्था के नाम को ऊँचा उठाने में प्रयत्नशील रहते थे। विद्वता, सादगी तथा कठिन परिश्रम को महत्त्व दिया जाता था। लड़के-लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् शिक्षण-संस्थाएँ थीं और जहाँ दोनों के लिए साथ-साथ पढ़ना आवश्यक था, वहाँ उन्हें एक-दूसरे से पृथक्करण में रखने के लिए प्रतिमान का पालन किया जाता था। राजनीति का उस समय शिक्षण-संस्थाओं में प्रवेश नहीं था। राष्ट्रीय नेताओं के त्याग और उच्च आदर्शों से विद्यार्थी प्रेरणा प्राप्त करते थे।

पिछले तीस वर्षों में स्थिति काफी बदल चुकी है। परिवार का अधिनायकवादी रूप बदल गया है। अब परिवार का बालक पर वह नियन्त्रण नहीं रहा जो पहले था। विवाह की आयु बढ़ गई है, लड़के-लड़कियों को एक दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। भारतीय युवकों को अपनी किशोरावस्था का वास्तविक ज्ञान अब हुआ है। उनमें दायित्व-निर्वाह की नैतिकता सामान्यतः नहीं पायी जाती। आज राष्ट्र भी एक कठिन समय से गुजरकर विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। स्वतन्त्रता के लिए जिस व्यवस्था और सत्ता की तार्किक स्वीकृति की आवश्यकता होती है, उसका विकास हममें अभी नहीं हो पाया है।

आजकल कम आयु में कालेज में प्रवेश प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों में कम विकसित समझदारी और उत्तरदायित्व की कमी पायी जाती है। ऐसे अपरिपक्व विद्यार्थियों पर प्रचार तथा उद्वेगात्मक निवेदनों का आसानी से प्रभाव पड़ जाता है। कालेज व विश्वविद्यालय में आते ही विद्यार्थी को काफी स्वतन्त्रता मिल जाती है जिसका उपयोग वह उचित तरीके से नहीं कर पाता। यहाँ उचित मार्ग-दर्शन के अभाव में वह अनुशासित नहीं रह पाता। शिक्षा के व्यापक विस्तार ने कई समस्याओं को जन्म दिया है। अशिक्षित माता-पिता अपनी सन्तानों में शिक्षा के प्रति वह लगाव पैदा नहीं कर पाते जो शिक्षित माता-पिता कर पाते हैं। कई बार अशिक्षित माता-पिता की सन्तान हीन-भावना से ग्रसित रहती है। उच्च आर्थिक स्थिति वाले परिवारों में असहनशीलता, उग्रता तथा क्रान्तिकारी भावनाएँ अधिक पायी जाती हैं। ऐसे परिवारों के विद्यार्थियों में अपने शिक्षकों के प्रति भी आदर कम पाया जाता है और वे अपने गुरुओं को पिता-तुल्य नहीं समझते। ऐसी स्थिति में अध्यापकों का विद्यार्थियों पर नियन्त्रण नहीं रह पाता। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कई बार अध्यापक भी अपनी भूमिका निभाने में लापरवाही बरतता है जिसकी वजह से वह विद्यार्थियों पर नियन्त्रण बनाये रखने में असमर्थ रहता है।

भारतीय विद्यार्थियों के सम्बन्ध मे बताया गया है कि जीवन का उच्च स्तर उनका नया नारा है, और वे पहले की तुलना मे जीवन का काफी 'आनन्द' उठा रहे हैं। वे अच्छे वस्त्र पहनते हैं तथा अक्सर सिनेमा और रेस्तरा में जाते हैं, खूब धूम्रपान करते हैं। सादगीपूर्ण जीवन बिताने वाले विद्यार्थी को तो केवल दीवाल-पुष्प बनकर रहना पड़ता है।[1]

राजनीति और छात्र असन्तोष के मध्य गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। भारतीय विश्वविद्यालय व कालेज प्रांगणों मे राजनीति के प्रति रुचि बढ़ती जा रही है। फिलिप अलबैच ने बतलाया है कि न केवल नव राज्यों के नेता ही अधिकतर विश्वविद्यालयों के स्नातकों से निकलते हैं बल्कि बहुत से नवीन समाजों के वैचारिक आधार भी छात्र आन्दोलनों से प्रभावित होते हैं।[2] भारतीय विद्यार्थी देश की प्रमुख समस्याओं के प्रति जागरूक नहीं हैं। उनके आन्दोलन कालेज या विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित छोटी-छोटी शिकायतों या सुविधाओं को लेकर चलते हैं। ये आन्दोलन सम्पूर्ण व्यवस्था को छूने वाले न होकर केवल ऊपरी सतह को छूने वाले तूफान के रूप मे होते हैं। दिन प्रतिदिन के नीरस जीवन तथा ऊब से छुटकारा पाने और कुछ के द्वारा आत्म-प्रदर्शन एवं समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने की बलवती इच्छा के फलस्वरूप भी विद्यार्थी आन्दोलन होते हैं। नारेबाजी, शोरगुल, हड़ताल तथा उत्तेजना-पूर्ण क्षण कुछ विद्यार्थियों के लिए हँसी-मजाक व आनन्द के विषय बन जाते हैं। किसी भी आन्दोलन या सत्याग्रह के आगे झुकना और अनुचित माँगों तक को स्वीकार कर लेना छात्र आन्दोलनों की शक्ति को बढ़ाने मे योग देते हैं। आज का विद्यार्थी छात्र-शक्ति की महत्ता से परिचित हो चुका है।

आज का विद्यार्थी राजनीतिज्ञों —लोकसभा, विधान सभाओं तथा नगर परिषदों आदि के सदस्यों—के जीवन को देखता है। वह उन लोगों में पाये जाने वाले भ्रष्टाचार, भाई भतीजेवाद, कुर्सी से चिपके रहने की भूख और स्वार्थपरता को देखता है। जब राजनीतिज्ञों के जीवन मे अनुशासनहीनता पायी जाती है तो विद्यार्थी उससे अछूता कैसे रह सकता है? राजनीतिक दलों में पायी जाने वाली गुटबन्दी, एक दूसरे पर कीचड़ उछालने की प्रवृत्ति और विधान पालिकाओं तक के सदस्यों में यदा-कदा होने वाली धक्का मुक्की से विद्यार्थी प्रेरणा प्राप्त करते हैं, व्यवहार के प्रतिमान ग्रहण करते हैं। वयस्क लोगों के व्यवहार में ऐसी बातें कम पायी जाती हैं जो विद्यार्थियों में व्यवस्था, ईमानदारी, नियमों और कार्य प्रणालियों के प्रति आदर के भाव जागृत कर सकें। एडवर्ड शिल्स के अनुसार भारत मे सत्ताधारी लोग बहुत भ्रान्तिमूलक तथा समझौते पर आधारित, विश्व के भ्रष्टाचार से पूर्ण, नौकरशाही

1 *Ibid* p 323
2 Altbach Philip, *Student & Politics* in Student Politics, edit. by Lipset. *op. cit*, p 74

शासन सम्बन्धी तथा इतने बेमियनसार हैं कि विद्रोही विद्यार्थियों में निष्ठा की भावना पैदा करने में असमर्थ हैं।[1] अतः यह कहा जा सकता है कि समाज का राजनीतिक पर्यावरण अनुशासन के अनुकूल नहीं है।

भारतवर्ष में विद्यार्थी आन्दोलनों में अधिकांशतः अनिरन्तरता पायी जाती है। कुछ विद्यार्थी आन्दोलन कालेज या विश्वविद्यालय स्तर पर चलते हैं और कुछ राष्ट्रीय स्तर पर। प्रथम प्रकार के आन्दोलन विद्यार्थी हितोन्मुखी (student-oriented) और दूसरे प्रकार के समाज हितोन्मुखी (society-oriented) होते हैं। इस देश में अधिकांश विद्यार्थी आन्दोलन कोई सुधार लाने के लिए नहीं बल्कि विद्यार्थियों के कुछ कष्टों को हल करने के लिए होते हैं। किसी देशव्यापी समस्या को लेकर चलने वाले छात्र आन्दोलन साधारणतः यहाँ दिखलाई नहीं पड़ते। छात्रों की राजनीतिक आन्दोलनात्मक क्रियाओं को स्मेलसर ने 'नियम-अभिमुख' (norm-oriented) राजनीतिक आन्दोलन माना है जिसका मुख्य लक्ष्य किसी विशिष्ट कष्ट का निवारण या किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति होता है। इसके विपरीत 'मूल्य-अभिमुख' (value-oriented) राजनीतिक आन्दोलनों में कोई आदर्श सम्बन्धी समस्या पायी जाती है। नियम अभिमुख आन्दोलन तो लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् समाप्त हो जाते हैं परन्तु मूल्य अभिमुख आन्दोलन सुधार लाने के समय तक चलते रहते हैं।[2]

जहाँ शिक्षण संस्था में विद्यार्थियों से कठिन परिश्रम कराने पर जितना अधिक जोर दिया जायेगा, वहाँ विद्यार्थियों के राजनीति में भाग लेने और अनुशासनहीनता की सम्भावना उतनी ही कम रहेगी। जहाँ शिक्षक योग्य, परिश्रमी, विद्यार्थियों से कठोर कार्य कराने और उनके कल्याण में सक्रिय भाग देने वाले होंगे, वहाँ विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता कम पाई जायेगी। साथ ही यह भी पाया गया है कि दक्षिणी भारत में राजनैतिक दलों के द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विद्यार्थियों का उत्तरी भारत की अपेक्षा अधिक उपयोग किया गया। जहाँ राजनैतिक दलों द्वारा विद्यार्थियों की गतिविधियों में कम हस्तक्षेप किया जाता है, वहाँ विद्यार्थियों के आन्दोलन शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं तक ही सीमित रहते हैं। जब विद्यार्थियों को किसी आन्दोलन में राजनीतिक दलों या राजनीतिज्ञों का समर्थन प्राप्त हो जाता है तो अनुशासनहीनता एवं उपद्रव और भी गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं। कुछ छात्र अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए राजनीतिक दलों या नेताओं से प्रेरणा प्राप्त कर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता फैलाते या उपद्रव भड़काते हैं। ऐसे छात्र समाचार पत्रों में अपने नाम छपवाने के इच्छुक रहते हैं। राजनीतिज्ञ विद्यार्थी-

1 Edward Shils, '*Students, Politics and Universities in India*' in 'Turmoil and Transition, Higher Education and Student Politics in India', edit. by Altbach Philip G., p. 4.

2 Smelser, Neil, *Theory of Collective Behaviour*, p. 275.

आन्दोलनों में निम्न रूपों में सहायता करते हैं : वे छात्रों की माँगों का समर्थन कर उनका मनोबल ऊँचा उठाते हैं, उनकी माँगें मनवाने हेतु अधिकारियों से बातचीत करते हैं, उन्हें अपना आन्दोलन चलाने हेतु आर्थिक सहायता देते हैं तथा उनके लिए प्रचार साधन उपलब्ध कराते हैं।

स्पष्ट है कि कुछ विद्यार्थियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ, राजनीतिक दलों का विद्यार्थी संगठनों को समर्थन, राजनीतिज्ञों का भ्रष्ट आचरण, शिक्षक-राजनीतिज्ञ (teacher-politician) द्वारा अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए विद्यार्थियों को भड़काने का कार्य, राजनीतिक दलों में पायी जाने वाली गुटबन्दी आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो छात्रों में अनुशासनहीनता के लिए उत्तरदायी हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यार्थी असन्तोष तथा अनुशासन-हीनता केवल शैक्षणिक व्यवस्था से सम्बन्धित समस्या नहीं है, बल्कि प्रमुखतः सामाजिक एवं संरचनात्मक समस्या है। इस समस्या के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारक उत्तरदायी हैं। शिक्षकों और शिक्षा-अधिकारियों में विद्यार्थियों की समस्या को सही ढंग से समझने और हल करने में रुचि का अभाव छात्र-असन्तोष को बढ़ाने में योग देता है। हमारी यह दृढ़ मान्यता है कि पिछले तीस वर्षों में चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया के अवरुद्ध होने से विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता बढ़ी है।

दुर्बोध्य विद्यार्थी
(PROBLEM STUDENTS)

कॉलेज एवं विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों में से ऐसे कौन-से छात्र होते हैं जिनमें असन्तोष एवं अनुशासनहीनता विशेष रूप से पायी जाती है। जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो हमें विद्यार्थियों की पारिवारिक पृष्ठ-भूमि एवं उनकी योग्यता पर ध्यान देना होगा। इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए बी० वी० शाह ने विद्यार्थियों को निम्न चार भागों में विभाजित किया है :

(1) उच्च प्रस्थिति एवं उच्च योग्यता वाले विद्यार्थी (High status and high ability students),

(2) उच्च प्रस्थिति एवं निम्न योग्यता वाले विद्यार्थी (High status and low ability students),

(3) निम्न प्रस्थिति एवं उच्च योग्यता वाले विद्यार्थी (Low status and higy ability students),

(4) निम्न प्रस्थिति एवं निम्न योग्यता वाले विद्यार्थी (Low status and low ability students)।[1]

---

1 B. V. Shah, *Sociological Bulletin*, March, 1963, p. 57-61.

प्रथम प्रकार के विद्यार्थियों को उच्च प्रस्थिति और उच्च योग्यता के कारण उनकी इच्छानुसार किसी भी विषय में प्रवेश मिल जाता है। ये छात्र अपने अध्ययन कार्य में लगे रहते हैं। इन्हें नवीन परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करने में भी कोई कठिनाई महसूस नहीं होती। ऐसे विद्यार्थी अपने अध्ययन कार्य में लगे रहते हैं और छात्र-आन्दोलनों एवं हड़तालों से साधारणतया दूर रहते हैं।

द्वितीय प्रकार के विद्यार्थियों को या तो उनके माता-पिता ऐसी शिक्षण-संस्थाओं में प्रवेश दिला देते हैं जहाँ अधिक योग्यता की आवश्यकता नहीं होती अथवा ऐसी में जहाँ उच्च शैक्षिक स्तर पाये जाते हैं। अपनी निम्न योग्यता के कारण ऐसे विद्यार्थियों को प्रतियोगिता में पिछड़ जाने का भय रहता है। अपनी उच्च प्रस्थिति को बनाये रखने के प्रयत्न में वे शिक्षण से असम्बद्ध मूल्यों और व्यवहारों को फैलाने का प्रयत्न करते हैं। ये साधारणतया कक्षा से अनुपस्थित रहते हैं अथवा कक्षा में होने पर शरारत करते हैं, रेस्तरां में बैठे रहते हैं और अक्सर सिनेमाओं में जाते रहते हैं। ये परीक्षाओं में नकल करने, रिश्वत देकर नम्बर बढ़वाने तथा शिक्षकों पर अनुचित दबाव डलवाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे छात्र हड़तालों एवं प्रदर्शनों में भाग लेते हैं और अन्य विद्यार्थियों को भी भड़काते हैं।

तृतीय प्रकार के विद्यार्थी निम्न जातियों एवं निम्न आर्थिक स्थिति वाले समूहों से सम्बन्धित होते हैं। इनके परिवारों का शैक्षणिक एवं व्यावसायिक स्तर भी निम्न ही होता है। ये विद्यार्थी अपनी उच्च योग्यता के कारण सही और गलत में भेद कर पाते हैं। शिक्षा प्राप्त कर कोई अच्छी नौकरी प्राप्त करने की आकांक्षा इन्हें कठिन परिश्रम करने और परीक्षा में उच्च श्रेणी में पास होने के लिए प्रेरित करती है। ऐसे विद्यार्थी साधारणतया हड़तालों, प्रदर्शनों एवं उपद्रवों से बचने का प्रयत्न करते हैं।

चतुर्थ प्रकार के विद्यार्थी विश्वविद्यालय या कालेज शिक्षा स्तर तक कम ही पहुँच पाते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें से अधिकांश विद्यार्थी तो माध्यमिक स्कूल स्तर तक ही रह जाते हैं। जो विद्यार्थी कालेजों में किसी न किसी तरह प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं, उनमें न तो स्वयं की कोई उच्च आकांक्षा होती है और न ही उन पर उच्च श्रेणी में पास होने के लिए कोई दबाव। परन्तु फिर भी इस श्रेणी के उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थी सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अत: ये साधारणत: हड़तालों एवं आन्दोलनों से दूर ही रहने का प्रयत्न करते हैं। इस समूह के कुछ छात्र ऐसे भी होते हैं जो छात्र आन्दोलनों में विशेष भाग लेते हैं क्योंकि वे इनसे लाभ की आशा करते हैं।

इन चार प्रकार के विद्यार्थी समूहों में से बी० वी० शाह ने उन विद्यार्थियों में असन्तोष एवं अनुशासनहीनता अधिक मानी है जिनके सफलता के अवसर बहुत कम हैं तथा जो उच्च शिक्षा का लाभ उठाने का सामर्थ्य नहीं रखते। लिप्सेट की

मान्यता है कि जो विद्यार्थी अधिक लम्बे समय तक कालेज मे रहता है, उसके विद्यार्थी आन्दोलनों में भाग लेने की सम्भावना अधिक रहती है।[1] ऐसे बालकों के, जिन पर परिवार मे माता-पिता का ठीक से नियन्त्रण नहीं पाया जाता, कालेज मे पहुँचने पर दुर्दान्त विद्यार्थी बन जाने की सम्भावना अधिक रहती है।

विद्यार्थी नेतृत्व
(STUDENT LEADERSHIP)

नेतृत्व का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विशेष महत्त्व है। कालेजों एवं विश्वविद्यालयों मे भी छात्र नेता पाये जाते हैं जो विद्यार्थियों की विविध गतिविधियों मे आगे रहते हैं, उनकी समस्याओं मे रुचि लेते हैं, आवश्यकता पड़ने पर नारेबाजी, प्रदर्शन और हड़ताल का सहारा लेते हैं। ऐसे विद्यार्थी नेता न केवल शिक्षण-संस्थाओं मे लोकप्रिय होते हैं बल्कि स्थानीय क्षेत्र मे भी अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति बना लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को राजनीतिक दलों का समर्थन भी प्राप्त होता है। स्वय राजनीतिक दलों के ऐसे सगठन भी होते हैं जो विद्यार्थियो मे विशेषतः काम करते हैं। प्रश्न यह उठता है कि विद्यार्थी नेता कौन होते हैं, ये कैसे और कब नेता बनते हैं।

यदि कालेज और विश्वविद्यालयों मे छात्र नेताओं का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि वहाँ दो प्रकार के नेता पाये जाते हैं—प्रथम, औपचारिक नेता जो छात्र-सघ तथा अन्य समितियों जैसे कला परिषद, विज्ञान अथवा वाणिज्य परिषद मे पदाधिकारियों—अध्यक्ष, सचिव आदि के रूप मे कार्य करते हैं, द्वितीय अनौपचारिक नेता जो किसी पद पर चुने या मनोनीत तो नहीं किये जाते परन्तु जिन्हें विद्यार्थी अपने मार्ग-दर्शक, सकट के समय सहायता करने वाले, छात्र-सघों के चुनाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले, छात्र गतिविधियों मे आगे रहने वाले तथा विद्यार्थी स्तर पर लिये जाने वाले निर्णयों मे प्रभावशाली भूमिका निभाने वाले मानते हैं। ये दोनों ही प्रकार के नेता अन्य विद्यार्थियों की तुलना मे योग्यता व लोकप्रियता की दृष्टि से आगे होते हैं। उन विद्यार्थियों के लोकप्रिय नेताओं के रूप मे उभर कर सामने आने की सम्भावना अधिक रहती है जो भाषण देने की कला मे निपुण और साहसिक होते हैं तथा छात्रों की समस्या को ठीक ढग से अधिकारियों के सम्मुख रख पाते हैं। आज जबकि शिक्षण सस्थाओं की विभिन्न समितियों मे छात्रों को लिया जा रहा है, विद्यार्थी नेताओं का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

विद्यार्थी नेता के रूप मे उभरने की उन विद्यार्थियों की सम्भावना अधिक रहती है जो उच्च योग्यता वाले होते हैं और जिन्हें शिक्षण-सस्थाओं मे पाठ्यक्रमों

---

1 S M Lipset, 'Student Politics', *op cit.*, p 24.

के अलावा पाठ्येतर गतिविधियों के अभाव में अन्य किसी क्षेत्र में अपनी योग्यता को प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता। ऐसे छात्र विकल्प के रूप में राजनीति में रुचि लेने लगते हैं और जब एक बार उनमें राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा जागृत हो जाती है तो वे नेता के रूप में आगे बढ़ने के हर अवसर का लाभ उठाते हैं। बाके ने लिखा है कि जहाँ विश्वविद्यालयों में पाठ्येतर कार्यों (extra-curriculum) का अस्तित्व नहीं पाया जाता, वहाँ विद्यार्थी नेता बनने की अभिलाषा की पूर्ति विश्वविद्यालय प्रबन्ध में भागीदार बनकर तथा विद्यार्थियों को सामूहिक क्रिया के लिए उत्तेजित करके, भड़का कर और प्रोत्साहित करके करता है।[1] विद्यार्थी नेताओं के *अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले तक छात्र नेता धनी परिवारों* से आते थे, बहुत से विद्यार्थी नेता मध्यम वर्ग से सम्बन्धित होते थे और उनकी शिक्षण में काफी रुचि होती थी। अब विशेषतः ऐसे विद्यार्थी नेता के रूप में आ रहे हैं जिनमें अच्छा भाषण देने का गुण पाया जाता है। अपने इसी गुण के कारण वे विद्यार्थियों के समूह को एकता के सूत्र में बाँधने और किसी सामूहिक क्रिया के लिए तैयार करने में सफल हो जाते हैं।

राबर्ट सी० शॉ[2] ने उस्मानिया विश्वविद्यालय में विद्यार्थी राजनीति और विद्यार्थी नेतृत्व पर किये गये अपने अध्ययन के आधार पर अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। आपने पाया कि छात्र नेताओं के परिवारों की आम औसत परिवारों से अधिक है। *सभी नेताओं का कहना* था कि वे मध्यम परिवारों के सदस्य हैं, यद्यपि एक तिहाई नेता धनी परिवारों से सम्बन्धित थे। सभी छात्र-नेता उच्च जातियों से सम्बन्धित थे। शैक्षिक उपलब्धि की दृष्टि से यह पाया गया कि 22·2 प्रतिशत विद्यार्थी उत्तम, 23·3 प्रतिशत साधारण तथा 56·7 प्रतिशत साधारण से निम्न थे। जब छात्र नेताओं से पूछा गया कि छात्र-आन्दोलनों में हिंसा का सहारा क्यों लिया जाता है, तो सभी ने यह बतलाया कि अधिकारी उस समय तक माँगों पर ध्यान नहीं देते जब तक कि केवल शान्तिपूर्ण साधनों को काम में लिया जाता है। जहाँ छात्र नेताओं को उनकी 'राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं' के सम्बन्ध में पूछा गया तो ज्ञात हुआ कि दो तिहाई नेता आगे चलकर राजनीतिज्ञ के रूप में अपना जीवन संचालित करना चाहते हैं और राजनीति में आगे बढ़ने का एक प्रमुख साधन है—छात्र-आन्दोलनात्मक गतिविधियों में सक्रिय रूप में भाग लेना।

उपर्युक्त अध्ययन से यह भी पता चला कि छात्र-नेताओं में से 33 3 प्रतिशत ने 3 से कम वर्ष, अन्य 33 3 प्रतिशत ने तीन से छः वर्ष, 11·2 प्रतिशत ने छ. से

1 E. W. Bakke. 'Student on the March', *Sociology of Education*. Vol 37, No. 3. 1964, p. 203.

2 Robert C. Shaw. Student Politics and Student Leadership in an Indian University : The Case of Osmania; in *Turmoil and Transition : Higher Education and Student Politics in India*, edit. by Altbach, Philip, G., pp. 190-195.

की वर्ष तथा 22.2 प्रतिशत ने तो से अधिक वर्ष कॉलेज में बिताये। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि आर्थिक स्थिति का अच्छा होना, पढ़ाई के प्रति अरुचि या शैक्षिक अयोग्यता, राजनीति में भाग लेने की आकांक्षा तथा कॉलेज में अधिक समय तक विद्यार्थी बने रहना, आदि कुछ ऐसे कारक हैं जो छात्र-नेतृत्व में योग देते हैं। इस अध्ययन के आधार पर यह भी स्पष्ट है कि कुछ विशिष्ट कारकों ने छात्रों को नेताओं के रूप में उभरने का अवसर दिया। ये कारक निम्नलिखित हैं (1) विद्यार्थियों की शिकायतों को दूर करने तथा सांस्कृतिक, खेल-कूद सम्बन्धी तथा शैक्षिक गतिविधियों को विकसित करने हेतु, (2) मित्रों का मार्ग-दर्शन करने और छात्रों के लिए 'कुछ' करने की इच्छा, (3) भारतीय राजनीति में व्याप्त अस्थिरता को समाप्त करने तथा भ्रष्टाचार को मिटाने हेतु (4) समाज की सेवा करने हेतु, तथा (5) छात्र राजनीति के माध्यम से भविष्य में सक्रिय राजनीति में भाग लेने हेतु।[1]

स्पष्ट है कि विद्यार्थियों के नेता बनने में स्वयं की योग्यता, जीवन का कोई ध्येय, आगे बढ़कर छात्र समस्याओं को सुलझाने में रुचि, राजनीतिक दलों का समर्थन, जीवन में राजनीति को व्यवसाय के रूप में चुनने की इच्छा तथा किसी छात्र-प्रदर्शन एवं हड़ताल का सफल संचालन आदि मुख्य हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थी नगरीय पर्यावरण में आसानी से समायोजन नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में किसी छात्र नेता से समर्थन एवं सहायता प्राप्त करने की आशा से वे उसकी ओर झुक जाते हैं। अतः छात्र नेताओं को गाँवों से आने वाले विद्यार्थियों का विशेष समर्थन मिलता है। भारतीय छात्र नेता के सम्बन्ध में मार्गरेट कारमैक का कथन है कि वह विद्यार्थियों को हड़ताल एवं प्रदर्शन के लिए उकसा सकता है, अपनी इच्छानुसार घटना को दिशा दे सकता है तथा चल रहे आन्दोलन को कभी भी बन्द करा सकता है। अपने साथियों से उसे मूक-समर्थन मिलता है।[2] विद्यार्थियों का यही मूक-समर्थन, उनमें तार्किकता का अभाव, विद्यार्थी-शक्ति और एकता में अटूट विश्वास तथा राजनीतिज्ञों द्वारा सहायता छात्र-प्रदर्शनों, हड़तालों एवं आन्दोलनों की सफलता के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं।[3]

विद्यार्थी असन्तोष की समस्या को नियन्त्रित करने के उपाय
(MEASURES TO CONTROL THE PROBLEM OF STUDENT UNREST)

व्यावसायिक भूमिका निभाने के लिए युवा पीढ़ी को पूरी तरह प्रशिक्षित करने में शैक्षणिक प्रणाली की असफलता, युवा पीढ़ी के समाजीकरण के कार्य को

---

1 Ibid., p. 194.

2 Margaret L. Cormack, "Indian Higher Education in the 1960s" Hope in the Midst of Despair Altbach (edt.) op. cit., pp. 241-256.

3 H. S. Asthana and Sunita Chatterji, "The Disturbed Campus", edt. by M. S. Gore, I. P. Desai and Suma Chitnis op. cit., p. 329.

पूर्णता के साथ पूरा करने की अयोग्यता तथा अपने आदर्श-मानदण्डो एव तरीकों और नीतियों को देश में बदलते हुए मूल्यों तथा प्रवृत्तियो के अनुरूप बनाने में असमर्थता *शिक्षण प्रणाली के प्रति उन लोगो मे अनिष्ठा के प्रमुख कारण हैं जो इस प्रणाली मे भाग लेते हैं। यहाँ विद्यार्थी असन्तोष एव अनुशासनहीनता की समस्या को* हल करने हेतु कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं

(1) शिक्षण प्रणाली मे पाई जाने वाली कमियों को शीघ्र दूर करने की अत्यन्त आवश्यकता है। शिक्षाशास्त्रियो को इस ओर ध्यान देना होगा कि विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों मे कौन-कौनसी बातें सम्मिलित करनी हैं और कौन-कौनसी नहीं। परीक्षा प्रणाली और मूल्याकन के तरीके को भी बदलना होगा। यह तरीका इस प्रकार का होना चाहिए कि विद्यार्थी को वर्ष भर पढाई के कार्य मे लगा रहना पड़े और मूल्याकन मे पढ़ाने वाले अध्यापक की सहभागिता हो। ऐसी स्थिति मे कक्षा में नियमित रूप से कार्य हो सकेगा।

(2) *अध्यापक विद्यार्थी के सम्बन्धो मे निकटता का अभाव तथा शैक्षिक* स्तर का गिरना सम्पूर्ण शिक्षण प्रणाली के प्रति अनिष्ठा और अविश्वास का प्रमुख कारण प्रतीत होता है। भारत मे शिक्षा के तीव्र प्रसार के साथ-साथ हमे इस ओर विशेष ध्यान देना होगा कि शिक्षा का स्तर गिरे नही। इसके लिए आवश्यक है कि योग्य व्यक्तियों को शिक्षा अधिकारियो के रूप मे पद-भार सम्भालने का अवसर दिया जाय। ऐसे पदों पर राजनीतिक प्रभाव के आधार पर नियुक्तियाँ नही होनी चाहिए। योग्यता के मानदण्ड सुपरिभाषित होने चाहिए।' आज शिक्षा जगत मे ऐसे अधिकारियो का बोलबाला है जो उत्तरदायित्वो को ठीक प्रकार से निभाते हुए प्रतीत नही होते। शिक्षा प्रणाली के ठीक ढग से सचालन के लिए आवश्यक है कि आज के बदलते हुए समाज मे नियोजन (Planning) का कार्य सावधानीपूर्वक किया जाय। इस क्षेत्र में बहुत कुछ सफलता नीति-निर्माताओ की योग्यता और कर्तव्यनिष्ठा पर निर्भर करती है।

(3) *शिक्षण* संस्थाओ मे विद्यार्थियो को इस प्रकार के अवसर उपलब्ध कराये जाने चाहिए कि छात्रों की नेतृत्व सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति मान्यता प्राप्त तरीकों से हो सके। यदि विद्यार्थियो की शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग शिक्षण-संस्थाओ में किया जाय तो राजनीतिज्ञो को उन्हें भडकाने और अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए उनका शोषण करने का अवसर ही नही मिलेगा। सामान्यत. राजनीतिज्ञ न केवल शिक्षकों का बल्कि विद्यार्थी-राजनीतिज्ञो का भी शोषण करते रहे हैं। शैक्षिक गतिविधियों में कम रुचि एवं कम सहभागिता के कारण ही कई अध्यापक राजनीतिज्ञो के हाथ में कठपुतली बन जाते हैं और इसी स्थिति के कारण छात्र-सघो का उदय श्रमिक-सघो के रूप मे होता है जिनके द्वारा समय-समय पर माँग-पत्र प्रस्तुत किये जाते हैं। शिक्षा जगत मे शोचनीय स्थिति के लिए स्वय शिक्षा-अधिकारी

उत्तरदायी हैं जो स्कूल एवं कालेज के विद्यार्थियों का राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जलूसों, प्रदर्शनों तथा सभाओं में उपयोग करने की आज्ञा देते हैं। ऐसे अधिकारी स्वयं की पदोन्नति के लिए राजनेताओं को प्रसन्न करने हेतु छात्रों का दुरुपयोग करते हैं। अशैक्षिक-उद्देश्यों के लिए विद्यार्थियों को केवल संख्या बढ़ाने और अपनी झूठी कर्तव्य-निष्ठा बताने के लिए जलूसों और जन-सभाओं में ले जाना उनमें पढ़ाई के प्रति गम्भीरता को कम करना है।

(4) शैक्षणिक प्रणाली में इस प्रकार से परिवर्तन किये जाने चाहिए कि वह स्वतन्त्र भारत के नवीन आदर्शों के अनुरूप विद्यार्थियों का समाजीकरण कर सके। आज आवश्यकता इस बात की है कि विद्यार्थियों और अध्यापकों में ऐसे मूल्यों का आन्तरिकीकरण हो जो नवीन आदर्शों के अनुकूल हों। उदाहरण के रूप में, एक आधुनिकीकरण की ओर बढ़ते हुए समाज में प्रस्थिति के निर्धारण में आरोपण या प्रदत्त (ascription) के स्थान पर उपलब्धि (Achievement) के महत्त्व का पाया जाना स्वाभाविक है। पहले अध्यापकों का अध्यापक होने के कारण ही आदर और सम्मान किया जाता था, परन्तु अब बौद्धिक नेतृत्व की अपनी क्षमता के आधार पर ही वे सम्माननीय स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। कालेज शिक्षण में प्रतिभाशाली व्यक्ति आयें, इसके लिए आवश्यक है कि आय तथा कार्य की दशाएँ समुचित हों। यदि कालेजों एव विश्वविद्यालयों को उचित मात्रा में स्वतन्त्रता एव आर्थिक साधन उपलब्ध कराये जायें तो शैक्षिक जीवन निश्चित रूप से ऊपर उठ सकेगा और नवीन मूल्यों का आन्तरिकीकरण हो सकेगा।

(5) एम० एम० लिप्सेट[1] ने बतलाया है कि अमेरिकन विद्यार्थियों में नैराश्य तथा असामंजस्यता के लिए शिक्षा का प्रसार और परिणामस्वरूप व्यक्तित्व लोप (Depersonalization) उत्तरदायी हैं। वे अब अपने को घनिष्ट रूप से सम्बद्ध शैक्षिक समुदाय के व्यक्तियों के रूप में सम्बन्धित नहीं समझते। परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियों में शैक्षणिक प्रणाली के प्रति अनिच्छा तथा अलगाव के भाव पैदा होते हैं। आधुनिक भारत भी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ इस स्थिति की ओर आगे बढ़ रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि शैक्षिक गतिविधियों में अध्यापकों एव विद्यार्थियों की अधिकाधिक सहभागिता को प्रोत्साहित किया जाय। इसके लिए अध्यापक-विद्यार्थी अनुपात को घटाने की जरूरत है।

(6) छात्र अनुशासनहीनता पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में बतलाया गया है कि विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप और छात्र संघों के श्रमिक संघों के रूप में कार्य करने को रोका जाय। सामान्य कानून और व्यवस्था विश्वविद्यालयों में लागू होनी चाहिए और छात्र सुविधाएँ उचित

1 S. M. Limpset & Altbach Philip in 'American Student Protest' in *New Society*, Nos. 205 and 206, Sept. 1966.

मात्रा में उपलब्ध कराई जानी चाहिए। शिक्षा आयोग[1] की रिपोर्ट मे कहा गया है कि संस्था के प्रधान को, विद्यार्थियों के साथ सहानुभूतिपूर्ण समझदारीपूर्वक तथा उचित तरीके से व्यवहार करना चाहिए। जहाँ आवश्यक हो, वहाँ परिस्थिति के अनुरूप उसे दृढ़ता का परिचय भी देना चाहिए। विद्यार्थियो को यह भली-भाँति समझा दिया जाना चाहिए कि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जैसे पाठ्यक्रम, परीक्षाएँ, शैक्षिक स्तर, अध्यापको की नियुक्ति, आदि जिनमे उन्हे कोई हस्तक्षेप नही करना है। विद्यार्थियो से सम्बन्धित मामलों मे निर्णय लेने की प्रक्रिया तथा कार्यक्रमो मे विद्यार्थियो की अधिक सहभागिता होनी चाहिए ताकि उनमे इस भावना को दूर किया जा सके कि वे विश्वविद्यालय समुदाय के पूर्ण सदस्य नही हैं।

विश्वविद्यालय शिक्षा पर राधाकृष्णन कमीशन की रिपोर्ट मे बतलाया गया है कि विद्यार्थी अनुशासनहीनता को केवल ऐसा वातावरण उत्पन्न करके ही समाप्त किया जा सकता है जिसमे लड़के-लड़कियो को अच्छे विद्यार्थियो के रूप मे विकसित होने के उचित अवसर मिलें। ऐसा विद्यार्थियो को आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास विकसित करने का सुअवसर देकर ही किया जा सकता है। यह भी उसी समय सम्भव है, जब विद्यार्थियों को सन्देह तथा भय के वातावरण मे रहने देने के बजाय, उनमे विश्वास की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया जाय। विद्यार्थियो के स्वतः ही अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए कमीशन ने तीन सुझाव दिये हैं जो निम्न हैं : (1) विद्यार्थियो को अच्छी सरकार में रुचि लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए लेकिन दलगत राजनीति में नही, (2) एक परिवर्तित अनुशासकीय व्यवस्था (Proctorial System) जिसमे विद्यार्थी अधिक भाग लेंगे, अथवा विद्यार्थी सरकार विकसित की जानी चाहिए, तथा (3) अध्यापक, माता-पिता, राजनेता, जनता तथा समाचार-पत्रो को विद्यार्थियो मे अच्छा जीवन विकसित करने मे सहयोग देना चाहिए। इस कमेटी ने विद्यार्थी-कल्याण को ध्यान मे रखते हुए विद्यार्थियो को अनेक सुविधाएँ उपलब्ध कराने तथा इस हेतु एक संगठन विकसित करने का सुझाव दिया।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (कोठारी कमीशन, 1964-66) ने स्पष्ट किया है कि छात्र-व्यवहार के लिए न केवल शैक्षणिक व्यवस्था उत्तरदायी है बल्कि बाह्य कारक भी। कमीशन का कथन है कि शैक्षणिक प्रणाली मे दो उपायो की आवश्यकता है। (1) विद्यार्थियों मे असन्तोष पैदा करने वाली शैक्षणिक कमियों को दूर करना; तथा (2) असन्तोष की घटनाओ के घटित होने को रोकने के लिए उचित सलाहकार तथा प्रशासकीय संगठन की स्थापना। शिक्षण-संस्थाओं को अपने शैक्षिक-स्तर को ऊँचा उठाने और शिक्षण की प्रणाली को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि विद्यार्थी यह महसूस कर सके कि वह निश्चित लक्ष्य के लिए सीखने की प्रक्रिया मे

1 *Report of Education Commission, Govt. of India, 1966.*

भाग ले रहा है। साथ ही यह भी प्रयास होना चाहिए कि विद्यार्थी और अध्यापक के बीच घनिष्ट सम्बन्ध हो ताकि विद्यार्थी मे यह आत्म विश्वास जागृत किया जा सके कि अध्यापक को उसके कल्याण मे पूर्ण रुचि है और उसकी सहायता से विद्यार्थी अपनी समस्याओं को हल कर सकता है।

कोठारी कमीशन ने यह भी सुझाव दिया है कि सभी विश्वविद्यालयो और कालेजो मे उपकुलपति या प्राचार्य तथा अध्यापकों और विद्यार्थियो की संयुक्त केन्द्रीय कमेटियों की स्थापना की जानी चाहिए। ऐसी कमेटियों के द्वारा अध्यापकों और विद्यार्थियों में पारस्परिक विश्वास और सम्मान के आधार पर साहचर्य (Comradeship) की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के एक सशक्त माध्यम के रूप में काम में लिया जाना चाहिए। इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि शिक्षा ऐसी हो जिसके माध्यम से विद्यार्थी को इस प्रकार से संस्कारित किया जा सके कि वह राष्ट्रीय जीवन मे अपनी भूमिका को समझ सके। प्रयत्न यह होना चाहिए कि शिक्षा से भौतिक अभाव, बीमारी तथा अज्ञानता पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके। शिक्षा के माध्यम से प्रजातान्त्रिक मूल्यों—न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व—का विद्यार्थियों मे आन्तरिकीकरण किया जाना चाहिए। छात्र असन्तोष को दूर करने और विद्यार्थियों मे अनुशासन के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने के लिए जहाँ शैक्षिक प्रणाली की कमियों को शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है, वहाँ शासक दल, विरोधी नेताओ तथा शिक्षा-अधिकारियो को कर्तव्य निष्ठा का परिचय देना चाहिए। देश के भावी नागरिकों का स्वस्थ विकास केवल अध्यापकों तथा शासक दल का ही उत्तरदायित्व नहीं है। इस वृहद् कार्य में समाज के सभी लोगो को अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। विद्यार्थियों को स्वयं अपने दायित्व को समझना है, समाज और मानवता के प्रति अपने कर्तव्य से परिचित होना है। केवल दूसरों को दोष देने की प्रवृत्ति पर अंकुश रखना है और देश के भावी निर्माण मे प्रत्येक को अपना सक्रिय योग देना है। शिक्षण संस्थाओं को चरित्र-निर्माणकारी संस्थाओं के रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने की अत्यन्त आवश्यकता है। विद्यार्थियों में व्याप्त आर्थिक असुरक्षा की भावना को दूर करने के लिए देश का तेजी से आर्थिक विकास अनिवार्य है जिसमे वितरण प्रणाली पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि गरीब-अमीर का भेद कम हो सके, बेकारी मिट सके और विद्यार्थी अपने भविष्य के प्रति आशावान हो सके। यदि योग्य विद्यार्थियों को आगे बढ़ने का, कर्तव्य-परायणता और कठिन परिश्रम का पुरस्कार प्राप्त करने का तथा अच्छी नौकरियों में आने का अवसर मिला और उद्दण्ड छात्रों के विचलित व्यवहार के लिए उन्हें दण्डित किया गया तो स्थिति मे अवश्य सुधार होगा। यह सब कुछ होने पर ही विद्यार्थी-असन्तोष की समस्या हल हो सकेगी।

प्रश्न

1. विद्यार्थी असन्तोष से आप क्या समझते हैं ? भारत में विद्यार्थियों में पाये जाने वाले असन्तोष के कारण बताइए।
2. विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता उत्पन्न करने वाले विभिन्न कारणों की व्याख्या कीजिए।
3. समाजशास्त्री विद्यार्थी-असन्तोष को एक सामाजिक समस्या क्यों मानते हैं ?
4. भारत में शैक्षणिक सस्थाओं में पायी जाने वाली असन्तोष-समस्या समझाइए।
5. क्या आपके विचार में भारत में पायी जाने वाली वर्तमान शैक्षणिक व्यवस्था विद्यार्थियों में असन्तोष उत्पन्न करती है ? तर्क दीजिए।
6. एक समाज में व्याप्त विद्यार्थी असन्तोष की समस्या को नियन्त्रित करने के उपाय बताइए।
7. विद्यार्थी असन्तोष में (अ) परिवार, और (ब) राजनीतिज्ञों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
8. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए
   (i) दुर्बोध्य विद्यार्थी,
   (ii) विद्यार्थी-नेतृत्व।

के प्रभाव से भारत में भी शराब पीना एक फैशन हो गया है। अन्य बुराइयों की तरह शराब का जहर भी भारतीय समाज की रगों में घुलता जा रहा है। शराब-निर्माण में प्रयुक्त औद्योगिक स्प्रिट की बढ़ती खपत के कारण रबड़, प्लास्टिक एवं औषधि उद्योग पिछड़ गये हैं। हमारे यहाँ प्रतिदिन लगभग 80 लाख गैलन शराब पी जाती है जिस पर लगभग 8 अरब रुपये प्रतिवर्ष खर्च होते हैं।[1] इस ओर कॉलेज और स्कूलों में पढ़ने वाले छात्र एवं छात्रायें भी काफी संख्या में आकर्षित हैं। फिर भी दूसरे देशों की तुलना में हमारे यहाँ शराब का प्रयोग कम ही होता है, इसके लिए हमारे देश की गर्म जलवायु भी उत्तरदायी है। आदिम जातियों को छोड़कर शेष लोगों में साधारणतः स्त्रियों द्वारा शराब का प्रयोग नहीं किया जाता। दूसरी ओर कई लोग शराब के ऐसे भक्त हैं कि वे इसे जवानी का साथी, यौवन का दास और वृद्धावस्था में सान्त्वना देने वाला मानते हैं।

लोग शराब क्यों पीते हैं ?
(WHY PEOPLE DRINK ?)

यहाँ प्रश्न उठता है कि शराब की अनेक बुराइयों के प्रति लोगों को सचेत किया जाता है फिर भी वे इसकी ओर इतना अधिक आकर्षित क्यों हैं? वे कौन से कारण हैं जो लोगों को शराब पीने को प्रेरित करते हैं? इस सन्दर्भ में शराब की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कई तर्क और तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं। कुछ लोग शराब का सेवन इसके नींद लाने वाले प्रभाव के कारण, दुःखों को भुला देने एवं सुख की अनुभूति के लिए, मानसिक तनावों से मुक्ति, अपने विचारों की अभिव्यक्ति एवं अरुचिकर वास्तविकताओं से बचने के लिए करते हैं। यहाँ हम शराब पीने के विभिन्न कारणों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे

(1) शराब एक भोजन के रूप में (Alcohol as a Food)—शराब एक प्रकार का कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) है जो कि शरीर के लिए कुछ अंशों में भोजन का कार्य करता है। शराब का ऑक्सीकरण (Oxidation) शीघ्र हो जाता है। यह रक्त एवं तन्तुओं द्वारा शीघ्र ग्रहण कर लिया जाता है और शरीर के सभी अंगों में पहुँच कर शक्ति प्रदान करता है। चयापचय (Metabolism) की क्रिया में भी यह योग देता है। पेट में शराब भोजन पाचन और विशेषकर प्रोटीन के पाचन को कम कर देता है। इसलिए ही लम्बे समय से शराब पीने वाले व्यक्ति संतुलित भोजन ग्रहण नहीं कर सकते। यदि शराब का प्रयोग उचित मात्रा में किया जाता है तो यह शरीर में ईंधन के रूप में कार्य करता है। अंगूर की शराब कुछ प्रकार के मानसिक रोगियों के लिए लाभप्रद भी है। यदि हम नैतिक नियमों से परे सोचें, तो स्पष्ट है कि शराब में पोषण की विशेषताएँ (nutritive properties) भी हैं किन्तु

---

1. समाज-कल्याण 'मद्यपान की समस्या हल की तलाश में' राममोहन पाठक, मार्च 1976, पृष्ठ 27.

वे सर्चीली और हानिप्रद भी हो सकती हैं। उन्हें हम किसी भी रूप में शरीर के लिए आवश्यक नहीं मान सकते।

(2) शराब एक पेय के रूप में (Alcohol as a Beverage)—शराब का उपयोग सामाजिक उत्सवों को मनाने एवं सम्बन्धों को दृढ़ करने के उद्देश्य से भी किया जाता है। स्टारलिंग शराब पीने वाले के सम्बन्ध में लिखते हैं, "ऐसे अवसरों पर वह अपने मित्रों और साथियों का अधिक सम्मान करता है, प्रसन्न दिखाई देता है, भावुक हो जाता है, बन्धन से मुक्त हो जाता है, व्यक्ति में दया और सहानुभूति पैदा हो जाती है, शान्त व्यक्ति भी बतियाने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मित्रों के सम्मुख खुलकर बातें करने लगता है और दूसरों के गुणों की सराहने लगता है। एक शब्द में यह कहें कि शराब का सीमित मात्रा में उपयोग अच्छी मित्रता को उत्पन्न करता है।"[1] प्याले की दोस्ती प्रगाढ़ मानी जाती है। अनेक दुश्मनों में शराब के प्याले पर मेल पैदा हुआ है। किन्तु अधिक मात्रा में शराब पीने पर जब वह बहकने लगता है तो बुराइयाँ जन्म लेती हैं। मायरसन का तो मत है कि शराब का मयन और बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग शराब-तृप्ति संघर्ष का एक आवश्यक भाग है।

(3) शराब एक मुख्य मादक पदार्थ के रूप में (Alcohol is a Principal Intoxicant)—विभिन्न प्रकार के शराब मुख्यतः साहस-वर्धक होते हैं। शराब के भी कई प्रकार होते हैं जैसे ब्रांडी, व्हिस्की, रम, ब्राण्डी, जिन, बियर आदि। व्यक्ति नशे में है या नहीं इसका पता लगाने के लिए शरीर में दूसरे द्रव्यों की तुलना में अलकोहल की मात्रा कितनी है, यह ज्ञात करना होता है। साधारणतः नशे के संकेत प्रकट करने के लिए रक्त में 0.2 से 0.3% अलकोहल पर्याप्त होता है। इसके बाद अलकोहल की मात्रा बढ़ने पर नशे की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। शरीर में 0.7 से 0.9 प्रतिशत तक अलकोहल की मात्रा होने पर व्यक्ति की मौत भी हो सकती है। कोई भी व्यक्ति कितने समय तक नशे में रहेगा, यह उसके शरीर द्वारा आक्सीकरण (Oxidation) की दर पर निर्भर है। साथ ही यह शरीर के आकार, पेट में भोजन की मात्रा शरीर और कमरे के तापक्रम तथा व्यक्ति की सहनशीलता पर निर्भर है। यही कारण है कि किसी को शराब की दो गिलास पीने पर भी नशा नहीं चढ़ता तो किसी को आधी गिलास पीने पर भी नशा चढ़ जाता है।

(4) शराब एवं यौन इच्छा (Alcohol and Sexual Drive)—कुछ लोगों की मान्यता है कि शराब पीने पर यौन इच्छा में तीव्रता उत्पन्न होती है। अतः यौन क्रिया की दृष्टि से कमजोर समझे जाने वाले व्यक्ति शराब का सहारा लेते हैं, किन्तु यह धारणा अवैज्ञानिक है। शराब पीने से यौन-इच्छाएँ न तो बढ़ती हैं और न ही घटती हैं परन्तु यौन क्रिया करने की शक्ति घट जाती है और व्यक्ति का अपने

---

1 E. H. Starling, *The Action of Alcohol on Man* (1923), p. 77.

पर नियन्त्रण शिथिल हो जाता है। कुछ अध्ययन तो इस बात को प्रकट करते हैं कि शराबी को यौन-क्रिया करने मे कठिनाई महसूस होती है और वे सामान्य यौन-क्रिया भी पूरी तरह से नहीं कर पाते। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व इंगलैंड मे शराबी पुरुषों का अध्ययन करने पर यह पाया गया कि अधिक पीने वाले दयनीय प्रेमी और दयनीय पति थे।[1]

(5) शराब नींद लाने वाले द्रव के रूप में (Alcohol as Narcomania)—कुछ लोग शराब का प्रयोग नींद लाने वाले पदार्थ के रूप मे करते हैं। वर्तमान मे औद्योगीकरण एवं भीड़भाड़युक्त वातावरण के शोर-गुल से बचने एव नींद लाने के लिए व्यक्ति शराब का प्रयोग करता है। किन्तु वैज्ञानिकों का मत है कि शराब 'हीरोइन' (Heroin) तथा 'कोकाइन' की भाँति आदत वाली नशीली वस्तु नहीं है और न ही इसे नींद लाने वाला पेय माना जाना चाहिए।

(6) शराब और लम्बी आयु (Alcohol and Longevity)—एक धारणा यह है कि सन्तुलित रूप से शराब पीने वाले व्यक्ति की आयु लम्बी होती है क्योंकि शराब शरीर मे बीमारी के कीटाणुओं को नष्ट कर देती है तथा पीने वाला व्यक्ति चिन्ताओं एव तनावों से मुक्त रहता है। रेमण्ड पीयर्ल ने अपने अध्ययन में पाया कि कम मात्रा में शराब पीने वालों की जीवन अवधि शराब न पीने वालों से अधिक थी।[2] हन्टर ने 'नार्थ वेस्ट म्यूचल लाइफ इन्शोरेन्स कम्पनी' (North West Mutual Life Insurance Company) की 1,66,694 बीमा पॉलिसी जो सन् 1886 से 1895 तक जारी की गई थीं, का अध्ययन करके बताया कि न पीने वालों की तुलना मे मर्यादित रूप से पीने वालों में मृत्यु दर कम थी। दूसरी ओर मर्यादित रूप से पीने वालो की तुलना मे अधिक पीने वालों में मृत्यु दर ज्यादा थी।[3]

(7) शराब एक दवा के रूप में (Alcohol as a Medicine)—ग्रामीण लोग शराब का प्रयोग एक दवा के रूप मे करते हैं। यह एक उत्तेजक और पौष्टिक पदार्थ माना जाता है। सर्दी के प्रभाव को खत्म करने, सर्प विष को दूर करने, प्रमेह, मलेरिया और अनेक अन्य बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। प्राचीन समय मे इसका प्रयोग शल्य-क्रिया करने से पूर्व व्यक्ति को बेहोश करने के लिए किया जाता था। जो लोग शराब नहीं पीते हैं, वे भी दवा के रूप मे इसके प्रयोग पर आपत्ति नहीं करते। अंगूर की शराब (Brandy) का प्रयोग अनेक प्राचीन समाजों में नुस्खे के रूप में किया जाता था। वर्तमान में भी अनेक रोगों की दवाओं में अलकोहल का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह सस्ता और सुलभ है तथा दस उद्देश्यों की पूर्ति करता है। कई दवाएँ इसमे शीघ्र घुल जाती हैं। इस

1 H. Bloch, *Disorganisation. Personal and Social*. p. 445.
2 R. Pearl. *Alcohol and Longevity*. New York, 1926.
3 A. Hunter. Longevity and Mortality as Affected by the Use of Alcohol in Heven Emesson (ed.), *Alcohol and Man.*

नाते यह एक अच्छा घोलक (solvent) भी है। साथ ही यह एक अच्छा कीटनाशक (antiseptic) पदार्थ भी है जो कई छूत के रोगों को रोकता है। उदाहरण के लिए यह निमोनिया और क्षय रोग का निरोधक है। इस प्रकार से अलकोहल दवा के रूप में अनेक कार्य करता है और एक शान्ति प्रदान करने वाला (sedative) पदार्थ भी है।

(8) शराब एवं सामाजिक प्रथायें (Alcohol and Social Customs)—प्राचीन समय से ही शराब का प्रयोग विभिन्न सामाजिक उत्सवों, त्योहारों आदि को मनाने एवं परम्पराओं के पालन के रूप में होता रहा है। वर्तमान में शराब पीना एक फैशन बन गया है। आजकल अपने आपको आधुनिक और प्रगतिशील दिखाने के लिए शराब का प्रयोग किया जाने लगा है। शराब के प्रति नैतिक और धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन आया है। विवाह, जन्म तथा व्यापार के उद्घाटन आदि अवसरों पर शराब पीना और पिलाना अनेक लोगों में सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक बनता जा रहा है।

डा० स्टारलिंग[1] ने शराब पीने के चार कारण बताये हैं

(i) अज्ञानता (ii) आर्थिक परिस्थितियाँ (iii) फैशन (iv) वंशानुगत स्नायुविक कमजोरी। इन कारणों को भी हम उपर्युक्त कारणों में जोड़ सकते हैं।

(9) अज्ञानता के कारण (Due to Ignorance)—कुछ लोगों में एक गलत धारणा फैली हुई है कि शराब शक्ति प्रदान करती है। अतः लोग काम पर जाने से पूर्व शराब पीते हैं। शराब पीकर काम पर जाना धीरे-धीरे उनकी आदत हो जाती है।

(10) आर्थिक परिस्थितियाँ (Economic Conditions)—धनवानों की तुलना में गरीब लोग शराब का अधिक सेवन करते हैं क्योंकि वे जिन परिस्थितियों में रहते और काम करते हैं, उसके दुख को भुलाने के लिए वे साधारणतः शराब का सहारा लेते हैं।

(11) फैशन (Fashion)—शराब का प्रयोग दिनों-दिन एक फैशन बनता जा रहा है। कुछ लोग उत्सवों के अवसर पर या मेहमानों और मित्रों का साथ देने के लिए शराब का प्रयोग करते हैं।

(12) वंशानुगत स्नायुविक कमजोरी (Inherent Nervous Defects)—कुछ व्यक्तियों में जन्म से ही स्नायुविक कमजोरियाँ होती हैं। वे अपने को समाज में रहने के अयोग्य समझते हैं। सामाजिक जीवन से छुटकारा पाने की मनोवृत्ति (escapism) के कारण वे शराब का प्रयोग करने लगते हैं।

(13) मित्रता एवं आमोद-प्रमोद (Companionship and fun)—डाक्टर

---

1 E H Starling, *The Action of Alcohol on Man*

काल्टिन (Dr. Caltin) का मत है कि शराब का प्रयोग मित्रता निभाने के लिए किया जाता है। जर्मन लोगों की मान्यता है कि मित्रता, मजाक और प्रमोद जिसे वे 'जरमटलिचकेट' (Germutlichkeit) कहते हैं, के लिए शराब पी जाती है।

(14) आपत्ति के कारण (Misery Drinking)—डाक्टर बोंगर का मत है कि व्यक्ति आपत्तियों एवं चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए शराब का प्रयोग करता है। जब व्यक्ति पर अनेक कठिनाइयाँ आती हैं और वह अपने को दुखी महसूस करने लगता है तो कष्टों से मुक्ति पाने के साधन के रूप में वह शराब पीने लगता है।

(15) सामाजिक अपर्याप्तता (Social Inadequacy)—डॉ० जैनेट का मत है कि अनेक व्यक्तियों में व्यक्तिगत कमजोरियाँ होती हैं जिसके कारण वे जीवन में आने वाली कठिनाइयों का मुकाबला नहीं कर सकते। मित्रों में संघर्ष, पति-पत्नी में तनाव, तलाक, मनमुटाव, प्रेम में असफलता, अधिक काम और वातावरण में अचानक परिवर्तन आदि के कारण व्यक्ति अपने आपको दुखी एवं इन परिस्थितियों से मुकाबला करने में असमर्थ महसूस करता है। ऐसी स्थिति में वह शराब का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। शराब से उसे कुछ क्षणों के लिए राहत मिलती है। लेकिन आगे चलकर वह देखता है कि शराब ने अनेक बुराइयाँ पैदा कर दी हैं किन्तु तब तक वह शराब का आदी हो चुका होता है। अतः उसे छोड़ नहीं सकता।

(16) व्यवसाय और व्यापार (Occupation and Business)—औद्योगीकरण ने शराबवृत्ति को बढ़ावा दिया है। मशीन पर काम करने पर व्यक्ति थक जाता है। अतः थकान से मुक्ति पाने और नई स्फूर्ति के लिए वह शराब का सहारा लेता है किन्तु नशा उतरने पर व्यक्ति का शरीर और अधिक शिथिल हो जाता है। व्यापारी अपना सौदा तय करने के दौरान भी शराब पीते हैं। व्यापार में सफल होने या लाभ कमाने की खुशी में भी शराब का प्रयोग किया जाता है।

(17) गन्दी बस्ती और मनोरंजन के अभाव के कारण (Bad Housing and Lack of Recreation)—कभी-कभी शराब व्यावसायिक ऊब, घरेलू झगड़ों तथा व्यक्तिगत निराशाओं आदि के झटकों को झेलने का कार्य करता है। शराब पीने पर उसे धनवान होने का भ्रम होता है। जो लोग कला, साहित्य एवं संगीत का उपयोग नहीं कर सकते, उनके लिए शराब पीना अर्थपूर्ण है। सेमुअल स्माइल्स (Samuel Smiles) एवं लेडी बैल (Lady Bell) ने इंग्लैण्ड में शराब और गन्दी बस्ती के सह-सम्बन्ध का अध्ययन किया। इन अध्ययनों में यह पाया गया है कि गन्दी बस्तियों और अनुचित निवास के कारण लोग अधिक शराब पीते थे जिससे कि वे अपने दुख-पूर्ण जीवन को भुला सकें। मनोरंजन के अन्य सस्ते और उपयुक्त साधनों के अभाव में केवल ही व्यक्ति को मनोरंजन प्रदान करती है। इंग्लैंड में शराबवृत्ति का अध्ययन करके ऐमुलरी समिति (Amulree Committee) ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि मकानों के अभाव में लोग शराब-घरों एवं सार्वजनिक घरों (Public Houses) में

मिलने वाली सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए ही उनमे रात्रि व्यतीत करते थे।[1] डॉ० अल्फ्रेड ने अमूलरी रिपोर्ट मे इग्लैड के अध्ययन के बाद लिखा है कि सामान्य वातावरण जितना बुरा होगा शराब पर उतना ही अधिक पैसा खर्च होगा।[2]

(18) शराब एक शान्तिदायक पदार्थ के रूप में (Alcohol as a Social Sedative)—शराब ऊब एव थकान से शान्ति दिलाती है। शारीरिक एव मानसिक तनाव की स्थिति में इसीलिए लोग इसका प्रयोग करते हैं। शराब पीने के बाद वे ताजगी महसूस करते हैं। डॉक्टरों के अनुसार यह लाक्षणिक उपचार (Symptomatic Treatment) है। आज का व्यक्ति मशीन पर काम करने में आत्म सन्तोष महसूस नहीं करता। उसे मशीन के कार्यों से ऊब एव अरुचि महसूस होती है। इसकी कुछ क्षति-पूर्ति तो व्यक्ति मनोरंजन एव घरेलू वातावरण से कर लेता है किन्तु मानसिक शान्ति के लिए वह शराब का सहारा लेता है।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त कई व्यक्ति शराब पीने के कारणों मे शहरीकरण के प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि मनुष्य के आनन्द के लिए ईश्वर ने धरती पर अगूर की बेल लगाई जिससे शराब बनाकर आनन्द उठाया जाय। कुछ लोगों की मान्यता है कि शराब का उपयोग उसके स्वाद के कारण किया जाता है। कुछ व्यक्तियों ने शारीरिक कष्टों से मुक्ति तथा मनोवैज्ञानिक शान्ति प्राप्त करने आदि कारणों को शराबवृत्ति के लिए उत्तरदायी माना है। शराब अच्छी मित्रता का सूचक माना जाता है। मृत्यु, दुर्घटना एव निराशा के समय भी शराब का प्रयोग किया जाता है। चर्च में व्यक्ति परमात्मा से एकीकार करने के लिए शराब पीते हैं। इस प्रकार शराब का प्रयोग खुशी एव दुख दोनों के ही अवसरों पर किया जाता है। अब्राहम मायरसन लिखते हैं, "जिस प्रकार से यह प्रयोगशाला मे मुख्य रासायनिक घोलक है उसी प्रकार से दैनिक जीवन में भी मुख्य सामाजिक घोलक है।"[3]

शराबवृत्ति के सिद्धान्त
(THEORIES OF ALCOHOLISM)

एक प्रश्न यह उठता है कि केवल कुछ ही व्यक्ति शराबी बन पाते हैं, सभी क्यों नहीं? इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। उन सभी सिद्धान्तों में सत्यांश है किन्तु किसी भी एक सिद्धान्त को हम पूर्ण सत्य या शराबवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए निर्धारक नहीं मान सकते। इससे सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं

---

1 See *Amulree Report*, para 101
2 Dr Alfred Salter, *Ibid*, A 26042.
3 "As it is a chief chemical solvent in the laboratory it is extalled as the chief social solvent of everyday life"—Abraham Myerson, Alcohol—A Study of Social Ambivalence, quarterly, *Journal of Studies in Alcoholism*, Vol. I, June, 1940, p 15

(1) शारीरिक दृष्टिकोण (Physiological view)—शराबवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए शराब के शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया गया। इन अध्ययनों के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न निष्कर्ष निकाले हैं। कुछ अध्ययन इस बात पर जोर देते हैं कि कुछ व्यक्तियों के शरीर की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह अलकोहल की माँग करती है। यही कारण है कि इस प्रकार के व्यक्ति अधिक शराब पीते हैं।

एक मान्यता यह है कि वंशानुक्रमण की भिन्नता के कारण व्यक्तियों की शारीरिक सहिष्णुता (physical tolerance) में भी अन्तर पाया जाता है। अत. जिन व्यक्तियों में अलकोहल के प्रति कम सहनशीलता होती है, वे शराबी नहीं बन पाते। उनकी शारीरिक यन्त्र-रचना (physiological mechanism) ही उन्हें अधिक शराब पीने से बचाये रखती है।[1]

एक दूसरी शारीरिक व्याख्या यह है कि कम मात्रा में शराब पीने (moderate drinking) के परिणामस्वरूप शरीर लम्बे समय में जाकर अलकोहल पर निर्भर हो जाता है और व्यक्ति शराब के बिना नहीं रह पाता। यह शारीरिक निर्भरता क्यों पनपती है? इसकी कई व्याख्यायें की गई हैं.

एक व्याख्या यह है कि शराब का चयापचय (metabolism) क्रिया पर रासायनिक प्रभाव पड़ता है। चयापचय की क्रिया में शरीर विभिन्न प्रकार के रसायनों का निर्माण करता है जोकि मानव के जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं। दूसरी व्याख्या यह है कि शराब से शरीर में टाक्सीन (toxin) (यह एक प्रकार का जहर है जो बैक्टीरिया द्वारा पैदा होता है) एकत्रित होता है। यह टॉक्सीन शरीर में पीने की इच्छा जाग्रत करता है।[2] तीसरी व्याख्या यह है कि शराबवृत्ति शराब के प्रति बढ़ी चेतना का परिणाम है जोकि लम्बे समय से पीने के कारण उत्पन्न होती है। इसे हम आदत के कारण पीने वाला सिद्धान्त भी कह सकते हैं। चौथी व्याख्या वंशानुक्रमण पर आधारित है। इस व्याख्या के अनुसार शराबवृत्ति भी वंशानुक्रमण से प्राप्त होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए इस सिद्धान्त के समर्थकों ने शराबी परिवारों की कई पीढ़ियों के रिकार्ड प्रस्तुत किये। किन्तु इस व्याख्या को भी हम तब तक पूरी तरह सही नहीं मान सकते जब तक यौन आधार पर अध्ययन उपलब्ध न हो क्योंकि अक्सर ऐसे परिवारों में पुत्र ही शराब पीते हैं, पुत्रियाँ नहीं जबकि वंशानुक्रमण पुत्र और पुत्री दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। पाँचवीं व्याख्या ऐण्डोक्रीन विज्ञान (Endocrinology) द्वारा की गई है। न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय के बेलेव्यू (Bellevue) मेडिकल सेण्टर के शोध निदेशक डा० जेम्स जे० स्मिथ ने 200 शराबियों पर परीक्षण करके ज्ञात किया कि इन लोगों की पीच्यूटरी ग्रन्थि पर्याप्त

1 Bowman and Jellinek, 'Alcoholic Addiction and its Treatments' quarterly *Journal of Studies in Alcoholism* Vol. II (June 1914), pp. 139-40.
2 *Ibid* p. 109.

मात्रा में हारमोन पैदा नहीं कर रही थी। अतः वे तनाव के कारण शराब का सहारा लेते थे। जब उनका हारमोन द्वारा उपचार किया गया तो जो नये-नये पीने वाले थे उनमें बहुत सुधार आया।[1] कुछ लोगों की मान्यता है कि शरीर में विटामिन का अभाव भी व्यक्ति को शराबी बनाता है। इस सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था शराब पीने के परिणामों पर अधिक प्रकाश डालती है, न कि इसकी उत्पत्ति पर।

(2) मनोवैज्ञानिक व्याख्या (Psychological view)—शारीरिक व्याख्या की भाँति मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी कई भागों में विभक्त है

एक व्याख्या यह है कि कुछ व्यक्ति अधिकाधिक बाह्य सामाजिक सम्बन्धों की इच्छा रखते हैं। किन्तु वे वास्तव में इतने सामाजिक नहीं होते हैं। अधिकाधिक सामाजिक सम्बन्ध बनाने के उद्देश्य से ही वे शराब का प्रयोग करते हैं। स्ट्रेकर (Strecker) का मत है कि शराबी ऐसा व्यक्ति है जो बिना शराब पिये वास्तविकताओं का सामना नहीं कर सकता। अधिक शराब पीकर वह हीनता और असुरक्षा से मुँह मोड़ लेता है। इस प्रकार मानसिक रूप से अपरिपक्वता ही शराबवृत्ति के लिए उत्तरदायी है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कमजोर व्यक्तित्व संगठन (weak personality organization) वाले व्यक्ति ही शराब पीते हैं। एडलर के अनुसार शराबवृत्ति न्यूरोटिक प्रवृत्ति के कारण है। न्यूरोटिक व्यक्ति वह है जो चुनौतियों एवं सम्भावित पराजय से बचने के लिए शराब पीता है। शराबी अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों को निभाने के योग्य नहीं होता है। वह अपने में ही अधिक रुचि रखता है तथा बिना काम किये ही अपनी प्रशंसा चाहता है। वह अपने परिवार वालों से सम्बन्ध रखना तो चाहता है किन्तु शराब की आदत उसमें बाधक बन जाती है।[2]

शराबवृत्ति की एक व्याख्या समलैंगिकता (Homo-sexuality) के आधार पर भी की जाती है। इस व्याख्या को सर्वप्रथम अब्राहम[3] ने प्रस्तुत किया। बाद में कई विद्वानों ने इसका समर्थन किया। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में शराबवृत्ति से अधिक है। सिद्धान्त यह मानता है कि व्यक्ति की समलैंगिक दमित इच्छा ही शराबवृत्ति के रूप में प्रकट होती है। जो व्यक्ति अपनी समलैंगिकता की इच्छा को सामाजिक दबाव के कारण मूर्त रूप नहीं दे पाते वे शराबवृत्ति के रूप में अपनी इच्छा को पूरा करते हैं। यही नहीं शराबवृत्ति व्यक्ति की नपुंसकता (impotency) की भावना पर विजय पाने में भी सहायक है। शराब पीने पर व्यक्ति में पौरुष प्रभाव एवं लैंगिक शक्ति आ जाती है। लेकिन शीघ्र ही शराबवृत्ति विषमलैंगिक सम्बन्धों का स्थान ले लेती है और व्यक्ति की यौन क्षमता गिर जाती

1 Woldermar Kaempffert, 'Science in Review' *The Newyork Times* Sec. 4 May 14, 1950, p. 9

2 A Adler, 'The Individual Psychology of the Alcoholic Patient', *Journal of Criminal Psychology*, Vol III (July 1941) pp 74-77.

3 Karl Abraham, 'The Psychological Relations between Sexuality and Alcoholism' *International Journal of Psychoanalysis*, Vol VII, p. 2.

है। रोसानोफ़ (Rosanoff) ने कई शराबियों का अध्ययन करने पर पाया कि वे आत्म-केन्द्रित (egocentric) थे एवं उनमें समलैंगिकता के लक्षण थे।[1] यही कारण है कि अधिकांशतः पुरुष पुरुषों के साथ तथा स्त्रियाँ स्त्रियों के साथ ही शराब पीती हैं। किन्तु इस व्याख्या में विषम लिंगियों के साथ शराब पीने को स्पष्ट नहीं किया गया है।

मेनिन्जर (Menninger) ने शराब-वृत्ति का सम्बन्ध आत्महत्या से जोड़ा है। वे इसे आत्महत्या का प्रतिस्थापन (substitute) मानते हैं। जो लोग आत्म-हत्या करने की इच्छा रखते हैं, वे अपनी त्रुटि के लिए आत्महत्या के स्थान पर शराब पीना प्रारम्भ करते हैं। शराब व्यक्तियों को अपराधी भावना से मुक्ति दिलाती है और उनके विनाश को रोकती है।[2]

शराबवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए छुटकारा पाने या भागने की विधि (escape mechanism) का भी उल्लेख किया जाता है। इस व्याख्या के अनुसार व्यक्ति जीवन की वास्तविकताओं से भागने के लिए शराब का सहारा लेता है। कई बार व्यक्ति को जीवन में विभिन्न प्रकार के कष्टों और निराशाओं का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उनके सामने ये विकल्प रहते हैं कि वह या तो उनके सम्मुख झुक जाय या उनमें युक्तिकरण (rationalization) करने या फिर शराब का सहारा लेकर उनसे बचने का प्रयास करे। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जीवन में असफलताओं को आशा करते हैं, वे भी शराब का सहारा लेते हैं। सेलिजर (Seliger) का मत है कि शराबवृत्ति को निम्न में से किसी भी कारण के साथ जोड़ सकते हैं: जीवन की वास्तविकताओं से भागना, सामाजिक कारणों से पीना प्रारम्भ करके वैकारचीय स्तर की ओर बढ़ना, असामान्य मानसिक स्थिति के कारण अथवा असाध्य शारीरिक कष्टों से मुक्ति पाने हेतु। कुछ व्यक्तियों की मान्यता है कि शराबवृत्ति वे लोग अपनाते हैं जो मानसिक स्तर से अपरिपक्व हैं एवं असुरक्षा महसूस करते हैं। अतः वे अपनी कमजोरी की क्षतिपूर्ति शराब पीकर करते हैं। जब व्यक्ति जीवन-संघर्ष से भागना चाहता है तब भी शराब का सहारा लेता है।[3]

(3) मनो-सांस्कृतिक व्याख्या (Psycho-cultural Theory)—इस सिद्धान्त का विकास हैरिट मावरर[4] ने किया। वे शराबवृत्ति को भागने की विधि (escape mechanism), विभिन्न पारिवारिक सम्बन्ध (different set of family relationships) एवं आर्थिक अस्थिरता से सम्बद्ध करते हैं। शराब पीने की आदत स्त्रियों की तुलना में पुरुषों में अधिक पाई जाती है। इसके सांस्कृतिक कारण हैं।

---

1 A. J. Rosanoff, *Manual of Psychiatry*, pp. 377-80.
2 Karl A. Menninger, *Man Against Himself*, pp. 160-84
3 "The man who anticipates failure resorts to alcohol."
—W. W. Weaver, *op. cit.*, p. 305.
4 Horret. R. Mowrer, *Personality Adjustment and Domestic Discord*, pp. 109-24

पुरुष द्वारा शराब पीने को सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त है जबकि स्त्रियों को नहीं। पुरुष पुरुषों के साथ ही शराब पीते हैं। शराब पीना युवा होने और पौरुषत्व का सूचक माना जाता है।

कुछ लोगों ने अपने अध्ययनों में यह पाया कि शराबी परिवार में अकेली सन्तान या सबसे छोटी सन्तान थी। कई बार ऐसे व्यक्ति भी शराबी पाये गये जिनकी परिवार में कोई प्रतिष्ठित स्थिति नहीं थी या जिनकी स्थिति को परिवार में चुनौती दी गई थी। अतः शराबी व्यक्ति अपने पिता या भाई जो उनके विरोधी थे, के प्रति घृणा की भावना रखते थे। *उनके प्रति प्रेम एवं स्नेह रखने वाली माँ* एवं बहिन के प्रति उनका लगाव था। अतः जब शराबी व्यक्ति की स्थिति को चुनौती दी जाती है तो वह शराब पीकर अपनी सामाजिक स्थिति को उच्च समझने का प्रयास करता है तथा उन भूमिकाओं को ग्रहण करता है जो उसे वास्तविक दुनिया में नहीं मिल पातीं।

शराबियों के प्रकार
(TYPES OF DRINKERS)

विभिन्न व्यक्तियों ने शराबियों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। हेगार्ड एवं जेलीनेक[1] ने तीन प्रकार के शराबी बताये हैं—(1) मर्यादित पीने वाले (2) कम नशेबाज (3) आदतन पीने वाले।

(1) मर्यादित पीने वाले (Moderate Drinkers) कम मात्रा में और विशेष अवसरों पर ही पीते हैं। ऐसे लोग पीकर हंगामा खड़ा नहीं करते। ऐसे व्यक्ति शराब का प्रयोग कम मात्रा में करते हैं। वे शराब का प्रयोग इसके शान्तिदायक प्रभाव (sedative effect) के कारण करते हैं।

(2) कम नशेबाज (Inebriates)—ऐसे व्यक्ति असंयमी होते हैं और इनका व्यवहार नशे से प्रभावित होता है। इनमें भी कई उप-विभाग हैं जैसे मूर्ख नियक्कड़, मानसिक रोग के कारण पीने वाले, व्यसनी आदि।

(3) पुराने नशेबाज (Chronic alcoholics)—ये वे व्यक्ति होते हैं जो लम्बे *समय से शराब का प्रयोग करते रहे हैं और शराब पीना जिनकी आदत बन गई है।* अमेरिका में हजार में से पाँच व्यक्ति इस प्रकार के शराबी हैं। मर्यादित और व्यसन के रूप में पीने वाले ही आगे चलकर नशेबाज बनते हैं।

कुछ लोगों ने शराबियों का वर्गीकरण अनिवार्य रूप से पीने वाले (compulsive), असाधारण पीने वाले (abnormal), मानसिक कारणों से पीने वाले (puychotic) एवं समस्यात्मक शराबी (problem drinkers) के रूप में किया है। केटलीन (Catlin) ने चार प्रकार के शराबियों का उल्लेख किया है :

1 Haggard and Zellinek, *Alcohol Explored*, pp. 8-16.

(1) कष्टों के कारण पीने वाले (Misery Drinker)—इस श्रेणी के व्यक्ति किसी कष्ट या दुःख के कारण शराब पीते हैं। इनमें सहन-शक्ति कम होती है और भागने की मनोवृत्ति पायी जाती है।

(2) औद्योगिक शराबी (*Industrial Drinkers*)—ऐसे व्यक्ति किसी-न-किसी व्यवसाय में लगे होते हैं। वे थकान, ऊब एवं कुपोषण के कारण शराब पीकर राहत महसूस करते हैं। कई श्रमिक शारीरिक क्षमता में वृद्धि के लिए शराब का प्रयोग करते हैं। औद्योगिक शराबी हल्की किस्म की शराब का ही प्रयोग करते हैं।

(3) व्यापारिक शराबी (*Commercial or Sales Drinkers*)—व्यापारी, विक्रेता एवं खरीददार सौदा तय होने पर शराब पीते हैं। शराब पीने के बाद क्रेता विक्रेता में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव पैदा हो जाता है। वे एक-दूसरे की दुविधा और सुविधा को देखकर सौदा तय कर लेते हैं। अमेरिका में कई लोग जो शराब पीते हैं वे या तो वर्तमान में विक्रेता (salesmen) हैं या भूतकाल में रह चुके हैं।

(4) सामाजिक शराबी (Social Drinkers)—ऐसे शराबी सभी श्रेणियों के हो सकते हैं, फिर भी अधिकतर सम्पन्न व्यक्ति ही इस श्रेणी में आते हैं। ये लोग विभिन्न शराबों का मिश्रण पीते हैं। इनके पीने का उद्देश्य परस्पर प्रेम बढ़ाना और संघर्ष की स्थितियों को टालना है।

शराबवृत्ति के दुष्प्रभाव
(EVIL EFFECTS OF ALCOHOLISM)

ऐसे कम ही व्यक्ति हैं जो शराब को राष्ट्रीय सम्पत्ति मानते हैं। शराब ने ने जहाँ मानव को तथाकथित शान्ति प्रदान की है, मित्रता के अवसर बढ़ाये हैं, रोगों का उपचार किया है, लोगों में जोश पैदा किया है, वहीं दूसरी ओर इसने सामाजिक, आर्थिक एवं शारीरिक बुराइयों को जन्म भी दिया है। हम यहाँ शराब के मानव शरीर, परिवार, समाज, आर्थिक दशा आदि पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख करेंगे :

(1) शारीरिक प्रभाव (*Physical Effects*)—लम्बे समय तक अधिक मात्रा में शराब पीने पर घाव बनने, जिगर सम्बन्धी बीमारी, नाड़ियों से सम्बन्धित खराबी, गठिया (gout), पेलेग्रा (pellagra) नामक त्वचा रोग, बेहोशी (delirium) आदि बीमारियाँ लगती हैं।[1]

शराब के एक दौर में मस्तिष्क के लगभग दस हजार तन्तु निर्जीव हो जाते हैं। अधिक नशा में तन्तुओं के नष्ट होने से चक्कर आने लगते हैं।[2] शराबी व्यक्ति की रोगों के कीटाणुओं से मुकाबला करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। उसकी

---

1 Norman Jolliffe, *Alcohol and Nutrition: The Disease of Chronic Alcoholism*. Lecture 6 in Alcohol Science and Society, pp. 73-82.

2 समाज कल्याण, *op. cit.*, p. 27.

जीवन आशा (life expectancy) कम हो जाती है। शराब व्यक्ति मे बेहोशी लाती है जिससे नाड़ी संस्थान पर बुरा असर पड़ता है तथा मस्तिष्क का शरीर के विभिन्न अंगों पर नियन्त्रण शिथिल हो जाता है। इससे नींद लाने वाले एवं श्वास-क्रिया वाले अंग प्रभावित होते हैं। जो व्यक्ति यह कहते हैं कि शराब उत्तेजना प्रदान करता है, वे अलकोहल के शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। अलकोहल नाड़ी संस्थान को प्रभावित कर निराशा से क्षणिक मुक्ति तो दिलाता है लेकिन लम्बे समय में जाकर शरीर की वे ही स्थितियाँ पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। अधिक शराब पीने वालों का शरीर दुर्बल हो जाता है और वे शीघ्र ही मौत के मुंह में चले जाते हैं। रेमंड पियर्ल ने अपने अध्ययन में यह पाया कि अधिक शराब पीने वालों में मृत्यु दर भी अधिक थी। बाजार में सस्ती शराब उपलब्ध कराने की दृष्टि से इसमें थिनर, रोगन, स्प्रिट आदि की मिलावट की जाती है। परिणामस्वरूप कई लोगों की मृत्यु हो जाती है। आये दिन मिलावटी शराब से मरने वालों की खबरें पत्र-पत्रिकाओं में छपती ही रहती हैं।

(2) शराब के जन्मजात एवं जननिक प्रभाव (Congenital and Genetic effect of Alcohol)—शराब के प्रजनन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अध्ययन किया गया है। एक धारणा यह है कि शराब न पीने वालों की तुलना में पीने वालों के सन्तानें अधिक होती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें उत्पादन क्षमता अधिक होती है वरन् इसका अर्थ है कि उनमें गर्भधारण को रोकने की क्षमता कम है।

किन्तु दूसरी ओर यह भी देखा गया है कि जो स्त्रियाँ अधिक शराब पीती हैं, उनमें गर्भपात अधिक हुए हैं और उनमें बच्चों की मृत्यु-दर भी अधिक पायी गई उनके बच्चे मानसिक रूप से रुग्ण और मृगी की बीमारी से पीड़ित थे। इससे स्पष्ट है कि अधिक पीने का जननिक प्रभाव बुरा होता है।

एक प्राचीन धारणा यह है कि शराब का अधिक मात्रा में निरन्तर प्रयोग जर्म प्लाज्म (germ plasm) को प्रभावित करता है जिसमें बांझपन पनपता है एवं कुरूप सन्तानें पैदा होती हैं। यही नहीं बल्कि शराबियों की सन्तानों की जीवन अवधि भी कम होती है। इस उप-कल्पना की वैज्ञानिक जाँच करने के लिए अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में सी० आर० स्टोकार्ड तथा कुमारी एफ० एम० डरहेम ने इंगलैंड में नेशनल इन्स्टीट्यूट फॉर मेडिकल रिसर्च (National Institute for Medical Research) में जानवरों, चूहों, मछलियों एवं मेंढकों के शुक्राणुओं पर कई परीक्षण किये जिनसे ज्ञात हुआ कि अंडे देने वाले प्राणियों में अंडे देने की प्रकृति पर अलकोहल का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। चूहों की कई पीढ़ियों को शराब पिलाई गयी और उनकी तुलना उन चूहों से की गई जिन्हें शराब नहीं दी गई तो ज्ञात हुआ कि उन दोनों की प्रजनन क्षमता में कोई अन्तर नहीं था।

इन परीक्षणों से स्पष्ट है कि अलकोहल का कम प्रजनन, मरे हुए बच्चे पैदा होने, कुरूप सन्तानें होने और जर्मप्लाज्म की क्षति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस सन्दर्भ में येल विश्वविद्यालय के परीक्षणों पर आधारित निम्नांकित निष्कर्ष उल्लेखनीय हैं :

(1) अलकोहल के प्रयोग से मानव जीवाणुओं (human germs) को न तो कोई हानि होती है और न इससे कोई असामान्यता ही पैदा होती है। (2) अधिक पीने वाले अधिकांशतः दरिद्र वंशानुक्रमण वाले परिवारों के व्यक्ति होते हैं। (3) शराबियों में पाई जाने वाली कमियाँ उन्हें वंशानुक्रमण में नहीं मिलतीं और न ही ये अलकोहल के प्रयोग के कारण हैं वरन् ये कमियाँ अलकोहल पीने के लिए उत्तरदायी हो सकती हैं। (4) शराबियों में अधिक मृत्यु-दर का कारण शराब से जीवाणुओं का नष्ट होना नहीं है वरन् उनका निम्न जीवन स्तर और घर में लापरवाही बरतना है।[1]

(3) शराब और मानसिक बीमारी (Alochol and Mental Disease)—शराब मानसिक रोग उत्पन्न करने में क्या भूमिका निभाता है ? इस बारे में कुछ कहना बड़ा कठिन है। अनुभव एवं सामान्य ज्ञान के आधार पर यह देखा गया है कि शराब पीने वाले लोग मानसिक रूप से पीड़ित होते हैं। शराब पीना छोड़ देने पर ऐसे लोग पुनः स्वस्थ हो जाते हैं। मनोचिकित्सकों ने शराब से उत्पन्न चार प्रकार की बीमारियों का उल्लेख किया है :

(i) वैकारिकीय बेहोशी (Pathological Intoxication)—इस रोग से ग्रसित व्यक्तियों में क्रोध, चिन्ता, भ्रम तथा उत्तेजना पायी जाती है।

(ii) अचेतनता (Delirium Tremens)—यह अवस्था लम्बे समय तक शराब पीने एवं कुपोषण के कारण पैदा होती है। इसका एक कारण विटामिन बी कॉम्प्लेक्स की कमी भी है। इस रोग का रोगी कांपता रहता है, उसमें भ्रम की स्थिति बनी रहती है और उसे साँप आदि जानवर दिखने का डर रहता है। ऐसे व्यक्तियों का शरीर दुर्बल हो जाने से निमोनिया होने के अवसर बने रहते हैं।

(iii) कोर्साकोफ साइकोसिस (Korsakoffs Psychosis)—यह रोग भी उपरोक्त रोग की तरह ही है किन्तु यह पहले की अपेक्षा लम्बे समय तक चलने वाली बीमारी है। इसमें व्यक्ति की बौद्धिक हानि होती है।

(iv) धोखा या भ्रम (Acute Hallucination)—इस रोग के व्यक्ति को भय एवं भ्रम महसूस होता है।

इसके अतिरिक्त शराब पीने से व्यक्ति में मानसिक दक्षता की कमी हो जाती है, मस्तिष्क कमजोर हो जाता है और स्नायु-तन्तु नष्ट हो जाते हैं। इससे मनुष्य की भावात्मकता एवं बौद्धिक शक्ति क्षीण हो जाती है। वह गन्दी एवं उत्तेजक भाषा का प्रयोग करता है तथा अत्यधिक क्रोधी हो जाता है।

---

1 Alcohol, Heredity and Germ Damage, Lay Supplement No. 15, quarterly, *Journal of Studies on Alcohol*, p. 16.

(4) शराब एवं दुर्व्यवहार (Alcohol and Misconduct)—शराब का सम्बन्ध अपराध, वेश्यावृत्ति, जुआखोरी, चोरी आदि गैरकानूनी व्यवहारों से भी जोड़ा जाता है। अमेरिका की नशाबन्दी और नशे की छूट के दिनों में होने वाले अपराधों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि नशे की छूट के समय अधिक अपराध हुए। एल्स्टर (Elster) ने कई जर्मन वैज्ञानिक प्रकाशनों का सन्दर्भ देते हुए बताया कि शराब पीने पर व्यक्ति में अपराध करने की इच्छा उत्पन्न होती है। एक डच अनुसन्धानकर्ता वान्डर वूर्डे (Vander Woorde) ने भी अपने अध्ययन में यह पाया कि विभिन्न प्रकार के अपराध शराब पीकर ही किये गये। बक मास्टर रिपोर्ट (Buck Master Report) में बताया गया कि 40% अपराध प्रत्यक्ष रूप से शराबखोरी के कारण ही हुए। आक्रमण, हत्या आदि के कार्य भी शराब पीकर अधिक किये गये। कई बार शराब व्यक्ति की आक्रमण करने की इच्छा को मुक्ति प्रदान करता है और अपराधी अपने इरादे को पूरा करने के लिए शराब का सहारा लेता है। पुलिस, न्यायाधीश, प्रोबेशन एवं पैरोल अधिकारियों एवं जेल प्रशासकों की मान्यता है कि शराब के कारण कानून को लागू करने की समस्या पैदा होती है। यह बाल अपराध, यौन अपराध, हत्या, वेश्यावृत्ति आदि के लिए भी उत्तरदायी है। इस प्रकार शराब सामाजिक संगठन के लिए एवं व्यवहार प्रतिमानों को लागू करने में कठिनाई पैदा करती है।

(5) शराब और दुर्घटना (Alcohol and Accident)—कई लोगों का विश्वास है कि शराब दुर्घटना के लिए उत्तरदायी है। प्रमुखतः औद्योगिक एवं यातायात सम्बन्धी दुर्घटनाओं के लिए शराब को उत्तरदायी ठहराया जाता है। बीमा अधिकारियों एवं पुलिस की रिपोर्ट भी इस तथ्य के पक्ष में है। अमेरिका में सप्ताह के अन्त में अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक दुर्घटनाएँ इसलिए होती हैं कि सप्ताह की छुट्टी मनाने के लिए सभी व्यक्ति अपनी कारें लेकर चल पड़ते हैं और शराब पीकर ही वे कार चलाते हैं। दुर्घटना के लिए सम्बा रास्ता, तेज गति, भ्रम, इंजन की खराबी, अदक्ष चालक, सड़क की खराबी, अस्पष्ट संकेत आदि भी उत्तरदायी हैं। शराब पीने पर दिन की अपेक्षा रात्रि में दुर्घटनाएँ अधिक होती हैं। सन् 1947 में अमेरिका में जितनी दुर्घटनाएँ हुईं, उनमें से 47% दुर्घटनाओं में चालक शराब पिये हुए थे।[1] यही कारण है कि यातायात नियमों में शराब पीकर गाड़ी चलाना अपराध माना गया है।

एच० एम० वरसॉन ने अपने दो लेखों (The Alcohol Problem, 1928 तथा Accidents and Their Prevention, 1939) में फैक्ट्रियों में होने वाली दुर्घटनाओं के लिए शराब को भी एक प्रमुख कारण माना है। शराब पीने से नींद एवं बेहोशी आती है, व्यक्ति लापरवाह हो जाता है और दुर्घटना घटित हो जाती है।

---

1 *Accident Facts*, 1974 ed. (Chicago : The National Safety Council), p. 54.

(6) शराब और कार्यक्षमता (Alcohol and Efficiency)—शराब औद्योगिक क्षमता, उत्पादन, अनुपस्थिति, दुर्घटना आदि को प्रभावित करती है। अतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से ही शराब पीने पर रोक लगाने के लिए कानून बनाये गये। फरवरी 1916 में लॉयड जार्ज ने अपने एक भाषण में कहा कि युद्ध में हमें जर्मन पनडुब्बियों से भी अधिक हानि शराब पहुँचा रही है।[1] सन् 1931 में इंग्लैण्ड में शराब के सामाजिक-आर्थिक पक्ष पर एक प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ जिसमें शराब के औद्योगिक क्षमता पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख किया गया। कार्य करते समय एकाग्रता, चतुरता, शीघ्र निर्णय लेने और उसे लागू करने की आवश्यकता होती है जो कि शराब पीने वाले व्यक्ति से अपेक्षित नहीं होती। फील्डमेन (Feldman) के अमेरिका के 175 व्यक्तियों के अध्ययन में 101 व्यक्तियों ने यह स्वीकार किया कि शराबबन्दी के बाद उत्पादन-क्षमता बढ़ी है। एलस्टर (Elster) ने जर्मनी के बारे में यह निष्कर्ष दिया कि शराब से कार्यक्षमता घटती है। जब केवल शारीरिक श्रम ही करना होता है तो शराब से कम हानि होती है किन्तु जब कार्य में एकाग्रचितता, सोचने-विचारने, निर्णय लेने एवं नियन्त्रण की आवश्यकता हो तो शराब से अधिक हानि होती है। शराब की मात्रा एवं पीने के समय का भी कार्यक्षमता से सम्बन्ध है। अधिक पीने पर कार्यक्षमता कम प्रभावित होती है। सप्ताह के प्रारम्भ में अन्त में या पूरे सप्ताह समान मात्रा में पीने पर कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव कम पड़ता है। शराब अनुपस्थित रहने को भी बढ़ावा देती है क्योंकि शराब पीने के बाद काम से भागने की इच्छा होती है।

(7) शराब और वैयक्तिक विघटन (Drink and Personal Disorganization)—शराब वैयक्तिक विघटन का संकेत और कारण दोनों है।[2] यह संकेत इस रूप में है कि अधिकांश शराबी बीमार और मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्ति हैं। जब उन्होंने पहली बार पीना प्रारम्भ किया था, उसी समय से उनकी समस्या प्रारम्भ हो गई थी। यह कारण इस अर्थ में है कि यदि शराब न पी जाती तो व्यक्ति शराबी नहीं बनता। अधिक पीने वाले अपनी सम्पत्ति शराब में नष्ट कर देते हैं और मित्रों एवं अपरिचितों से झगड़ा कर बैठते हैं, उनका व्यवसाय खतरे में पड़ जाता है, वे अपने बच्चों का ध्यान नहीं रख पाते वे पत्नी को पीटते हैं और परस्त्री-गमन करते हैं। ऐसे व्यक्ति सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए पीना आवश्यक मानते हैं। एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि जब अधिकांश शराबी शराब से, शराब की आदत से, स्वाद व इसके परिणामों एवं स्वयं से भी घृणा करने लगते हैं,

---

1 "Drink is doing more damage in the war than all the German submarines put together." —H Cecil Heath, *The Drink Problem in War-time*, p. 53.

2 "Drink is thus both symptom and a cause of personal disorganization." —Elliot and Merrill, *op. cit.*, p. 186.

फिर भी वे शराब को छोड़ नहीं सकते ।[1] वे शारीरिक और मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्ति होते हैं जो सामाजिक अनुकूलन करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे व्यक्ति बचपन से ही सामाजिक प्रतिमानों की अवहेलना करते हैं। वे शर्मीले, साथियों से प्रतिस्पर्धा करने में अक्षम तथा माता-पिता से अधिक लगाव रखने वाले होते हैं। प्राथमिक समूह के सहयोग के अभाव में उनके व्यक्तित्व को ठेस लगती है। कई शराबी प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ होते हैं। डा० पियरे जैनेट ने अपने अध्ययन में शराबियों में कई अपूर्णताएँ पायीं जैसे डर, स्वप्नलोक में विचरण करना और उदासीनता आदि ।[2] शराबी व्यक्ति सामाजिक स्थितियों के साथ सन्तुलन बैठाने के लिए पीते हैं किन्तु ऐसा करना बड़ा खतरनाक है।

(8) शराब और गरीबी (Alcohol and Poverty)—शराब पीने पर बीमारी, अभाव, गरीबी एवं बेकारी पनपती है। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने मजदूरों में अधिक पीने की आदत की कटु आलोचना की थी। कई बार शराबी अपनी आय का आधा भाग शराब पीने में खर्च कर देता है और उसकी आय में बच्चों तथा पत्नी का कोई हिस्सा नहीं होता। इस्माइल ने मद्यपान को जंगली व्यक्तियों की निशानी बताया है क्योंकि जंगली व्यक्ति तब तक खाते पीते रहते हैं जब तक सभी समाप्त न हो जायें। तत्पश्चात वे शिकार या युद्ध के लिए जाते हैं। यह दासता का सूचक भी है क्योंकि लोगों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे बचत करें। दासों को व्यक्तिगत रूप से कमाने का भी अधिकार नहीं था ।[3] लेडी बेल (Lady Bell) ने इंगलैंड के अध्ययन में यह पाया कि शराब के कारण परिवार नष्ट हो रहे थे और व्यक्ति अपनी आय का आधा भाग शराब पर खर्च कर रहे थे। साधारणतः एक अंग्रेज परिवार शराब पर जितना खर्च करता है उतने में एक डच परिवार का भरण-पोषण हो जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बाउले (Bouley) कार सैण्डर्स (Carr Sanders), राउन्ट्री (Rowntree), चार्ल्स बूथ आदि ने अपने अध्ययनों में पाया कि गरीबी के लिए शराब पीने की आदत भी उत्तरदायी थी। जिन परिवारों में शराब अधिक पी जाती थी वे परिवार गरीबी और भरण पोषण वाली (poverty and subsistance) अर्थव्यवस्था की स्थिति में ही थे। यहाँ तक कि धनी परिवार भी अधिक पीने पर गरीब हो जाते हैं। शराबी व्यक्ति निरन्तर कार्यरत नहीं रह सकता। अतः उसकी आय घटने लगती है और गरीबी बढ़ने लगती है। लम्बे समय का औद्योगिक अनुभव यह बताता है कि शराबी काम से अधिक अनुपस्थित रहते हैं और उन्हें गम्भीर दायित्व वाला काम सौंपना खतरा मोल लेना है। शराबवृत्ति के कारण कई उद्योगों में स्वास्थ्य की समस्या भी उठ खड़ी हुई है। जो व्यक्ति शराब

1 "Most alcoholics hate liquor, hate drinkings, hate the taste, hate the results, hate themselves for succumbing, but they can-not stop"
—Bacon, *Alcoholism, Nature of the Problems*, p. 3

2 Pierre Janet, *Psychological Healing*, p. 1084.

3 H. Levy, *Drink, An Economic Social Study*, pp. 29-30.

नहीं छोड़ पाते, उनके परिवारों को गम्भीर आर्थिक कठिनाइयों का भी सामना पड़ता है।

(9) शराब और बेकारी (Alcohol and Unemployment)—शराबवृत्ति बेकारी से दो रूपों में सम्बन्धित है—(1) शराबवृत्ति बेकारी को बढ़ावा देती है। (2) बेकारी की स्थिति शराब पीने की आदत को बढ़ावा देती है।

प्रथम स्थिति में शराबवृत्ति बेकारी को बढ़ावा तब देती है जब व्यक्ति अधिक पीने लगता है और उसकी कार्यक्षमता घट जाती है तथा वह अनुपस्थित रहने लगता है। ऐसी स्थिति में उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। वह अपनी जमा पूँजी को शराब में उड़ा देता है और उसके पास खर्च करने को कुछ शेष नहीं बचता। शराब की आदत के कारण उसे कोई भी जिम्मेदारी का काम सौंपना नहीं चाहता। प्रत्येक व्यक्ति उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। कार्याभाव में उसे बेकारी के दिन व्यतीत करने पड़ते हैं। वह निराशा और आय के उपयुक्त साधनों के अभाव में चोरी भी करने लगता है और अपराधी भी बन जाता है।

दूसरी अवस्था में जब व्यक्ति बेकार होता है तो भी वह शराब पीने लगता है। अध्ययन एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने या व्यक्ति के श्रम करके कमाने की इच्छा के बाद भी जब उसे कोई काम नहीं मिलता है तो वह निराश हो जाता है। इस निराशा से मुक्ति पाने के लिए वह शराब का सहारा लेता है। अतः स्पष्ट है कि बेकारी शराबवृत्ति को जन्म देती है और शराब वृत्ति भी व्यक्ति को बेकार बनाने के लिए उत्तरदायी है।

(10) शराब और पारिवारिक विघटन (Drink and Family Disorganization)—शराब पारिवारिक विघटन का भी एक महत्वपूर्ण कारक है। एक शराबी व्यक्ति कभी-कभी ही एक अच्छा पारिवारिक व्यक्ति होता है। उसका पत्नी एवं बच्चों के प्रति कोई स्नेह नहीं होता है।[1] शराबी व्यक्ति शराब-घर में अपना धन, समय, शक्ति इतना खर्च करता है कि परिवार के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। कई व्यक्ति जो युवा अवस्था की दहलीज में पाँव रखते ही बहुत अधिक पीने लगते हैं वे या तो शादी नहीं करते या वे विवाह के अयोग्य होते हैं। उनके स्वार्थी, आक्रामक एवं समाज विरोधी होने से भी लोग उन्हें पसन्द नहीं करते। लेकिन शराबी के व्यक्तित्व में कई ऐसे लक्षणों को सम्मिलित करते हैं, जिनके कारण वे विवाह के अयोग्य होते हैं, जैसे स्वप्न लेना, अपरिपक्वता, विषम-लिंगियों से डरना, आक्रामक एवं असामाजिक होना, घनिष्ट मित्रों का न होना, एकाकी, असम्भव आदर्शवादिता, अन्तर्मुखी, संसार से भागना एवं मानसिक रूप से बदलने की प्रवृत्ति होना

1 "The Alcoholic is seldom a good family man and a pathological carving for drink leaves litte affection for a wife and children."

—Elliot and Merrill, *op. cit.*, p 196

आदि।[1] इलियट एवं मेरिल कहते हैं कि "शराबी व्यक्ति के लिए बोतल पत्नी का स्थान ले लेती है।"[2]

अधिक पीने वाला व्यक्ति पति या पत्नी के रूप में अपने सामाजिक दायित्वों की पूर्ति सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। पति-पत्नी एक-दूसरे के लिए बहुत कुछ होते हैं, वे मित्र एवं साथी से लेकर गृहस्थी तक की जिम्मेदारी को सम्भालते हैं। शराबी व्यक्ति अपनी सामाजिक भूमिकाओं को उस रूप में निभा नहीं पाता जिस रूप में समाज उससे आशा करता है। शराब परिवार में झगड़ों एवं तनावों को पैदा करने वाला कारक है। शराब पीने पर व्यक्ति को होश नहीं रहता और उसके अन्य व्यक्तियों से शारीरिक सम्बन्ध होने की सम्भावना रहती है। होश आने पर बेहोशी में की गयी त्रुटियों के कारण मित्रों एवं पत्नी से संघर्ष के अवसर रहते हैं।

कई माताओं को जब उनके बच्चे समाज में शराबी के नाम से जाने जाते हैं तो हीन भावना महसूस होती है। पिता के शराबी होने पर कभी-कभी बच्चों एवं पत्नी को भीख माँगनी पड़ती है। बच्चे भगोड़े और आवारा हो जाते हैं। शराब पति-पत्नी में तलाक एवं झगड़े की जड़ है।[3] निम्न आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति वाले लोगों को जो कानून का ज्ञान नहीं रखते तथा तलाक के बारे में नहीं जानते, शराब के कारण कई कष्ट उठाने पड़ते हैं। परिवार पारम्परिक दृढ़ता तो बनाये रखता है किन्तु उसका नैतिक सामंजस्य टूट जाता है।

(11) शराब एक सामाजिक समस्या (Alcohol as a Social Problem)—आदिम और छोटे समाजों में शराब सामूहिक उत्सवों तथा त्योहारों आदि के समय पी जाती है। फसल काटने, बसन्त के आगमन एवं विशिष्ट अवसरों पर शराब पीने का कार्य सामूहिक रूप से किया जाता है। इस रूप में शराब एक समस्या नहीं है। किन्तु जब शराब पीने पर व्यक्ति अपने को अपने मित्रों, परिवार के सदस्यों एवं समाज से पृथक् पाता है और असुरक्षित महसूस करने लगता है तो ऐसी दशा सामाजिक विघटन का सूचक है। अधिक पीने वालों के प्राथमिक सम्बन्ध टूट जाते हैं।

जटिल समाजों में जहाँ तनाव, चिन्ता और आक्रामक स्थितियों की अधिकता होती है वहाँ व्यक्ति इनसे मुक्त होने के लिए शराब का सहारा लेता है। जटिल समाजों में शराबवृत्ति पर रोक लगाना भी सरल कार्य नहीं है क्योंकि यह कई संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र से सम्बन्धित होती है। जटिल समाजों में अधिक शराब पीने पर सम्बन्ध टूटते हैं। वहाँ द्वैतीयक सम्बन्धों की अधिकता होती है तथा शराब पीने पर प्राथमिक

1 "Dreamers, immature, frightened of the opposite sex, aggressive, asocial, without close friends suspicious, impossible idealistic, generally introverted, escapist, emotionally childish." —Seldon D Bacon, *Excessive Drinking and the Institution of Family*, Lecture 16 in Alcohol, Science and Society, p 28.

2 "The bottle is often the substitute for a wife." —Elliot and Merrill *op cit*, p. 197.

3 "Alcohol is often the bone of contention, the rock upon which the matrimonial bark founders." —Elliot and Merriel, *Ibid*, p. 198.

सम्बन्ध और भी कम हो जाते हैं। सेल्डन[1] का मत है कि हमारे समाज की जटिलता व्यक्ति में शराबवृत्ति को बढ़ाती है, शराब पीने के खतरे को बढ़ाती है, और नियन्त्रण की संस्थाओं की शक्ति छीन लेती है।

सामाजिक विघटन अनेक रूपों में प्रकट हो सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण रूप वह है जिसमें प्राथमिक समूहों का महत्त्व घटता और द्वैतीयक समूहों का बढ़ता है। यह बात परिवार के बदलते प्रकार्यों में देखी जा सकती है। धर्म में लौकिकीकरण बढ़ता है, आर्थिक जटिलता बढ़ती है तथा मनोरंजन का व्यापारीकरण होता है। इस प्रकार के परिवर्तन व्यक्ति के परिवार, पड़ौस तथा मित्र समूहों के घनिष्ट सम्बन्धों में पृथक्करण पैदा करते हैं। जो व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से पृथक होते हैं वे क्षतिपूर्ति के रूप में शराब का सहारा लेते हैं। शराब के सहारे ही व्यक्ति अपने को अस्थायी तौर पर मानसिक सन्तोष प्रदान करते हैं।

सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों जैसे होटलों एवं रेस्तरां में शराब के साथ नृत्य एवं जुआ तथा वेश्यावृत्ति भी चलती है। ये सभी सामाजिक विघटन को पैदा करते हैं। यहां स्त्रियों, जुआरियों और शराबियों की नैतिकता नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप समुदाय और समाज के नैतिक प्रतिमान टूटने लगते हैं। ये सब लोग इनकी अवहेलना करते हैं जिससे आगे चलकर पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है। शराब की इन बुराइयों के कारण ही महात्मा गांधी ने कहा था "मैं भारत का गरीब होना पसन्द करूँगा, लेकिन मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि हमारे हजारों लोग शराबी हों। अगर भारत में नशाबन्दी लागू करने के लिए शिक्षा भी बन्द करनी पड़े तो कोई परवाह नहीं।"[2] वर्तमान में 20 प्रतिशत से भी अधिक छात्र-छात्राएँ धूम्रपान के साथ शराब पीने लगे हैं।[3]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शराब एक सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक एवं मानसिक बुराई है। शराब के कारण खून होते हैं, घर बिकते हैं, लोग दिवालिये होते हैं, बदमाश बनते हैं, बच्चे कत्ल होते हैं, सुहाग उजड़ते हैं, अबोध बच्चे बिगड़ते हैं, मानवता नष्ट होती है, स्त्री-जाति अपमानित होती है, कई दिल टूटते हैं और आत्महत्यायें होती हैं। प्रत्येक अंगूर की बेल में शैतान निवास करता है। शराब दुख एवं दरिद्रता को बढ़ावा देती है। यही कारण है कि प्राचीन समय से ही डाक्टरों, समाज-सुधारकों एवं आध्यात्मिक नेताओं ने शराब न पीने की बात कही है।

नशाबन्दी के लाभ

शराब की बुराइयों के कारण ही शराब पीने की आलोचना की जाती रही

---

1 Seldon D. Bacon, 'Alcohol and Complex Society' Lecture 14, in *Alcohol Science and Society*, p. 195.

2 समाज कल्याण, जून-जुलाई 1976, पृष्ठ 57.

3 *Ibid.*, p. 57.

है। यदि नशाबन्दी होती है तो उससे व्यक्ति एवं समाज को अनेक लाभ होंगे। हम यहाँ नशाबन्दी के कुछ लाभों का उल्लेख करेंगे :

(1) शराब पीकर किये जाने वाले अपराधों की संख्या घटेगी और यातायात सम्बन्धी दुर्घटनाएँ कम होंगी।

(2) श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। शराब पर खर्च किया जाने वाला पैसा उनके जीवन-स्तर को उच्च उठाने पर खर्च किया जायेगा और परिवार की आवश्यकता की पूर्ति समुचित ढंग से हो सकेगी।

(3) पैसे की बचत होने पर मजदूरों की क्रय शक्ति बढ़ेगी जिससे औद्योगिक माल की भी अधिक खपत होगी।

(4) शराबी अपने व परिवार के सदस्यों के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ जुटा सकेंगे तथा बच्चों की शिक्षा-दीक्षा अधिक सरलता से हो पायेगी।

(5) *शराब छोड़ने से एक ओर ऐसे परिवार का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा* तो दूसरी ओर बच्चों एवं स्त्री का समाज में स्थान ऊँचा होगा और उनके प्रति लोगों के हीन दृष्टिकोण में परिवर्तन आयेगा।

(6) *शराबी शराब छोड़ने पर अपने निवास की उचित व्यवस्था कर* सकेंगे क्योंकि जो पैसा शराब पर खर्च होता था वही अब निवास की सुविधाओं पर खर्च होगा।

(7) शराबबन्दी होने पर शराबी अपना कर्ज चुका सकेंगे और कृषि की उन्नति के लिए पैसा खर्च कर सकेंगे जिससे उत्पादन बढ़ेगा।

(8) नशाबन्दी के कारण पीने वालों का स्वास्थ्य सुधरेगा और शराब से उत्पन्न होने वाले विभिन्न रोगों की संख्या घटेगी। अतः सरकार द्वारा ऐसे रोगियों पर किये जाने वाले चिकित्सा-व्यय में कमी आयेगी और इस धन का उपयोग अन्य निर्माण के कार्यों में हो सकेगा।

नशाबन्दी के विपक्ष में तर्क
(LOGIC AGAINST PROHIBITION)

जो व्यक्ति नशाबन्दी के पक्ष में नहीं हैं वे नशाबन्दी के आर्थिक परिणामों के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हैं। नशाबन्दी न करने के लिए निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं :

(1) नशाबन्दी कर देने से देश को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है और जो धनराशि आबकारी-कर के रूप में प्राप्त की जाती है, वह प्राप्त नहीं होगी। प्रतिवर्ष देश को लगभग 400 करोड़ रुपयों की आय शराब से प्राप्त होती है।[1] सरकार की इतनी बड़ी धनराशि की हानि कहाँ से पूरी होगी।

---

[1] *समाज-कल्याण, मद्यपान की समस्या : हल की तलाश, राममोहन पाठक मार्च* 1976, p. 27.

(2) यदि शराबबन्दी कर दी गयी तो लोग चोरी-छिपे शराब बनाने का कार्य करेंगे जिन्हें रोकने के लिए बडी संख्या में पुलिस, विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति करनी होगी, उनके लिए वेतन एवं अन्य खर्च उठाने होंगे। इस प्रकार एक ओर शराबबन्दी से आय घटेगी तो दूसरी ओर खर्च भी बढ़ेगा। इससे आर्थिक प्रगति को धक्का लगेगा। हमें राष्ट्र की प्रगति के लिए इस समय धन की बहुत आवश्यकता है।

(3) शराब पीने वालों का एक तर्क यह है कि शराब जब तक थोड़ी मात्रा में पी जाती है तब तक इसकी मनाई नहीं होनी चाहिए। किन्तु इस सन्दर्भ में एक चीनी कहावत उपयुक्त प्रतीत होती है, "शराब पीना प्रारम्भ करते समय आदमी शराब पीता है, उसके बाद शराब शराब को पीती है और अन्त मे शराब व्यक्ति को पी जाती है।"[1]

(4) कुछ लोगों का मत है कि नशा निषेध कानून जब अमेरिका, फिनलैंड, आइसलैंड आदि देशों मे भी लागू किया गया तो वहाँ सफल नहीं हुआ और अन्ततः उन्हें इसे समाप्त करना पड़ा। किन्तु यह तर्क भी उचित नहीं है क्योंकि उन देशों और भारत की परिस्थितियों मे बहुत अन्तर है। हमारे यहाँ उन देशों की तरह शराब नहीं पी जाती और वहाँ शराब बेचना एक सगठित व्यवसाय है। अतः हमारे यहाँ इतनी कठिनाई नहीं होगी।

(5) कुछ लोगों का मत है कि राज्य को क्या अधिकार है कि वह हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधा डाले। किन्तु यह तर्क भी सही नहीं है क्योंकि शराब से व्यक्ति को नहीं वरन् राज्य को भी हानि होती है। शराब पीकर व्यक्ति अपराध करते हैं एवं दुर्घटनाएँ घटित होती हैं। अत. राज्य का कर्तव्य है कि वह इस पर रोक लगाये।

(6) एक तर्क यह दिया जाता है कि आदतन शराबी की शराब छुडाई नही जा सकती। अतः नशाबन्दी लागू करने पर वह चोरी-छिपे शराब बना कर पीयेगा। इस प्रकार स्वयं राज्य ही अपराध को बढ़ावा देगा। किन्तु यह तर्क भी उचित नहीं प्रतीत होता। शराब धीरे-धीरे छुडाई भी जा सकती है तथा रोक लगाने से हम आने वाली पीढ़ी को शराबी होने से बचा सकेंगे।

(7) एक तर्क यह दिया जाता है वर्तमान में जो लोग शराब बनाने मे लगे हुए हैं, वे नशाबन्दी लागू करने पर बेकार हो जायेंगे। किन्तु इस तर्क के विपरीत यह कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों को अन्य व्यवसायों मे लगाया जा सकेगा और सरकार ऐसे लोगों को विशेष सहायता एवं प्रशिक्षण देकर कुटीर व्यवसायों में लगा सकेगी।

1 "To begin with, the man takes the drink, then the drink takes the drink and finally the drink takes the man."

शराबबन्दी के विपक्ष में दिये गये उपरोक्त तर्क उचित प्रतीत नहीं होते। शराब एक बुराई है और इसे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह कोई उचित बात नहीं है कि एक तरफ शराब से आय प्राप्त की जाय और दूसरी तरफ *उसी आय को उन्हीं लोगों के लिए शराब से होने वाली बीमारियों की रोकथाम* के लिए अस्पताल, दवा आदि के रूप में खर्च किया जाय। शराब से जीवन-स्तर गिरता है और उत्पादन क्षमता घटती है। अतः यह कहाँ तक उचित है कि एक तरफ हम बीमारी फैलायें और दूसरी तरफ चिकित्सा की सुविधाएँ दें। उत्तम तो यही है कि हम बीमारी ही न फैलने दें। इसलिए शराब जैसी बुराई को शीघ्रातिशीघ्र समाज से उखाड़ फेंकना ही उचित है।

मद्यपानता निवारण के उपाय

शराबबन्दी को कारगर रूप से लागू करने के लिए दो प्रकार के उपाय किये जा सकते हैं : (i) जो लोग नहीं पीते हैं उनमें पीने की प्रवृत्ति पैदा न हो, इस प्रकार के उपाय किये जायें। (ii) जो लोग शराब पी रहे हैं उन्हें छुड़वाया जाय। शराबबन्दी के लिए निम्नांकित उपाय किये जा सकते हैं :

(1) शराबियों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाय।

(2) शराबियों की आर्थिक दशा सुधारी जाय।

(3) बेकारी की समस्या को हल किया जाय। प्रो० ब्रूनो (*Prof. Bruno*) ने अपने अध्ययन में बताया कि इंग्लैंड में पुनर्वास और रोजगार के अवसरों के बढ़ने से औद्योगिक एवं शहरी क्षेत्रों में पीने की आदत कम हुई है।

(4) स्कूलों में मानसिक स्वास्थ्य की शिक्षा दी जाय। पारिवारिक एवं औपचारिक शिक्षा द्वारा लोगों को शराब की बुराइयों से परिचित कराया जाय। सामान्य शिक्षा के लिए फिल्मों, पोस्टर एवं भाषणों आदि का उपयोग किया जाय। लोगों को शराब के बारे में वैज्ञानिक जानकारी प्रदान की जाय।

(5) लोगों को पर्याप्त मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराये जायें।

(6) *जो अधिक मात्रा में पीते हैं उनकी आधुनिक, वैज्ञानिक और मानसिक* चिकित्सा करके उन्हें रोका जाय। न्यूयार्क विश्वविद्यालय के डा० जेम्स स्मिथ, डॉ० जॉन टिन्टर्स तथा डॉ० हेराल्ड साबेल आदि ने शराबियों का हारमोन के द्वारा उपचार किया है। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विटामिन सी की अधिक मात्रा देने तथा भोजन में प्रोटीन की कमी करने एवं चर्बी तथा कार्बोहाइड्रेट की मात्रा बढ़ाने से शराब पीने की आदत छुड़ाई जा सकती है।

(7) कानून द्वारा पूर्ण नशाबन्दी कर दी जाय और उसका कठोरता से पालन किया जाय।

(8) लोगों को निवास की उचित सुविधाएँ दी जायें। राष्ट्रीय आय का उपयुक्त वितरण किया जाय तथा व्यक्तियों को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जायें।

(9) लोगों को नैतिक आधार पर शराब न पीने और शराब छोड़ने को कहा जाय। धर्म गुरु, समाज सुधारक, शिक्षक और राजनेता इस ओर सफल प्रयास कर सकते हैं।

(10) शराब की माँग पर रोक लगाई जाय और ऐसी कठिनाइयाँ पैदा की जायें कि सरलता से शराब प्राप्त नहीं की जा सके।

(11) जिन होटलों एवं रेस्तरां मे शराब दी जाती है, उन पर इस सम्बन्ध में नियन्त्रण लगाया जाय।

(12) उच्च समझे जाने वाले लोगों में जहाँ शराब एक फैशन बन गई है, ऐसी पार्टियों का बहिष्कार किया जाय जिनमें शराब पिलायी जाती है।

(13) नशा निषेध विभाग मे ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय जो स्वयं शराब नहीं पीते हों।

(14) शराब पीने वालों को वाहन चलाने के लाइसेन्स न दिये जायें।

(15) शराब की बिक्री पर रोक लगाई जाय, शराब की दुकानें खोलने का समय घटाया जाय एवं शराब की ओर आकर्षित करने वाले विज्ञापनों, पोस्टरों आदि पर प्रतिबन्ध लगाया जाय।

टेकचन्द अध्ययन दल ने इस सन्दर्भ में कुछ सुझाव दिये हैं—जैसे मद्यपान रोकने के कानूनी उपाय किये जाय, दवाओं और शृङ्गार प्रसाधनों के दुरुपयोग पर रोक लगाई जाय, शीरा एवं अन्य कच्चे माल पर नियन्त्रण, लोक शिक्षण तथा क्रमबद्ध रूप से मादक पदार्थ विरोधी प्रचार, सुधरे हुए प्रशासकीय तन्त्र द्वारा प्रभावशाली कार्यान्वयन, अवैध व्यापार पर रोक एवं मादकता के सन्दर्भ मे वैज्ञानिक यन्त्रो का उपयोग। इन उपायों का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

(1) कानूनी उपाय—कठोर कानून बनाकर एवं दण्ड की व्यवस्था कर शराब पीने पर नियन्त्रण लागू किया जाय।

(2) प्रशासकीय उपाय—सच्चे एवं ईमानदार अधिकारियों को इस कार्य मे लगाया जाय। अधिकारी एवं कर्मचारी ऐसे हो जो स्वयं शराब नहीं पीते हों।

(3) अवैध व्यापार पर प्रतिबन्ध—इस कार्य मे पूंजीपति, राजनीतिज्ञ, भ्रष्ट अधिकारी, पुलिस अफसर, आबकारी अधिकारी, गुण्डे एवं दादा लोग फँसे होते हैं और वे इसके व्यापार से अच्छा पैसा कमाते हैं। अत. अवैध व्यापार को कठोर कानून एवं दण्ड व्यवस्था तथा जनजागरण के द्वारा रोका जा सकता है।

(4) लोक शिक्षण—लोगों को फिल्मो, पोस्टरों, लेख, गीत, कवि सम्मेलन, शिविर, गोष्ठी, नाटक एवं साहित्य आदि के द्वारा शराब के दोषों से परिचित कराया जाय और वे स्वयं इसकी बुराइयों को समझ कर शराब न पीने का संकल्प करें। जनमत जाग्रत करने के लिए व्यापक कार्यक्रम बनाये जायें।

(5) शराब से सम्बन्धित शोध कार्यों एवं वैज्ञानिक खोजों के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों से लोगों को परिचित कराया जाय।

(6) धार्मिक एव समाज सेवी संस्थाओं की सेवाओं का उपयोग किया जाय एवं महिलाओं द्वारा मद्य निषेध लागू करने के लिए आन्दोलन चलाया जाय।

(7) ऐसे सस्ते पेय उपलब्ध कराये जायें जो ताजगी एव स्फूर्ति प्रदान करते हों जिससे कि वे शराब का स्थान ले सकें।

(8) सरकार को भी इस पाप की कमाई का त्याग करना होगा। एक तरफ हम शराब बेचकर करोड़ों रुपये कमायें और दूसरी तरफ उन्हीं रुपयों को शराब से उत्पन्न बीमारियों के उपचार के लिए खर्च करें, यह कहाँ का न्याय है? कई राज्य मद्य निषेध की नीति इसी कारण से लागू नहीं कर पा रहे हैं कि इससे उनको राजस्व का घाटा होगा।

(9) शराब की रोकथाम के लिए आत्म-विश्वास एव दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है जिससे कि इस बुराई से दूर रह सकें।

(10) इस प्रकार की समितियों का गठन करें जो लोगों को इस दुर्व्यसन से मुक्ति दिलाने में सहायता प्रदान करें। अमेरिका में 'एलकोहालिक्स एनोनीमस' इसी प्रकार की समिति है जिसने हजारों लोगों को मद्यपान से मुक्ति दिलाई है।

क्या शराब छुड़ाई जा सकती है?

वर्तमान में मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों एव वैज्ञानिकों ने परीक्षण किये हैं जिनमें वे आदतन अपराधियों को शराब छुड़ाने में सफल हुए हैं। शराब छुड़ाने के लिए प्रमुखत तीन प्रकार के उपचार अपनाये जाते हैं :

(1) घृणा उपचार अथवा परिस्थिति प्रतिबिम्ब,

(2) मानसिक उपचार या मानसिक विश्लेषण,

(3) सहानुभूतिपूर्वक उपचार।

(1) घृणा उपचार अथवा परिस्थिति प्रतिबिम्ब (Aversion or Conditional Reflex Treatment)—इस प्रकार के उपचार में शराबी को अरुचि या मितली लाने वाली दवा (Nauseating Drug) दी जाती है और ऊपर से शराब की घूँट पिलाई जाती है। परिणामस्वरूप शराबी इस दृश्य एवं दुर्गन्ध के कारण शराब से घृणा करने लगता है। कुछ महीनों बाद फिर यही उपचार दोहराया जाता है और शराबी पूर्ण रूप से शराब पीना त्याग देता है। किन्तु इसके अपवाद भी देखे गये हैं और कई व्यक्ति मितली के बावजूद भी शराब पीते हैं। इस प्रकार का उपचार करने वालों का दावा है कि उन्होंने आधे से भी अधिक शराबियों को इस विधि से शराब छुड़ाई है।

(2) मानसिक उपचार या मानसिक विश्लेषण (Psychotherapy or Psychoanalysis)—इस विधि में व्यक्ति को उन मानसिक तनावों से मुक्त करने

का प्रयत्न किया जाता है जिनके कारण वह शराब पीता है। शराबी की सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया जाता है। उसे सुधारने के लिए उसके मित्रों, परिवार के सदस्यों, सहकर्मियों एवं सम्बन्धियों का सहयोग प्राप्त किया जाता है। अमेरिका में भूतपूर्व शराबियों का एक सगठन बनाया गया जो एक दूसरे को शराब पीने से रोकते हैं। इसे गुमनामी शराबी (Alcoholics Anonymous) के नाम से पुकारा जाता है। ये लोग शराबी की आदत छुड़ाने के साथ-साथ उसके परिवार एव समूहों से पुनः सुदृढ़ सम्बन्ध बनाने में भी योग देते हैं और व्यक्ति को फिर से भावात्मक जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करते हैं।[1] यद्यपि सभी प्रकार के शराबी इस उपचार से ठीक नहीं किये जा सकते फिर भी 75% व्यक्ति जिन्होंने गम्भीरता से इस प्रकार का उपचार कराया, ठीक हो गये।

(3) सहानुभूतिपूर्वक सामाजिक उपचार (Sympathetic Social Therapy)—इस प्रकार के उपचार में शराबियों के प्रति सहानुभूति बरती जाती है और उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है जिनकी वजह से वे शराब पीते हैं।

अनुसन्धान और शिक्षा
(RESEARCH AND EDUCATION)

शराबी व्यक्ति को जेल भेजकर, दण्ड देकर या जुर्माना करके ही सदा ठीक नहीं किया जा सकता वरन् जो लम्बे समय से अधिक मात्रा में पी रहे हैं, उन्हें ठीक करने के लिए सहानुभूति की भी आवश्यकता है। इनके साथ बीमार व्यक्ति की भाँति व्यवहार किया जाना चाहिए। यह ठीक है कि ऐसे लोगों का उपचार कठिन, लम्बा एव महँगा है किन्तु इससे लम्बे समय में जाकर सार्वजनिक कल्याण योजनाओं एवं चिकित्सा कार्यों में होने वाले खर्च में कमी आयेगी। कई सरकारों ने एक तरफ शराबवृत्ति को समाप्त करने का उपाय किया है तो दूसरी तरफ वे इससे प्राप्त होने वाली आय की तरफ भी आकर्षित हुई हैं। इस प्रकार के टैक्स से प्राप्त होने वाली रकम का कुछ भाग ही शराबियों की भलाई के लिए खर्च किया जाता है। इनके लिए कल्याणकारी योजना बनाना एक महत्वपूर्ण दायित्व है क्योंकि शराबवृत्ति कई सामाजिक समस्याओं को जन्म देती है। वीवर कहते हैं कि शराबवृत्ति एक गतिशील समाज में असामञ्जस्यताओं का लक्षण है।[2]

भारत में मद्यपान और उसकी रोकथाम

प्राचीन समय से ही भारत में मादक पदार्थों के सेवन को अनुचित माना जाता रहा है। यद्यपि विशेष सामाजिक एव धार्मिक उत्सवों के अवसर पर इसकी छूट रही

1 *Alcoholics Anonymous*, The Story of how more than one hundred men have recovered from Alcoholism (New-York Works Publishing Co. 1939).

2 "Alcoholism, then is a symptom of more profound maladjustments in a dynamic society." —W. W. Weaver, *op. cit.*, p. 329.

है। वैदिक काल में 'सोमरस' के उपयोग का वर्णन मिलता है। किन्तु तब मद्यपान का प्रकार्यात्मक महत्त्व था। जब भारत मे औद्योगीकरण एव नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई तो इसके साथ-साथ शराबवृत्ति भी बढती गयी और इसने एक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर लिया। अग्रेजों ने आबकारी-कर लगाकर मद्य को आय एक साधन बनाया और आज तो यह राज्यों की आय के प्रमुख स्रोतो मे से है। मद्य-निषेध के लिए समय-समय पर सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की ओर से प्रयत्न किये जाते रहे हैं। महात्मा गाँधी ने अपने सत्याग्रह आन्दोलन मे मद्य-निषेध को प्रमुख स्थान दिया। 1920-21 तथा 1930 में गाँधीजी द्वारा चलाये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन में मद्य-निषेध एक प्रमुख मुद्दा था। गाँधीजी के नेतृत्व में महिलाओं ने शराब की दुकानों पर 'धरने' दिये। 1930 में गाँधी इर्विन समझौते की ग्यारह शर्तों मे से एक मद्य-निषेध की शर्त भी थी। कराची मे काग्रेस ने 1931 में पूर्ण नशाबन्दी का निश्चय किया। 1937 में जब राज्यों मे काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने तो उन्होंने मद्य-निषेध के कार्यक्रम को अपनाया।

स्वतन्त्र भारत के संविधान के 47वें अनुच्छेद में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में कहा गया है कि "राज्य अपनी जनता का पोषण-स्तर और जीवन-स्तर ऊँचा उठाना तथा जनस्वास्थ्य सुधारना अपना एक प्राथमिक कर्त्तव्य मानेगा और विशेषत: स्वास्थ्य के लिए औषधीय प्रयोजनों के अतिरिक्त नशीले पेयो और मादक जड़ी बूटियों के उपभोग को रोकने का प्रयास करेगा।"

सविधान द्वारा व्यक्त इस सकल्प को पूरा करने के लिए ही केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों ने मद्य निषेध के लिए समय-समय पर कदम उठाये हैं। मद्य-निषेध की प्रगति का लेखा-जोखा करने के लिए सरकार ने समय-समय पर समितियाँ गठित की हैं। 16 दिसम्बर, 1954 में योजना आयोग ने कांग्रेस के जनरल सेक्रेट्री श्री मन्नारायण की अध्यक्षता मे 'नशा निषेध जाँच समिति' गठित की। इसका उद्देश्य राज्य सरकारों द्वारा शराबबदी के कारण उत्पन्न परिस्थितियों को ज्ञात करना, मद्य-निषेध के मार्ग मे आने वाली बाधाओं का पता लगाना और उनका हल ढूँढना आदि था। इस समिति ने 10 सितम्बर, 1955 मे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में शराब बन्दी के अनेक उपाय सुझाये गये और उन पर अमल करने से मादक पदार्थों के उपयोग मे पर्याप्त कमी भी हुई।

31 मार्च, 1956 मे भारतीय ससद ने एक प्रस्ताव स्वीकृत कर मद्य-निषेध को दूसरी पचवर्षीय योजना का अनिवार्य अग बना दिया तथा योजना आयोग ने राज्यों को कहा कि वे उपयुक्त कार्यक्रम बनाकर इसकी रोकथाम का प्रयत्न करें। 1963 मे मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन में मद्य-निषेध को कारगर ढग से लागू करने की बात कही गयी।

योजना आयोग ने अप्रेल 1963 मे पजाब के न्यायाधीश श्री टेकचन्द की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की। इस अध्ययन दल ने तात्कालिक

स्थिति का अध्ययन किया और बताया कि भारत में तीन प्रकार के राज्य हैं, एक वे जहाँ पूर्ण मद्य-निषेध लागू हैं, दूसरे वे जहाँ आंशिक मद्य-निषेध लागू हैं तथा तीसरे वे जहाँ मद्य-निषेध नहीं है। वैध शराब पर 94 करोड़ तथा अवैध शराब पर 52 करोड़ अर्थात् कुल 146 करोड़ रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है। इस समिति ने 1975-76 तक सम्पूर्ण देश में मद्य-निषेध लागू करने की सिफारिश की तथा चोरी-छिपे शराब लाने ले जाने पर रोक के लिए कठोर कदम उठाने का सुझाव दिया। इस अध्ययन दल ने बताया कि देश में अवैध शराब का व्यापार जोरों पर है जिसमें भ्रष्ट अधिकारी एवं कर्मचारियों का भी हाथ है। इस व्यापार को चलाने के लिए गुण्डों, भिखारियों एवं कोढ़ी व्यक्तियों का सहारा लिया जाता है। शराब साइकिल के ट्यूब, रबड़ के थैलों और फुटबॉल के ब्लैंडर आदि में भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाई जाती है। दवाओं एवं नागरिक प्रसाधनों के नाम पर बाजारों में शराब का विक्रय होता है।

वर्तमान स्थिति—केन्द्र सरकार ने सभी राज्यों से नशा निषेध कार्यक्रम को 1981 तक पूरी तरह लागू करने की सिफारिश की है। यह कार्यक्रम विभिन्न चरणों में पूरा किया जाना है। इसके लिए राज्य 1978 में सप्ताह में दो सूखे दिन, 1979 में चार तथा 1981 तक छः सूखे दिन घोषित कर इस वर्ष के अन्त तक पूर्ण मद्य-निषेध लागू करने का सुझाव दिया है। राज्यों को मद्य-निषेध से होने वाले राजस्व घाटे की 50% पूर्ति केन्द्र सरकार करेगी। केन्द्र सरकार के सुझाव को मानकर आन्ध्र, आसाम, बिहार, हरियाणा, हिमाचल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान ने आगामी चार वर्षों में अर्थात् 1981 तक पूर्ण मद्य निषेध की नीति को स्वीकार कर लिया है। जम्मू-कश्मीर व सिक्किम ने शराबबन्दी के सिद्धान्त को स्वीकार किया है किन्तु अभी तक वे इसके लिए निश्चित समय तय नहीं कर पाये हैं। मणिपुर, महाराष्ट्र व केरल इस सुझाव पर विचार कर रहे हैं। मेघालय व नागालैण्ड मद्य-निषेध के पक्ष में नहीं हैं। केरल ने अभी तक कोई संकेत नहीं दिया है। पश्चिमी बंगाल मद्य-निषेध के पक्ष में है। केन्द्र शासित प्रदेशों ने भी इस नीति को स्वीकार किया है जिनमें दिल्ली सबसे आगे है। हरियाणा, हिमाचल, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, सिक्किम व राजस्थान में सप्ताह में एक बार शुष्क दिवस लागू है जबकि नागालैण्ड एवं पंजाब में दो दिन। आसाम, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में पूर्ण नशाबन्दी लागू है। चार-वर्षीय नशाबन्दी कार्यक्रम के अन्तर्गत आदतन पियक्कड़ों को परमिट दिये जायेंगे। यह कार्य एक समिति करेगी जिसके तीन सदस्य एक डाक्टर, एक आबकारी अधिकारी एवं एक नशाबन्दी मण्डल द्वारा मनोनीत सदस्य होंगे।

राजस्थान राज्य ने 1981 तक पूर्ण नशाबन्दी का संकल्प व्यक्त किया है। इस समय यहाँ 13 जिलों में पूर्ण नशाबन्दी है तथा प्रत्येक मंगलवार को सूखा दिन घोषित किया गया है। राज्य का करीब 64% भाग इस समय नशाबन्दी के तहत

प्रश्न

1. मद्यपानता से आप क्या समझते हैं ? इसके कारण बताइए।
2. मद्यपानता व्यक्ति, परिवार और समाज को कैसे प्रभावित करती है ?
3. भारत मे मद्यपानता की समस्या निर्धनता और बेकारी की समस्याओं से कैसे सम्बन्धित है ?
4. समाजशास्त्रीय दृष्टि से मद्यपानता के कारणों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
5. मद्यपानता को एक सामाजिक समस्या क्यो माना जाता है ?
6. "एक समाज में मद्यपान के प्रति प्रतिक्रिया उस समाज मे पाई जाने वाली व्याकुलता के स्तर से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है।" टिप्पणी दीजिए।
7. मद्यपान की समस्या को हल करने के उपायों का उल्लेख कीजिए।



जनसंख्या-वृद्धि
(POPULATION GROWTH)

किसी भी देश की जनसंख्या का घनत्व, बनावट और गुण उस देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। उसकी प्रगति को निर्धारित करने मे यह महत्वपूर्ण कारक है। किसी भी देश की जनसंख्या वहाँ पर उपलब्ध साधनो की तुलना में सन्तुलित होनी चाहिए। अनियन्त्रित जनसंख्या-वृद्धि जनसंख्या विस्फोट के लिए उत्तरदायी है। जनाधिक्य साम्राज्यवाद, गरीबी, बेरोजगारी, अपराध, पारिवारिक कष्ट एवं वैधानिक विघटन को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जन्म देने के लिए उत्तरदायी है। देश के आर्थिक विकास की गति मे बढ़ती जनसंख्या बाधक रही है। इसने योजनाबद्ध विकास के चरण को धीमा किया है। पिछड़े राष्ट्रों मे तो जनसंख्या वृद्धि ने कई गम्भीर समस्याओं को जन्म दिया है जैसे; श्रम-शक्ति का बेकार होना, छात्र असन्तोष का बढ़ना तथा निर्धनता मे वृद्धि होना आदि। किसी भी देश के भविष्य निर्माण एव उसे खुशहाल बनाने मे वहाँ की जनसंख्या का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जनसंख्या की कमी और अधिकता देश के उत्पादन, आवास-प्रवास, गर्भ-निरोध, आर्थिक विकास, राजनैतिक सम्बन्ध, नियोजित परिवर्तन, सरकार एवं समाज की नीति आदि को प्रभावित करते हैं। हम यहाँ भारतीय जनसंख्या की वृद्धि, उसको प्रभावित करने वाले कारक एव उससे उत्पन्न समस्याओं एव जनसंख्या-वृद्धि को रोकने में परिवार नियोजन की भूमिका आदि पर विचार करेंगे।

भारतीय जनसंख्या
(INDIAN POPULATION)

जनसंख्या की दृष्टि से भारत विश्व का दूसरा देश है और क्षेत्रफल की दृष्टि से सातवाँ। सामान्यतः पश्चिमी देशों की जनसंख्या घट रही है। वहाँ के राजनीतिज्ञ इस बात से चिन्तित हैं। वहाँ जनसंख्या वृद्धि के लिए प्रलोभन दिये जा रहे हैं। वहाँ जनसंख्या घटने के प्रमुख कारण हैं—विवाह की आयु में वृद्धि, जन्म निरोध, विवाहों की संख्या में कमी आदि। दूसरी ओर भारत सहित एशिया और पिछड़े व अविकसित राष्ट्रों मे जनसंख्या बढ़ी है जिसने वहाँ की आर्थिक प्रगति को प्रभावित किया है।

भारत मे लगभग 1 करोड़ 30 लाख लोगों की वृद्धि प्रतिवर्ष होती है। भारत की प्रति दस वर्ष की वृद्धि दर (1961-71) 24 80% है। भारत में प्रतिवर्ष लगभग एक आस्ट्रेलिया जितनी जनसख्या बढ जाती है। प्रति वर्ष हमे बढ़ती जनसख्या के लिए 25 लाख मकान, 15 करोड मीटर कपड़ा, एक लाख विद्यालय, 30 लाख अध्यापक, 40 लाख नौकरियाँ एवं करोड़ो क्विटल खाद्यान्न चाहिए। मूल प्रश्न यही उठता है कि आखिर इन सबकी व्यवस्था कैसे हो पायेगी ? हम अपनी आर्थिक प्रगति का कोई भी लाभ कैसे प्राप्त कर सकेंगे।

भारत मे विभिन्न दशकों मे हुई जनसख्या-वृद्धि को निम्न तालिका द्वारा प्रकट कर सकते हैं

भारत मे जनसंख्या वृद्धि (1901-1971)[1]

वर्ष	जनसंख्या	दशक	जनसख्या मे प्रतिशत वृद्धि[2]
1901	23,83,73,314	1901-10	5 75
1911	25 20,05,470	1911-20	— 0·32
1921	25,12,39 492	1921-30	11·0
1931	27,88,67,430	1931-40	14 2
1941	31,85,39,060	1941-50	13 3
1951	36,09,50,365	1951-60	21·6
1961	43,90,72,582	1961-70	24 8
1971	54,79,49,809		

उपरोक्त तालिका से 1901 से 1971 तक की भारत की जनसख्या-वृद्धि के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। 1911 से 1921 का समय भारत में जनसंख्या घटने का है क्योंकि इस समय महामारी, प्लेग, हैजा आदि फैले जिन्होंने हजारों लोगों की जानें लीं। 1921 से जनसंख्या बढ़ोतरी का समय प्रारम्भ होता है। 1931 से 1941 तक जनसख्या लगभग स्थिर रही जबकि आगे की दशाब्दियों मे वृद्धि दर ऊँची रही। 1931-41 की दशाब्दी एव 1951-61 की दशाब्दी मे महत्वपूर्ण भेद है। 1947 में भारत विभाजन के कारण एक बड़ी मात्रा में लोग पाकिस्तान से भारत आये जबकि पहले वाले जनसंख्या आँकड़ों में भारत व पाकिस्तान एक ही थे। 1961 मे भारत की जनसंख्या 43 करोड़ थी जो 1971 में 54·79 करोड़ हो गई। प्रति दशक मे 25 8% वृद्धि दर के अनुसार 1975-76 मे भारत की जनसंख्या अनुमानतः 61 करोड़ हो गई है।

भारत मे समय-समय पर जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों को कई प्राकृतिक प्रकोपों और युद्धों ने प्रभावित किया, जैसे 1918 में महामारी फैली, प्रथम व द्वितीय

1 भारत 1975, पृष्ठ 6

2 वही, पृष्ठ 9.

विश्व युद्ध हुए, 1943 मे दुर्भिक्ष पड़ा, 1947 में भारत विभाजन हुआ, 1962 मे भारत-चीन युद्ध हुआ, 1965 मे एव फिर 1971 में भारत-पाक संघर्ष हुए। फिर भी ऊँची जन्म-दर एवं कई अन्य कारणों से जनसख्या तीव्र गति से बढ़ती रही। भारत का कुल क्षेत्रफल 32,80,483 वर्ग किलोमीटर है। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत का जनसख्या घनत्व 178 व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर है। भारत एक विशाल भू-खड है जिसमे प्रान्तीय आधार पर जनसंख्या सम्बन्धी अनेक विषमतायें देखने को मिलती हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से मध्य प्रदेश सबसे बड़ा राज्य है परन्तु जनसख्या की दृष्टि से उत्तर प्रदेश। 1971 मे केरल मे जनघनत्व 549, बगाल में 504, नागालैण्ड मे 31 और अरुणाचल प्रदेश में केवल 6 था। केन्द्र प्रशासित प्रदेशों दिल्ली (2738) और चण्डीगढ (2257) मे जनघनत्व अधिक था।

जनसंख्या के घनत्व को प्रभावित करने में जलवायु, वर्षा की मात्रा, भूमि की परत एवं बनावट तथा सुरक्षा के साधन आदि महत्वपूर्ण कारक हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार भारत मे प्रति 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की सख्या 930 थी। केरल (1016), दादरा और नगर हवेली (1007) क्षेत्रो मे पुरुषो की तुलना में स्त्रियो की संख्या अधिक है। 1971 मे 54 76 करोड़ जनसख्या मे से 43 89 करोड़ या लगभग 80% जनसंख्या गाँवो मे तथा 10 91 करोड या 20% नगरों में निवास करती थी।[1] 1971 मे 39·45% जनसख्या साक्षर थी। पुरुषो मे साक्षरता का प्रतिशत 39·45% और स्त्रियों मे 18·72 था। सबसे अधिक साक्षरता दर 60 42% केरल मे थी और उसके बाद महाराष्ट्र (39 46%) और तमिलनाडु में (39·18%)। आयु सरचना के अनुसार सबसे अधिक जनसंख्या 14 वर्ष तक की आयु के लोगों की (42%) थी और सबसे कम 50 वर्ष से ऊपर आयु वालों की (लगभग 6%) थी।

भारतीय जनसंख्या से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण पक्ष इस प्रकार हैं .

(1) भारत में प्रति डेढ़ सेकिण्ड मे एक बच्चा, प्रति मिनट 40 बच्चे, प्रतिदिन 57000 बच्चे एव प्रति वर्ष 2·10 करोड बच्चे जन्म लेते हैं।

(2) प्रति वर्ष भारत में 80 लाख व्यक्तियों की मृत्यु होती है।

(3) भारत में प्रतिवर्ष 1 3 करोड़ जनसख्या बढ़ती है जो आस्ट्रेलिया की जनसंख्या के लगभग बराबर है।

(4) भारत मे विश्व की 15% जनसख्या निवास करती है। विश्व की सन् 1971 में जनसख्या 371 करोड एवं भारत की 54 69 करोड़ थी। इस प्रकार विश्व का हर सातवाँ व्यक्ति भारतीय है।

(5) भारत मे सन् 1994 में यदि भारत की जन्म दर यही बनी रही तो जनसंख्या 100 करोड़ हो जायेगी।

---

1 भारत 1975, पृष्ठ 10

(6) भारत में सन् 1971 में प्रति हजार जन्म दर 42 और मृत्यु दर 18 थी। इस प्रकार प्रतिवर्ष यहाँ 24 व्यक्ति प्रति हजार के हिसाब से जनसंख्या बढ़ती है। वर्तमान में (1977-78) प्रति हजार जन्म दर 35 और मृत्यु दर 15 है।

(7) सन् 1971 की जन-गणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का 81% भाग गाँवों में और 19% भाग शहरों में निवास करता है।

जनसंख्या-वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारक
(FACTORS EFFECTING POPULATION GROWTH)

किसी भी देश की जनसंख्या को घटाने या बढ़ाने में प्रमुखत. तीन कारक उत्तरदायी हैं : (1) जन्म दर (2) मृत्यु दर, एवं (3) आवास-प्रवास। यदि जन्म दर अधिक है और मृत्यु दर कम है तो जनसंख्या बढ़ेगी और यदि जन्म दर कम है और मृत्यु दर अधिक है तो जनसंख्या घटेगी। इसी प्रकार यदि दूसरे देशों से आने वाले लोगों की संख्या विदेशों में जाने वाले लोगों की तुलना में अधिक है तो जनसंख्या बढ़ेगी इसके विपरीत स्थिति में जनसंख्या घटेगी। हम जनसंख्या निर्धारण में इन तत्वों का भारत के सन्दर्भ में उल्लेख करेंगे।

(1) जन्म दर—भारत में अन्य देशों की तुलना में जन्म दर अधिक है। जन्म दर और मृत्यु दर के आँकड़ों में पंजीकृत और अनुमानित आधारों पर अन्तर पाया जाता है क्योंकि देश में सभी जन्मने और मरने वालों के नाम रजिस्टर में पंजीकृत नहीं कराये जाते। विभिन्न दशकों में भारत में अनुमानित जन्म दर इस प्रकार थी।

दशक	जन्म दर प्रति हजार[1]
1921—30	46·4
1931—40	45·2
1941—50	39 9
1951—60	*41·7*
1961—70	41·1

भारत में वर्तमान में (1977-78) जन्म दर 35 व्यक्ति प्रति हजार प्रति वर्ष है जो कि विश्व के अन्य देशों की तुलना में चीन को छोड़कर सर्वाधिक है। ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में भी जन्म दर में भिन्नता है। शहरों की तुलना में गाँवों में जन्म दर अधिक है। यह भिन्नता प्रान्तीय आधार पर भी देखी जा सकती है। सबसे अधिक जन्म दर असम की है और सबसे कम तमिलनाडु की।

किसी भी देश की जन्म दर को प्रभावित करने में वहाँ की सामाजिक दशाओं—मृत्यु दर, भ्रूणहत्या, बाँझपन, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, उत्पादन का विकास, स्वास्थ्य की

1 भारत 1975, पृष्ठ 9.

दशा में महत्वाकांक्षाएँ आदि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत में ऊँची जन्म दर के अनेक कारण हैं जैसे—गर्म जलवायु, बाल विवाह का प्रचलन, मनोरंजन के साधनों का अभाव, संयुक्त परिवार प्रणाली, विवाह की अनिवार्यता, चिकित्सा सुविधाओं में वृद्धि, भाग्यवादिता आदि। भारत में जन्म दर को प्रभावित करने में शिक्षा, व्यवसाय धर्म, ग्रामीण और शहरी निवास, जाति आदि कारकों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

(2) मृत्यु दर—जन्म दर की भाँति ही मृत्यु दर के पञ्जीकरण और अनुमानित आँकड़ों में भी भिन्नता पाई जाती है। विभिन्न दशकों में प्रति हजार व्यक्तियों पर भारत में मृत्यु दर इस प्रकार थी।

दशक	मृत्यु दर प्रति हजार अनुमानित[1]
1921—30	36·3
1931—40	31 2
1941—50	27 4
1951—60	22 8
1961—70	18·9

जन्म दर की तरह मृत्यु दर भी भारत में अन्य देशों की तुलना में अधिक है क्योंकि यहाँ स्वास्थ्य का स्तर और जीवन-स्तर निम्न हैं पौष्टिक आहार की कमी है तथा चिकित्सा-सुविधाओं का अभाव है। इनके अतिरिक्त यहाँ गरीबी और महामारी का प्रकोप भी रहा है। 1921 से पहले वाले तीन दशकों में अकाल, प्लेग, इन्फ्लुएन्ज़ा आदि के कारण मृत्यु दर अधिक थी। 1921 के बाद से प्रत्येक दशक में मृत्यु दर कम हुई है। योजना आयोग का अनुमान है कि 1980 में यह घट कर 9·2 प्रति हजार प्रति वर्ष रह जावेगी। परन्तु वर्तमान में (1977-78) यह 15 व्यक्ति प्रति हजार प्रति वर्ष है। सबसे अधिक मृत्यु दर चार वर्ष तक की आयु के बच्चों में पाई जाती है। आयु की दृष्टि से उस मृत्यु दर को अच्छी मानते हैं जो बचपन और युवावस्था में कम तथा वृद्धावस्था में अधिक हो। सबसे अधिक मृत्यु दर बिहार और असम में है जबकि सबसे कम मृत्यु दर केरल में। भारत में अधिक मृत्यु दर के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं जैसे गरीबी, प्राकृतिक प्रकोप (भूकम्प, बाढ़, अकाल), संक्रामक रोग, भारत का पाकिस्तान व चीन के साथ युद्ध, औद्योगिक गन्दी बस्तियाँ एवं चिकित्सा सुविधाओं का अभाव आदि।

1 वही, पृष्ठ 9.

मृत्यु-दर को कम करने के लिए आवश्यक है कि लोगों को अधिकाधिक चिकित्सा की सुविधायें दी जायें, मातृत्व एवं शिशु कल्याण की संस्थाओं की स्थापना की जाय, शिक्षा का प्रसार किया जाय, जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने, सन्तुलित आहार देने एवं उद्योगों में स्वस्थ वातावरण का निर्माण करने हेतु प्रयत्न किये जायें।

(3) आवास-प्रवास—आवास-प्रवास भी जनसंख्या वृद्धि को प्रभावित करता है। प्राचीनकाल से ही पड़ौसी देशों से भारत में जनसंख्या का आवागमन रहा है और भारतीय व्यापारी, धर्म प्रचारक आदि दूसरे देशों में जाते रहे हैं। कई भारतीय वर्तमान में व्यापार और उद्योग के कारण बर्मा, लंका, इण्डोनेशिया, मलाया, थाईलैंड मारिशस, ब्राजील और अफ्रीकी देशों में जा बसे हैं। 1924 में 29 लाख से अधिक भारतीय विदेशों में थे। किन्तु 1930 की मन्दी के कारण कई व्यक्ति पुनः स्वदेश लौट आये। वर्तमान में लगभग 20 लाख व्यक्ति विदेशों में हैं। किंग्सले डेविस[1] ने भारत एवं पाकिस्तान की जनसंख्या के अध्ययन में बताया है कि 1926 30 में 32 98 लाख व्यक्ति भारत से विदेशों में गये और 24 57 लाख विदेशों से भारत में आये। 1961 में भारत में कुल 2,95,624 विदेशी निवास कर रहे थे।

भारत में बाह्य देशान्तरण की तुलना में आन्तरिक देशान्तरण कई गुना अधिक हुआ है जो विभिन्न ग्रामों, शहरों एवं प्रान्तों में परस्पर हुआ है। देशान्तरण गमन कई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक समस्यायें पैदा करता है। भूमि का मूल्य, मजदूरी की दर, स्त्री पुरुषों का अनुपात, अपराध, प्रशासन आदि इससे प्रभावित होते हैं।

भारत में जन-विस्फोट
(POPULATION EXPLOSION IN INDIA)

हमने भारत में जनसंख्या-वृद्धि के विभिन्न दशकों के आँकड़ों का अवलोकन किया। साथ ही यहाँ की जन्म दर, मृत्यु दर एवं आवास-प्रवास के तथ्यों का विश्लेषण भी किया। ये सारे तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि भारत में प्रतिवर्ष जनसंख्या-वृद्धि बड़ी तेजी से हो रही है जिसने हमारे आर्थिक विकास, प्रशासन, सामाजिक कल्याण आदि को प्रभावित किया है। भारत आज विश्व में जनसंख्या की दृष्टि से दूसरे नम्बर का देश है। बढ़ती जनसंख्या ने हमारे यहाँ बेकारी और गरीबी में वृद्धि की है। इसलिए ही कहा जाता है कि भारत में जन विस्फोट हो रहा है और यदि इसे समय रहते नियन्त्रित नहीं किया गया तो इसके भयंकर परिणाम होंगे। भारत में इस जन विस्फोट या दूसरे शब्दों में अनियन्त्रित जनसंख्या-वृद्धि के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं।

---

1 Kingsley Davis, *Population of India and Pakistan*, p 99.

भारत में अनियन्त्रित जनसंख्या-वृद्धि अथवा जन-विस्फोट के लिए उत्तरदायी कारण
CAUSES OF POPULATION GROWTH OR EXPLOSION IN INDIA)

भारत में अनियन्त्रित जनसंख्या-वृद्धि के लिए उत्तरदायी कारण निम्न लिखित हैं :—

(1) गर्म जलवायु के कारण यहाँ लड़कियों में शीघ्र ही परिपक्वता आ जाती है और वे कम उम्र में ही सन्तान पैदा करने के योग्य हो जाती हैं। प्रजनन की प्रक्रिया के लम्बी अवधि तक चलते रहने के कारण अधिक सन्तानें जन्म लेती हैं।

(2) बाल-विवाह प्रथा के कारण छोटे-छोटे बच्चों का विवाह करवा दिया जाता है। अतः स्त्रियों के उत्पादन काल (15 से 45 वर्ष की आयु) का पूरा-पूरा उपयोग होता है। इस कारण भी अधिक संख्या में सन्तानें जन्म लेती हैं।

(3) मनोरंजन के साधनों का अभाव होने के कारण निम्न वर्ग के लोगों और ग्रामीणों में स्त्री ही मनोरंजन का साधन समझी जाती है।

(4) संयुक्त परिवार प्रथा के प्रचलन के कारण परिवार के वयोवृद्ध व्यक्ति अपने बेटों और पोत्रों का विवाह अपने सामने ही सम्पन्न होते देखना चाहते हैं। ऐसे परिवारों में बच्चों के लालन-पालन में भी कोई कठिनाई नहीं होती है। साथ ही बड़ा कुटुम्ब समाज में सत्ता, शक्ति एवं प्रतिष्ठा का भी सूचक माना जाता रहा है।

(5) शिक्षा के अभाव के कारण लोग जनसंख्या-वृद्धि के परिणामों को नहीं समझते और अबाध गति से सन्तानों को जन्म देते हैं।

(6) निम्न जीवन स्तर के कारण लोग यह सोचते हैं कि अधिक सन्तान होगी तो वे सभी को उत्पादन कार्य में लगाकर अधिक धन अर्जित करेंगे और जीवन-स्तर को उन्नत कर सकेंगे। साथ ही यहाँ निम्न जीवन स्तर के कारण सन्तानों की शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण, और ऐशो-आराम के लिए अधिक खर्च नहीं करना पड़ता है। अतः यदि परिवार में सन्तानों की संख्या बढ़ती भी है तो किसी को कोई कष्ट नहीं होता।

(7) परिवार नियोजन के साधनों के प्रति पूर्ण जानकारी का अभाव एवं अरुचि भी जनसंख्या-वृद्धि के लिए उत्तरदायी है।

(8) विवाह की अनिवार्यता के कारण प्रत्येक भारतीय को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए विवाह करना होता है। विवाह भारत में एक धार्मिक संस्कार है और मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य भी। अतः जब विवाह होगा तो उसका आवश्यक परिणाम सन्तानोत्पत्ति होगी परन्तु विदेशों में विवाह करना शुद्ध व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है।

(9) पुत्र को अधिक महत्व देने के कारण तब तक सन्तानोत्पत्ति होती रहती है जब तक कि कोई पुत्र न हो जाय। धर्मशास्त्रों में मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुत्र की उत्पत्ति को आवश्यक माना गया है।

(10) चिकित्सा की सुविधाओं के कारण भारत में मृत्यु-दर घटी है और जन्म-दर बढ़ी है।

(11) पाश्चात्य मूल्यों के बढ़ते प्रभाव के कारण स्त्री-पुरुषों में सहवास की स्वतन्त्रता बढ़ी है।

(12) चलचित्रों, अश्लील साहित्य, तड़क-भड़क एवं चुस्त पोशाक आदि ने यौन उत्तेजना पैदा की है।

(13) भाग्यवादी होने के कारण भारतीय यह समझते हैं कि सन्तान ईश्वर की देन है और जिसने जन्म दिया है वह खाने को भी देगा। साथ ही वे जन्म पर नियन्त्रण को पाप मानते हैं। इस्लाम धर्म में भी जन्म को अच्छा माना गया है। बाइबिल में भी अधिक जन्म को स्वीकार करते हुए लिखा है कि वृद्धि करो और पृथ्वी को लोगों से भर दो (Increase and multiply and fill the earth.)।

(14) युद्धों और शान्तिकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर भारत में जन-संख्या की हानि बहुत कम हुई है। डा० चन्द्रशेखर का मत है कि पिछली पाँच दशाब्दियों में भारत में कुछ अपवादों को छोड़कर मानव क्षति कम हुई है।[1]

उपरोक्त सभी कारणों के सह-अस्तित्व ने भारत में तीव्र जनसंख्या-वृद्धि एवं जन-विस्फोट को प्रोत्साहित किया है।

क्या भारत में जनाधिक्य है ?
(IS INDIA OVER POPULATED ?)

हमने ऊपर जनसंख्या-वृद्धि और उसके कारणों का उल्लेख किया। भारत में अन्य देशों की तुलना में गरीबी और बेकारी अधिक है। यहीं इसीलिए एक प्रश्न पैदा होता है कि क्या भारत में जनाधिक्य है ? यह प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि माल्थस ने कहा था कि यदि मनुष्य बढ़ती जनसंख्या पर कृत्रिम रोक नहीं लगाता है तो प्रकृति क्रूर नियन्त्रण जैसे बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी आदि का प्रयोग करती है। भारत में भी समय-समय पर दुर्भिक्ष, युद्ध एवं अकाल की घटनायें हुई हैं जिनमें मानव क्षति हुई है। भारत में जनाधिक्य को लेकर दो मत पाये जाते हैं (1) निराशावादी (2) आशावादी। हम दोनों मतों का यहाँ उल्लेख करेंगे।

निराशावादी दृष्टिकोण

इस मत के समर्थकों में राधाकमल मुकर्जी, ज्ञानचन्द, कार सान्डर्स, पी० के० वटाल, के० डेविस, एम० आर० सेन आदि प्रमुख हैं। कुछ दशकों पूर्व तक भारत

---

1 Chandra Shekhar, *India's Population*, p. 18.

मे जनाधिक्य नही था क्योकि जनसंख्या बढ़ती भी थी तो बाढ़, भूकम्प, महामारी आदि से सन्तुलित हो जाती थी परन्तु बाद मे परिस्थितियाँ बदलीं। सन् 1937 मे बर्मा के भारत से अलग होने से चावल तथा गेहूँ उत्पादन करने वाला क्षेत्र पृथक हो गया। सन् 1947 मे आजादी के साथ ही देश का बँटवारा हुआ तो भारत को 82% जनसंख्या मिली लेकिन चावल पैदा करने वाले क्षेत्र का 68% व गेहूँ पैदा करने वाले क्षेत्र का 65% भाग ही प्राप्त हुआ। इससे भी खाद्यान्न की कमी हुई। 1971 मे भारत मे 54 करोड़ लोग थे। यहाँ की जन्म दर 42 व्यक्ति प्रति हजार है और वर्ष मे लगभग सवा करोड़ जनसंख्या बढ़ती है। पिछले 50 वर्षों मे यहाँ जनसंख्या दुगुनी हुई है और यदि वृद्धि की यही रही तो सन् 2000 तक जनसंख्या चौगुनी हो जायेगी। भारत के पास विश्व की 14% जनसंख्या है जबकि संसार का 2·4 प्रतिशत भू-भाग मात्र हो। भारत मे जनसंख्या की इस भयानक स्थिति को के० के० चक्रवर्ती[1] जन-विस्फोट के नाम से पुकारते हैं। इसलिए एफ० ओसबर्न ने कहा है "भारत का आन्तरिक शत्रु बढ़ती जनसंख्या है। जिसके लिए भारतीय भूमि भोजन नहीं जुटा पाती है।[2] वे यह भी मानते हैं कि जनसंख्या की दृष्टि से भारत सन्तृप्ति बिन्दु (Saturation point) तक पहुँच गया है। डब्लू वोगट का कहना है—"जब तक इस बढ़ती जनसंख्या पर नियन्त्रण नहीं लगाया जाता तब तक माँ भारती अपनी सन्तानों के लिए भोजन जुटाने में असमर्थ है। वह एक आदर्श माँ नहीं रह गई है।"[3] भारत मे जनाधिक्य को समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है।

भूमि का अनुपात—हमारे यहाँ अन्य देशों की तुलना में प्रति व्यक्ति भूमि कम है और उससे अधिक लोगो का भरण-पोषण करना पड़ता है। हमारे यहाँ परिवार विभाजन के साथ ही कृषि-योग्य भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों मे बँट जाती है और वह अनुत्पादक हो जाती है। भूमिहीन श्रमिकों की संख्या दिनोदिन बढ़ रही है।

खाद्यान्न-पूर्ति—हमारे यहाँ खाद्यान्नों की भी कमी है। अतः कई बार हमे बाहर से अनाज मँगाना होता है। सन् 1951 के बाद यहाँ जनसंख्या-वृद्धि 2·50% की दर से हुई है जबकि खाद्यान्न क्षेत्र मे उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है। अखाद्यान्न फसलों की अच्छी कीमत मिलने के कारण भी खाद्यान्न क्षेत्र घटा है। हर व्यक्ति को प्रतिदिन 16 औंस खाद्यान्न मिलना चाहिए। सन् 1951 मे खाद्यान्न पूर्ति 12.8 औंस थी जो सन् 1971 में घटकर 12.1 औंस ही रह गई। अतः स्पष्ट है कि जनसंख्या-वृद्धि और खाद्यान्न-पूर्ति में कोई सन्तुलन नहीं है।

---

1 के० के० चक्रवर्ती, धर्मयुग, 10 अक्टूबर 1971

2 "The internal enemy of India is too many people for the land to support."
—Osborn, quoted by J. De Castro, *Geography of Hunger*.

3 W. Vogal, *Road to Survival*, p. 227.

भूमि की कम उत्पादकता—खाद्यान्न के अभाव का एक कारण भारत में भूमि की कम उत्पादकता भी है। इंग्लैंड में भारत से चौगुना उत्पादन प्रति एकड़ होता है। भारत की तुलना में गन्ने की फसल हवाई में 13 गुना, अमेरिका में ग्यारह गुना और क्यूबा में तीन गुना अधिक है। यहाँ प्रति एकड़ कम उत्पादन के कई कारण हैं, जैसे वैज्ञानिक पद्धति से कृषि न करना, उन्नत खाद व बीज का अभाव, सिंचाई के साधनों का अभाव, वर्षा की अनिश्चितता, भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन, ऋणग्रस्तता, दोषपूर्ण भूमि कानून आदि।

निम्न जीवन-स्तर—गरीबी व निम्न जीवन-स्तर के कारण भूमि पर दबाव बढ़ता है। अन्य देशों की तुलना में यहाँ प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। सम्पत्ति का वितरण भी असमान है। कई लोग भिक्षा द्वारा साधु-सन्यासी के रूप में जीवनयापन करते हैं। देश में जनसंख्या-वृद्धि 2.5% की दर से हुई है जबकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि 3% की दर से।

उपभोग का ढाँचा—भारत में 40 से 64% खर्च खाद्यान्न पर होता है फिर भी लोगों को अपर्याप्त भोजन ही मिलता है। यहाँ दो-तिहाई भारतीयों को सन्तुलित भोजन उपलब्ध नहीं हो पाता।

बेरोजगारी—हमारे यहाँ बेकारी व अर्द्ध-बेकारी अन्य देशों की तुलना में अधिक है। ग्रामीण क्षेत्र में लोग 4-5 महीने बेकार रहते हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में 53 लाख व्यक्ति बेकार थे जो चौथी योजना के अन्त तक 273 लाख हो गये।

जनसंख्या निरोध का अभाव—बढ़ती जनसंख्या को रोकने के लिए अविवाहित रहना, देर से विवाह करना, आत्म संयम रखना एवं ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है परन्तु भारत में विवाह एक अनिवार्य संस्कार माना जाता है। यहाँ माँ बनने की उम्र बनने तक चौथाई औरतों का विवाह हो जाता है। देश के अधिकांश लोगों में निरोधक साधनों के प्रचलन की कमी के कारण जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती जाती है।

उपरोक्त सभी तथ्यों के सन्दर्भ में निराशावादियों का मत है कि भारत में जनाधिक्य है।

आशावादी दृष्टिकोण

दूसरी ओर सरदार पणिक्कर, कालिन क्लार्क तथा रणदीव आदि का मत है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। वे इसकी पुष्टि के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं

(1) कृषि उपज में कमी—अन्य देशों की तुलना में भारत में कृषि उपज कम है। इसका कारण है खेती करने के प्राचीनतम तरीकों का प्रचलन तथा कृषि के नवीन साधनों, उन्नत बीजों एवं खादों के प्रयोग का अभाव आदि। यदि कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों का समुचित प्रयोग किया जाय तो उपज बढ़ाई जा सकती है।

हाँ हरित-क्रान्ति के परिणाम अत्यन्त ही सन्तोषजनक रहे हैं। अतः उपज में वृद्धि होने पर जनसंख्या की अधिकता भार-स्वरूप नहीं रहेगी।

(2) **अखाद्यान्न पदार्थों का उपयोग**—भारत में अधिकांश लोग अन्न पर ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं क्योंकि यहाँ अधिकतर लोग शाकाहारी हैं। यदि भोजन में माँस, मछली एवं अण्डे आदि का उपयोग बढ़ाया जाय तो अन्न की समस्या हल हो सकेगी। भारत में कुल मछली पालन के लगभग 30% भाग का ही हम उपयोग कर पाते हैं।

(3) **जनसंख्या का कम घनत्व**—सन् 1971 की जनगणना के अनुसार भारत का जनसंख्या का घनत्व 178 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। यदि हम इसकी तुलना इंगलैण्ड, बेल्जियम, जापान तथा जर्मनी से करें तो पायेंगे कि वहाँ जनघनत्व भारत का ड्योढ़ा एवं कहीं-कहीं दुगना तक है। अतः यहाँ प्रति वर्ग किलोमीटर जनघनत्व बढ़ाने की बहुत अधिक सम्भावना है।

(4) **प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि**—प्रति वर्ष भारत की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है। यदि भारत में जनाधिक्य होता तो ऐसा सम्भव नहीं था। डा० वी० के आर० वी० राव ने सन् 1931 में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय 65 रु० बताई थी। 1950-51 में राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार यह आय 256 रु० तथा योजना आयोग के अनुसार 1955-56 में 281 रु० थी। 1960-61 में यह आय 306 रु०, 1968-69 में 319 रु० एवं 1970-71 में 320 रु० के करीब थी। बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय के आँकड़े यह स्पष्ट करते हैं कि जनाधिक्य नहीं है और आने वाले समय में आय के बहुत अधिक बढ़ाये जाने की सम्भावना है। ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण होगा एवं कृषि में नवीन साधनों का प्रयोग होगा, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होगी। यद्यपि कुछ विद्वान इस वृद्धि को मुद्रा-प्रसार एवं महँगाई के कारण मानते हैं और उनके अनुसार वास्तविक आय मुद्रा की क्रय शक्ति कम होने के कारण गिर गई है।

(5) **जनसंख्या वृद्धि दर में कमी**—पश्चिमी देशों की तुलना में भारत में जनसंख्या-वृद्धि दर कम रही है। यदि हम अन्य देशों से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि सन् 1881 से 1931 तक के 50 वर्षों में अमेरिका में जनसंख्या-वृद्धि दर 186%, जापान में 74% तथा इंगलैण्ड में 54% थी जबकि भारत में 39%। जब इन देशों में इतनी वृद्धि-दर होने पर भी वहाँ जनसंख्या की समस्या नहीं है, तो फिर भारत में कैसे हो सकती है ? पर यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उन देशों में धनोपार्जन भी भारत की तुलना में अधिक बढ़ा है और जीवन-स्तर में भी वृद्धि हुई है।

(6) **प्राकृतिक साधनों का अपूर्ण दोहन**—भारत प्राकृतिक दृष्टि से एक सम्पन्न राष्ट्र है परन्तु इसकी प्राकृतिक सम्पदा का पूर्ण रूप में दोहन नहीं हुआ है। इसलिए ही अधिकांशतः कहा जाता है कि भारत एक सम्पन्न राष्ट्र है जिसमें गरीब

लोग निवास करते हैं। अत यह आवश्यक है कि जनसंख्या के बोझ को कम करने के लिए प्रचुर प्राकृतिक साधनों का पूरी तरह से दोहन किया जाय।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि वास्तव में भारत में जनाधिक्य नहीं है। वर्तमान में साधनों की सीमितता, देश में व्याप्त निर्धनता, बेकारी और निम्न जीवन-स्तर को देखते हुए कहा जा सकता है कि यहाँ वास्तव में जनाधिक्य है। यह सम्भव है कि भविष्य में जब देश में उपलब्ध साधनों का पूर्ण उपयोग होने लगे तो जनाधिक्य की समस्या नहीं रहे।

जनाधिक्य के प्रभाव

भारत में बढ़ती जनसंख्या या जनाधिक्य ने अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक कठिनाइयाँ पैदा कर दी हैं और देश के योजनाबद्ध विकास में बाधा उपस्थित की है। जनाधिक्य के कारण उत्पन्न विभिन्न समस्याएँ इस प्रकार हैं .

(1) **जनाधिक्य और आर्थिक विकास**—प्रो० कोलिन क्लार्क जनसंख्या-वृद्धि को देश के आर्थिक विकास के लिए हानिकारक मानते हैं क्योंकि बचत का अधिकांश भाग जनसंख्या पर खर्च होने से शुद्ध राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम रह जाती है। प्रो० विलार्ड की मान्यता है कि विकासशील राष्ट्रों की जनसंख्या की वृद्धि दर में कमी होने पर कुल आय में वृद्धि होती है क्योंकि इन देशों में आर्थिक परिस्थितियाँ विकास के अनुकूल नहीं हैं।

(2) **जनसंख्या-वृद्धि और पूँजी निर्माण**—जनसंख्या-वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति प्राकृतिक साधनों में भी कमी हो जाती है और उत्पादकता गिरती है। ऐसी परिस्थिति में पूँजी निर्माण का कार्य एक कठिन समस्या बन जाती है। जनाधिक्य वाले देशों में पहले से ही पूँजीगत भण्डार में वृद्धि करना असम्भव है क्योंकि वहाँ बचत नहीं हो पाती।

(3) **जनसंख्या-वृद्धि और खाद्य समस्या**—जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होने पर पिछड़े एवं विकासशील राष्ट्रों में जनसंख्या की माँग के अनुरूप पूर्ति नहीं हो पाती। अत वहाँ भुखमरी की समस्या पैदा होती है और विदेशों से अनाज मंगाना पड़ता है। साथ ही सन्तुलित भोजन प्राप्त न होने के कारण लोगों का पर्याप्त शारीरिक एव मानसिक विकास नहीं हो पाता है तथा अनेक बीमारियाँ पनपती हैं जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु-दर में वृद्धि होती है एव कार्यक्षमता गिरती है।

(4) **जनसंख्या एव मूल्य वृद्धि**—जनसंख्या के बढ़ने से वस्तुओं की प्रभावपूर्ण माँग में भी वृद्धि हो जाती है किन्तु उसी मात्रा में पूर्ति न होने पर वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। महँगाई के कारण आम परिवार अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करने में असमर्थ रहते हैं।

(5) **जनसंख्या-वृद्धि और शिक्षा**—जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ पिछड़े राष्ट्रों में निरक्षरों की संख्या के बढ़ने की सम्भावना रहती है। 5 से 14 वर्ष की आयु स्कूल

जाने की है और यहाँ सर्वाधिक जनसंख्या भी इसी आयु समूह में आती है। अतः जनसंख्या-वृद्धि शिक्षा के विस्तार की समस्या खड़ी कर देती है। इससे देश के लिए शिक्षा पर खर्च बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। तेजी से बढ़ती जनसंख्या को गुणात्मक दृष्टि से उत्तम प्रकार की शिक्षा सुविधायें भी उपलब्ध नहीं कराई जा सकती।

(6) जनसंख्या-वृद्धि और आवास समस्या—जनसंख्या-वृद्धि होने पर लोगों को बसाने और उनके लिए स्वास्थ्यप्रद मकानों की व्यवस्था करने की समस्या पैदा होती है। लोग काफी मात्रा में गाँवों से शहरों में आते हैं तथा वहाँ गन्दी बस्तियों एवं आवास की समस्याओं को बढ़ाने में योग देते हैं। शहरों में बढ़ती जनसंख्या के कारण वहाँ की विकास योजनाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। वहाँ पानी, बिजली, सफाई, यातायात, प्रशासन आदि की समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं।

(7) जनसंख्या-वृद्धि और बेरोजगारी—बढ़ती जनसंख्या किसी देश में बेकारी, अर्द्ध-बेकारी एवं छुपी बेकारी को जन्म देती है। जनसंख्या तो बढ़ती है किन्तु उसकी तुलना में उपलब्ध साधनों एवं पूँजी आदि की कमी के कारण अतिरिक्त श्रम की खपत नहीं हो पाती, फलतः बेकारी बढ़ती है।

(8) जनसंख्या-वृद्धि एवं जीवन स्तर—परिवार में जनसंख्या बढ़ने पर सीमित आय को ही सभी सदस्यों पर खर्च करना होता है। ऐसी स्थिति में सदस्यों के लिए भोजन, वस्त्र, शिक्षा, मनोरंजन, खेल-कूद आदि की सुविधायें समुचित रूप से नहीं जुटाई जा सकती। अतः जनसंख्या की अधिकता निम्न जीवन-स्तर के लिए उत्तरदायी है।

(9) जनसंख्या-वृद्धि और गरीबी—किसी देश में आवश्यकता से अधिक मात्रा में जनसंख्या में वृद्धि होने पर गरीबी बढ़ती है। प्रत्येक देश में प्राकृतिक साधन एवं भूमि सीमित मात्रा में होते हैं जिनका उपयोग अधिक जनसंख्या के लिए करने पर प्रति व्यक्ति साधनों की उपलब्धि कम होती जाती है। इसका प्रभाव राष्ट्रीय उत्पादन एवं राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय पर भी पड़ता है। फलतः देश में सामान्य गरीबी बनी रहती है। इसी प्रकार से परिवार में भी सदस्यों की संख्या अधिक होने पर सभी सदस्यों के लिए सन्तुलित भोजन, वस्त्र, मनोरंजन, शिक्षा आदि की व्यवस्था नहीं की जा सकती। बढ़ती जनसंख्या भिक्षा-वृत्ति को भी जन्म देती है।

(10) जनसंख्या-वृद्धि और अपराध—जब किसी देश में जनसंख्या-वृद्धि तीव्र गति से होती है तो सभी के भरण-पोषण के लिए साधन जुटा पाना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में देश में गरीबी और बेकारी बढ़ती है। साधनों के अभाव में लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपराध का सहारा लेते हैं, स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति अपनाती हैं तथा बच्चे अपराधी गिरोहों में सम्मिलित हो जाते हैं। जनसंख्या-वृद्धि के कारण लूटपाट, हत्या, आगजनी, तोड़-फोड़, आन्दोलन आदि होते हैं जो सामाजिक अशांति पैदा करते हैं।

(11) जनसंख्या-वृद्धि एवं परिवार का विघटन—परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ने पर नियन्त्रण की भी समस्या पैदा होती है। माता-पिता परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण की व्यवस्था के लिए घर से बाहर अर्जन करने चले जाते हैं तो बच्चे नियन्त्रण के अभाव में मनमानी करने लगते हैं। उनमें उच्छृंखलता पनपती है, पारिवारिक मूल्यों की अवहेलना की जाती है, सदस्यों में निराशा पैदा होती है और सत्ता की उपेक्षा होने लगती है। ये सभी स्थितियाँ परिवार में विघटन के लिए उत्तरदायी हैं।

(12) जनसंख्या वृद्धि और नागरिक समस्याएँ—जनसंख्या-वृद्धि औद्योगीकरण और नगरीकरण से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को जन्म देती है। लोग गाँव छोड़कर शहरों की ओर आने लगते हैं। परिणामस्वरूप उद्योगों एवं नगरों द्वारा जनित सामाजिक समस्याएँ पनपती हैं।

(13) जनसंख्या-वृद्धि और राजनीति—जनसंख्या-वृद्धि ने राजनीति को भी प्रभावित किया है। दो विश्व युद्धों के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी था कि जापान, इटली, जर्मनी एवं अन्य देशों की जनसंख्या बढ़ रही थी। अतः बढ़ती जनसंख्या को बसाने के लिए दूसरे देशों पर आक्रमण किया गया। इस प्रकार जनसंख्या-वृद्धि युद्ध, साम्राज्यवाद, क्रान्ति, पूँजीवाद आदि के लिए भी उत्तरदायी है। अधिक जनसंख्या प्रशासकों के सामने प्रशासनिक समस्याएँ पैदा कर देती है।

जनसंख्या को नियन्त्रित करने के उपाय

भारत में जनसंख्या-वृद्धि ने अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याएँ पैदा की हैं, अतः शीघ्रातिशीघ्र इस समस्या को हल करना आवश्यक है अन्यथा हमारे आर्थिक विकास की गति धीमी रहेगी और हमें जन-विस्फोट के परिणाम भुगतने होंगे। अलक घोष कहते हैं, भारत में सावधानीपूर्वक जनसंख्या नियोजन की शीघ्र आवश्यकता है अन्यथा जनसंख्या-वृद्धि हमारी आर्थिक वृद्धि को समाप्त कर देगी।[1] डा० चन्द्रशेखर[2] का अनुमान है कि सन् 1999 में भारत की जनसंख्या 90 करोड़ हो जायेगी। अतः यदि जनसंख्या-वृद्धि पर रोक नहीं लगी तो भरण-पोषण की विकट समस्या खड़ी हो जायेगी। इसलिए बढ़ती जनसंख्या को रोकना आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं :

(1) विवाह की आयु में वृद्धि—जनसंख्या-वृद्धि पर रोक लगाने के लिए बाल-विवाह पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया जाय तथा कानूनी रूप से विवाह की आयु बढ़ाकर लड़कियों की 21 वर्ष एवं लड़कों की 24 वर्ष कर दी जाय। अधिक

---

1 'Careful population planning is an urgent necessity in India or otherwise, population growth would tend to eat up economic growth in a marked manner.' —*Alak Ghosh, Indian Economy, its Nature and Problems*, p. 115.

2 *Ibid.*, p. 176.

आयु में विवाह होने से लड़कियों के प्रजनन काल का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पायेगा और जन्म लेने वाली सन्तानों की संख्या कम होगी।

(2) शिक्षा का प्रसार—अज्ञानता और गरीबी भी अधिक जनसंख्या के लिए उत्तरदायी है। लोगों को नियोजित परिवार के लाभों का ज्ञान करवाया जाय और शिक्षण संस्थाओं में यौन-शिक्षा प्रदान की जाय। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ परिवार का आकार भी छोटा होगा क्योंकि शिक्षित दम्पत्ति छोटे परिवार के लाभों को ध्यान में रखते हुए स्वयं ही परिवार नियोजन हेतु साधनों को अपनाने के लिए प्रेरित होंगे।

(3) गर्भपात—बढ़ती जनसंख्या को रोकने के लिए गर्भपात की छूट दी जानी चाहिए। इसके लिए गर्भपात के नियमों को और अधिक उदार बनाया जाय। वर्तमान में गर्भपात की छूट तीन परिस्थितियों में दी गयी है

(क) जब गर्भ धारण करना माँ के जीवन और स्वास्थ्य के लिए खतरा उत्पन्न करता हो।

(ख) जब अपंग सन्तान पैदा होने की सम्भावना हो।

(ग) मानवीय दृष्टिकोण से अर्थात् जब किसी लड़की के साथ जबरन यौन सम्बन्ध स्थापित किया गया हो।

सन् 1971 के मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रगनेन्सी एक्ट (Medical Termination of Pregnancy Act) के द्वारा राज्यों को यह अधिकार दिया गया है कि वे पंजीकृत डॉक्टरों को गर्भपात करने की आज्ञा प्रदान कर सकते हैं।

(4) संयम—जो लोग आत्म-संयम में विश्वास रखते हैं, वे जनसंख्या नियन्त्रण के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करने एवं आत्म-संयम रखने की सलाह देते हैं। किन्तु यह विधि कठिन है तथा सभी व्यक्तियों से इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

(5) मनोरंजन—मनोरंजन के साधनों में वृद्धि करके उन्हें सस्ते दर पर सभी लोगों को उपलब्ध कराया जाय। ऐसा होने पर यौन-सम्बन्धी आनन्द को ही मनोरंजन का एकमात्र साधन नहीं समझा जायेगा जिसके परिणामस्वरूप कुछ मात्रा में जनसंख्या नियन्त्रण हो सकेगा।

(6) भूमि व्यवस्था में सुधार—कई विद्वानों का विश्वास है कि यदि हमारी भूमि-व्यवस्था में सुधार हो जाय तो जनसंख्या समस्या बहुत कुछ सीमा तक हल हो जायेगी। कानूनी रूप से तो जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया जा चुका है परन्तु व्यवहार में अब भी यह किसी न किसी रूप में विद्यमान है और इसी कारण किसानों की आर्थिक स्थिति दयनीय है। भूमि की चकबन्दी और उचित वितरण, तथा, कृषि में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग आदि इस समस्या को हल करने में बहुत कुछ योग दे सकते हैं।

(7) औद्योगीकरण—कुछ विद्वानों ने औद्योगीकरण को जनसंख्या समस्या की रामबाण दवा माना है। भारत में औद्योगीकरण का क्षेत्र विस्तृत है और काफी जनसंख्या इसमें खप सकेगी। जिस तरह से 19वीं सदी में इंगलैण्ड और यूरोप में औद्योगीकरण और खाद्य-सामग्री के आयात ने बढ़ती जनसंख्या की समस्या को हल किया था, वैसी ही सम्भावना भारत के लिए भी है। फिर भी भारतीय परिस्थितियों में सम्भवतः ये उपाय उतने कारगर सिद्ध न हों क्योंकि दोनों की परिस्थितियों में अन्तर है। औद्योगीकरण ने हमारे यहाँ कुटीर व्यवसायों में लगे व्यक्तियों को काफी मात्रा में बेकार कर दिया है। भारत की अधिकांश जनसंख्या निर्धन है और उनकी औद्योगिक माँगें कम हैं। अतः औद्योगीकरण एवं जनसंख्या की समस्या परस्पर पूरक नहीं हैं।

(8) समाजवाद—रूस में समाजवादी पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने भारत में भी समाजवाद को जनसंख्या समस्या के निवारण का अचूक इलाज माना है। अब तक रूस ने योजनाबद्ध निर्माण से जो प्रगति की है वह प्रशंसनीय है। वहाँ कृषि, विज्ञान, उद्योग एवं आर्थिक क्षेत्र में तीव्र वृद्धि हुई है। साथ ही साथ जनसंख्या भी खूब बढ़ी है। वहाँ के समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ बढ़ती जनसंख्या को आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक मानते हैं। इसके लिए वहाँ कई प्रलोभन भी दिये गये हैं। परन्तु भारत में समाजवाद ही बढ़ती जनसंख्या के लिए एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। रूस का क्षेत्रफल भारत से आठ गुना अधिक है तथा दोनों देशों की परिस्थितियों में भी पर्याप्त भिन्नता है।

(9) देशान्तरण—प्रतिवर्ष भारत से लोगों को दूसरे देशों में भेजकर, उनके विदेश जाने को प्रोत्साहन देकर तथा विदेशी लोगों के आगमन पर रोक लगा कर भी जनसंख्या समस्या को हल करने का प्रयास किया जा सकता है। किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि औसत भारतीय अपना देश छोड़कर बाहर जाना पसन्द नहीं करता क्योंकि सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नता एवं सामाजिक मूल्य इसमें बाधक हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और अनुकूल वातावरण के अभाव में भी यह उपाय कारगर सिद्ध नहीं हो पायेगा। विदेश जाने का एक दुष्परिणाम भी सामने आया है कि विदेश जाने वाले लोगों में अधिकांशतः बुद्धिजीवी वर्ग के लोग जैसे प्राध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर तथा व्यवसायी हैं। परिणामस्वरूप देश में उद्यमी एवं बुद्धिजीवी लोगों की कमी का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

(10) परिवार नियोजन—जनसंख्या नियन्त्रण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधि परिवार नियोजन के साधनों का प्रयोग है। नियोजित परिवार के लिए कम सन्तानें और एक निश्चित अवधि के पश्चात् सन्तानें होना अच्छा माना गया है। परिवार नियोजन के अन्तर्गत अवांछित गर्भ को रोकने, वान्ध्यकरण करने, सुरक्षित

काल (safe period) का उपयोग करने एवं दवाओं, लूप, निरोध तथा जैली आदि के प्रयोग की सलाह दी जाती है। हम यहाँ परिवार नियोजन पर पृथक् से विचार करेंगे।

परिवार नियोजन
(FAMILY PLANNING)

बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए नियन्त्रण के अन्य साधनों की उपयोगिता में तो शंका नहीं की जा सकती लेकिन क्या वे साधन वास्तव में इस ओर महत्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे, यह दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता। अतः परिवार नियोजन जिसे आजकल परिवार कल्याण का नाम दिया गया है, ही एकमात्र कारगर साधन है जो बढ़ती जनसंख्या की समस्या को हल कर पायेगा। परिवार नियोजन का उद्देश्य गर्भ-निरोधक साधनों का प्रचार एवं प्रसार करके जनता को उनका ज्ञान करवाना है जिससे कि विवाहित दम्पति वांछित सन्तानों को ही जन्म दे सकें तथा एक सुनियोजित एवं नियन्त्रित परिवार की रचना की जा सके। परिवार नियोजन कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य देश में अनुकूलतम जनसंख्या (optimum population) के स्तर को बनाये रखना है। अनुकूलतम जनसंख्या स्तर वह है जो देश में अधिकतम उत्पादन, उच्च जीवन स्तर, राजनैतिक स्थिरता, आर्थिक सुरक्षा, पर्याप्त स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक मूल्यों को प्राप्त करने में सहायता देता है।

परिवार-नियोजन के द्वारा जनसंख्या नियन्त्रण के लिए अनेक साधन अपनाये गये हैं जिनका उद्देश्य गर्भ निरोध और गर्भपात है। इनमें से प्रमुख निम्न हैं :

(1) मौखिक गर्भ निरोधक गोलियाँ—इन्हें महीने में 20 दिन सेवन करना पड़ता है। भारत में इनकी कीमत अधिक होने तथा ग्रामीणों द्वारा इसे नियमित रूप से सेवन न कर पाने एवं गोलियों के अनुचित प्रभाव के कारण इनका प्रचलन अधिक नहीं हो पाया है।

(2) लूप—इसका उपयोग स्त्रियों के लिए किया जाता है।

(3) *निरोध*—ये पुरुषों के लिए सस्ते दामों और व्यापक मात्रा में प्रयोग के लिए उपलब्ध कराये गये हैं।

(4) कृत्रिम तरीके जैसे क्रीम, जैली, फेनिल गोलियाँ आदि।

(5) बांध्यकरण आपरेशन।

(6) यौन शिक्षा देकर।

(7) परिवार नियोजन सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार द्वारा।

(8) गर्भपात।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में परिवार नियोजन

परिवार नियोजन पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में 70 लाख रुपये खर्च किये गये जो बहुत ही कम धनराशि थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 3 करोड़ रुपये

परिवार नियोजन पर खर्च किये गये। इस योजना में परिवार नियोजन से सम्बन्धित कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने का कार्य किया गया। शहरी क्षेत्रों में 549 एवं ग्रामीण क्षेत्रों में 1100 क्लीनिक खोले गये। तृतीय पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन पर 27 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 135 करोड़ रुपये खर्च करने की योजना थी। इस योजना काल में परिवार नियोजन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। 315 करोड़ रुपये में से 235 करोड़ रुपये ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के क्लीनिकों में खर्च करने एवं बन्ध्याकरण कराने वालों को क्षतिपूर्ति के रूप में देने के लिए रखे गये। शेष 80 करोड़ रुपये प्रशिक्षण, अनुसंधान, प्रसार, संगठन पूर्ति एवं मूल्यांकन के लिए रखे गये। सरकार ने गर्भपात के नियमों को भी उदार बनाया है। इस दृष्टि से सन् 1971 में Medical Termination of Pregnancy Act पारित किया गया जो 1 अप्रैल, 1972 से लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार राज्य सरकारें एक बोर्ड बनायेंगी जो पंजीकृत डाक्टरों को गर्भपात करने का अधिकार देगा। परिवार नियोजन कार्यक्रम पर 1976-77 में 156 करोड़ 54 लाख रुपये खर्च आने का अनुमान लगाया गया जो बजट के मूल अनुमानों से 76 करोड़ रुपये अधिक है। इस वृद्धि का कारण नसबन्दी के कार्यक्रम में तेजी आना तथा तत्सम्बन्धी प्रोत्साहन तथा पुरस्कार राशि में वृद्धि होना बताया गया है।[1]

परिवार नियोजन के विभिन्न साधनों द्वारा 1973-74 में जन्म दर घटाकर 25 व्यक्ति प्रति हजार प्रतिवर्ष के लक्ष्य को प्राप्त करना था। इसी वर्ष परिवार नियोजन के साधनों से 2 करोड़ 80 लाख दम्पतियों के लाभान्वित होने की सम्भावना थी तथा देश की जनसंख्या में 1 करोड़ 80 लाख की वृद्धि को रोकना था। जून 1975 में सम्पूर्ण देश में संकट काल की स्थिति की घोषणा कर दी गयी। इस काल में श्री संजय गाँधी ने अपने 5-सूत्री कार्यक्रम के दौरान परिवार नियोजन पर विशेष जोर दिया। किन्तु इस योजना में लोगों के साथ कुछ ज्यादतियाँ हुईं और जबरन नसबन्दी को लोगों द्वारा पसन्द नहीं किया गया। मार्च, 1977 में होने वाले चुनावों में कांग्रेस की पराजय के अनेक कारणों में से एक कारण परिवार नियोजन से सम्बन्धित ज्यादतियाँ भी रहा है। इससे स्पष्ट है कि परिवार नियोजन का कोई भी कार्यक्रम लोगों की भावनाओं को ध्यान में रखकर ही लागू किया जाना चाहिए अन्यथा उसे जन-समर्थन नहीं मिल पायेगा। वर्तमान केन्द्रीय सरकार ने परिवार नियोजन विभाग का नाम बदलकर परिवार कल्याण विभाग कर दिया है।

परिवार नियोजन एवं जनसंख्या-वृद्धि को रोकने के मार्ग में बाधायें

(1) हमारे यहाँ पुत्र-प्राप्ति को विशेष महत्व दिया गया है। पुत्र ही पिता को स्वर्ग प्रदान करता है तथा एक व्यक्ति पुत्र को जन्म देकर अपने पितृ-ऋण से

---

1 राजस्थान पत्रिका, 4 अप्रैल, 1977

उत्पन्न होता है। अतः जब तक किसी को पुत्र प्राप्त नहीं होता वह लड़कियों की संख्या बढ़ाता रहता है। हमारे यहाँ लड़की की तुलना में लड़के को अधिक महत्त्व दिया गया है। कई बार लड़की के जन्म को अपशकुन माना जाता है और उन्हें डिग्रो के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

(2) परिवार नियोजन से सम्बन्धित कार्यकर्ताओं के पूर्ण प्रशिक्षित न होने के कारण वे लोगों को समझाने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाते।

(3) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बन्ध्यकरण के आपरेशन के सफल होने के बाद में भी सन्तान हो जाती है। ऐसी स्थिति में दम्पत्ति की प्रतिष्ठा को ठेस लगती है और स्त्री-पुरुषों में तनाव एवं तलाक तक हो जाता है। आपरेशन करते समय असावधानी के कारण आपरेशन के बिगड़ने पर अन्य लोग भी हतोत्साहित होते हैं।

(4) धार्मिक रूढ़ियाँ भी परिवार नियोजन एवं जन्म-निरोध में बाधक हैं। कई व्यक्ति जन्म-निरोध को पाप समझते हैं। उनका मत है कि सन्तानोत्पत्ति ईश्वरीय देन है। अतः उसे रोका नहीं जाना चाहिए।

(5) भाग्यवादी होने के कारण भारतीयों का यह विश्वास है कि हर व्यक्ति को अपने भाग्य में जो लिखा होता है, वह मिलकर ही रहता है। अतः नया जन्म लेने वाला प्राणी भी अपने भाग्य के अनुसार कुछ न कुछ तो प्राप्त करेगा ही। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ दो हाथ एवं दो पाँव लेकर जन्मता है जिससे कि वह परिश्रम करके अपना पेट पाल सकता है।

(6) कुछ लोगों की दलील है कि अधिक सन्तानें होने पर बाद वाली सन्तानें बुद्धिमान, वैज्ञानिक एवं राजनीतिज्ञ आदि होती हैं। इसके लिए वे रवीन्द्रनाथ टैगोर, आइन्सटीन आदि का उदाहरण देते हैं। यदि इनके पिता परिवार नियोजन कर लेते तो विश्व को ये महान विभूतियाँ प्राप्त नहीं होतीं। किन्तु इसे हम अपवाद ही कह सकते हैं। ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जिनमें बाद वाली सन्तानों की तुलना में पहले वाली सन्तानें सुयोग्य थीं।

(7) अशिक्षा के कारण कृत्रिम साधनों को अपनाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। साथ ही इन साधनों को अपनाने में पत्नी की अपेक्षा पति के विचार महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि पुरुष प्रधान समाज होने के कारण हमारे यहाँ पति के विचारों का ही प्रभुत्व पाया जाता है। अतः यदि पत्नी परिवार नियोजन चाहे और पति नहीं चाहे तो ऐसी स्थिति में भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

(8) जनसंख्या-वृद्धि का कृषि व्यवस्था से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे यहाँ कृषि पुराने तरीके से होती है जिसमें अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। मजदूरों द्वारा कृषि करना महँगा कार्य है। इसलिए परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ही यह कार्य किया जाता है। अतः जब तक कृषि में क्रान्ति नहीं लायी जाती तब तक यह जनसंख्या-वृद्धि को रोकने में बाधक रहेगी।

(9) परिवार नियोजन के साधनों में वन्ध्याकरण का आपरेशन सबसे अधिक विश्वसनीय साधन है। किन्तु श्रमिकों एवं कृषि कार्य करने वाले लोगों का मत है कि इस आपरेशन के बाद वे शारीरिक श्रम नहीं कर सकते। ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन के कार्यक्रमों के विरोध का सबसे बड़ा कारण यह विश्वास रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस बारे में वैज्ञानिक खोज के आधार पर सही तथ्यों की जानकारी जनता को दी जाय।

(10) कुछ लोग परिवार नियोजन को अनैतिक एवं भ्रष्ट तरीका मानते हैं क्योंकि कृत्रिम साधनों के उपयोग से गर्भ रहने का भय नहीं रहेगा और इससे भ्रष्टाचार के बढ़ने की अधिक सम्भावना रहेगी। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि स्वस्थ पोषण एवं शिक्षण के साधनों की सर्वथा उपेक्षा कर बच्चों की निर्बाध गति से वृद्धि कहाँ की नैतिकता है?

(11) परिवार नियोजन के प्रति हिन्दुओं की तुलना में मुसलमान अधिक उदासीन हैं। इसके पीछे उनकी भ्रामक धार्मिक मनोवृत्ति है। अतः उन्हें भी इस बात के लिए समझाया जाय कि कोई भी धर्म निर्बाध गति से सन्तान पैदा करने की प्रेरणा नहीं देता।

उपरोक्त सभी बाधाओं को प्रयत्नपूर्वक हल किया जा सकता है। जनसंख्या नियन्त्रण का एकमात्र व्यावहारिक हल गर्भ निरोध के कृत्रिम साधनों को अपनाया ही है। इससे हमारी जन्म दर घटेगी, जीवन अवधि में वृद्धि होगी, प्रजनन-काल में होने वाली मृत्यु की दर घटेगी तथा दम्पत्ति के स्वास्थ्य और जीवन-स्तर पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

परिवार नियोजन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण

परिवार नियोजन के कार्यक्रम को अधिकाधिक सफल बनाने एवं उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए निम्नांकित उपाय किये जा सकते हैं :

(1) शिक्षा का प्रसार किया जाय ताकि पढ़े-लिखे लोग स्वयं ही परिवार नियोजन अपनायें। ऐसा होने पर उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा, विवाह की आयु बढ़ेगी जिसके परिणामस्वरूप सन्तानोत्पत्ति कम होगी।

(2) विवाह की आयु बढ़ाकर लड़कों की 24 और लड़कियों की 21 वर्ष कर दी जाय।

(3) सामाजिक सुरक्षा की योजनायें प्रारम्भ की जायें जिसमें बीमारी, वृद्धावस्था, असहाय अवस्था, बेकारी, दुर्घटना आदि के समय लोगों को आर्थिक संरक्षण प्रदान किया जाय। फलस्वरूप व्यक्ति की परिवार पर निर्भरता कम होगी और वह अधिक सन्तानों को जन्म नहीं देगा।

(4) कृषि व औद्योगिक उत्पादन में नवीन वैज्ञानिक साधनों को बढ़ावा दिया जाय जिससे इन कार्यों में अधिक लोगों की आवश्यकता न होने पर व्यक्ति स्वयं सीमित परिवार रखने के बारे में सोचेंगे।

(5) परिवार नियोजन विभाग के कार्यकर्ता दक्ष एवं प्रशिक्षित हों तथा अच्छे कार्यकर्ताओं को पुरस्कार देकर प्रोत्साहित किया जाय।

(6) आपरेशन आदि कार्यों में पूर्ण सावधानी बरती जाय।

(7) परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को अपनाने के लिए लोगों को प्रोत्साहन दिया जाय।

(8) प्रचार एवं प्रसार द्वारा जनता को परिवार नियोजन के साधनों एवं कार्यक्रमों की वैज्ञानिक जानकारी प्रदान की जाय। इसके लिए रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं एवं साहित्य का सहारा लिया जाय।

(9) लड़के एवं लड़की के बीच सामाजिक भेद समाप्त किये जायें ताकि लड़के की आशा में निर्बाध गति से लड़कियों की उत्पत्ति रुक सके।

(10) गर्भपात सम्बन्धी नियमों को और अधिक उदार बनाया जाय जिससे गर्भपात सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि की जा सके।

(11) कानून के माध्यम से परिवार को सीमित करने का प्रयास किया जाय।

(12) परिवार नियोजन को अधिकाधिक सफल बनाने के लिए दोषपूर्ण व्यक्तियों का वन्ध्याकरण कराया जाय।

(13) मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों की अधिकाधिक स्थापना की जाय।

(14) अविवाहित एवं कम बच्चे वाले परिवारों को करों में छूट दी जाय।

(15) रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया जाय।

(16) गर्भ-निरोधक दवाओं को कम कीमत पर एवं सरलता से उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाय।

(17) परिवार नियोजन सम्बन्धी वैज्ञानिक अनुसन्धानों को बढ़ावा दिया जाय।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि जनसंख्या वृद्धि को सीमित करने के लिए परिवार नियोजन एक कारगर साधन है। परन्तु परिवार नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक है कि मानवीय कारकों की अवहेलना न की जाय। परिवार नियोजन कार्यक्रम में लगे लोगों को ईमानदारी के साथ अपने दायित्व का निर्वाह करना है ताकि यह कार्यक्रम सफल हो सके और तीव्र जनसंख्या-वृद्धि को रोका जा सके। यदि हम आगामी सकटों से बचना चाहते हैं, राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि, जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, गरीबी दूर करना, दुख-दैन्य एवं पीड़ाएँ घटाना, समाज में शान्ति व्यवस्था कायम तथा जच्चा-बच्चा के जीवन को सुखी एवं स्वस्थ करना चाहते हैं, तो सबकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी। ऐसा सब कुछ करने के लिए हमें परिवार नियोजन को सफल बनाना होगा।

प्रश्न

1. भारत में जनसंख्या विस्फोट को एक सामाजिक समस्या के रूप में स्पष्ट कीजिए।
2. भारत में जनसंख्या की अनियन्त्रित वृद्धि के कारणों को समझाइए।

3. भारत में जनसंख्या विस्फोट के परिणामों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
4 भारत में जनसंख्या को नियन्त्रित करने में समाजशास्त्रीय बाधकों का विवरण दीजिए।
5 भारत में जनसंख्या-वृद्धि और निर्धनता के मध्य सम्बन्ध बताइए।
6 भारत में जनसंख्या-वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए अपनाये गये उपायों का विवरण दीजिए।
7 भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या के नियन्त्रण में परिवार नियोजन के कार्यक्रम की सफलता का मूल्यांकन कीजिए।
8 जनसंख्या-वृद्धि को नियन्त्रित करने में हमारी सरकार द्वारा आरम्भ किये गये कार्यक्रमों का विवरण दीजिए।
9 क्या आप मानते हैं कि भारत एक अत्यधिक जनसंख्या वाला देश है? तर्क दीजिए।
10 भारत में जनसंख्या-वृद्धि के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारणों का विश्लेषण कीजिए।

9

गरीबी

निर्धनता
(POVERTY)

"निर्धनता एक सामाजिक एवं आर्थिक समस्या है। इसकी उत्पत्ति और स्वरूप बड़ा जटिल है। विश्व के सम्मुख गरीबी की समस्या एक सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक चुनौती है।"[1] गरीबी एक सर्वव्यापक समस्या है और समृद्ध देश भी इसकी चपेट से नहीं बच सके हैं। विश्व में गरीब देशों की संख्या इतनी है कि उन्हें 'तीसरी दुनिया' के नाम से पुकारा जाता है। तीसरी दुनिया के लोगों को अच्छा भोजन, वस्त्र एवं मकान उपलब्ध नहीं हैं। भारत में भी ऐसे कई परिवार हैं जो औसत दर्जे का जीवन भी व्यतीत नहीं कर पाते। वे गरीबी से भयंकर रूप से पीड़ित हैं। वे सड़कों और फुटपाथों पर अपना दम तोड़ते हैं, भीख मांग कर जीवन व्यतीत करते हैं तथा लोगों की दया पर ही जीवित रहते हैं। ऐसी गरीबी भूख और मौत को जन्म देती है। यदि हम विश्व इतिहास पर एक नजर डालें तो पायेंगे कि कभी भी ऐसा युग नहीं रहा है जब समाज में गरीबी नहीं रही हो। किन्तु प्राचीन समय में गरीबी भयंकर समस्या नहीं थी। तब गरीब और अमीर में इतना भेद नहीं था कि गरीबों को जीवन के आवश्यक भौतिक मूल्य—रोटी, कपड़ा और मकान—भी प्राप्त न होते हों और दूसरी ओर अमीर लोग पूर्ण ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करते हों, कीमती वस्त्रों में ढके तथा गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में निवास करते हों। आज गरीब और अमीर के बीच एक बहुत बड़ी खाई दिखाई देती है। इस भीषण विषमता और समस्या को जन्म देने में औद्योगिक क्रान्ति का विशेष हाथ रहा है। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में तीव्र आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन किये हैं। मशीनीकरण ने जहाँ एक ओर समाज में प्रचुर साधन उपलब्ध कराये हैं और समृद्धि को बढ़ावा दिया है, वहीं दूसरी ओर एक तीसरी दुनिया भी खड़ी कर दी है जो गरीबी और अभावों से त्रस्त है। औद्योगीकरण और मशीनीकरण का शुभारम्भ आज के तथाकथित सभ्य और पश्चिमी देशों में हुआ। उन्होंने अपनी औद्योगिक मांगों के लिए एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका

1. B. N. Ganguli, *The Challenge of Poverty in India*. p. 1.

आदि महाद्वीपों के देशों को अपना उपनिवेश बनाया, उन पर अपना साम्राज्य स्थापित किया तथा वहाँ के प्राकृतिक स्रोतों का शोषण किया। प्राकृतिक भण्डारों के खाली होने के साथ-साथ उन देशों में गरीबी बढ़ी। आज विश्व स्पष्टतः दो भागों में विभाजित दिखाई पड़ता है—एक तरफ वे देश हैं जो सम्पन्न हैं और दूसरी तरफ वे देश जो गरीबी से ग्रस्त हैं।

गरीबी को दूर करने के लिए अनेक योजनाबद्ध उपाय किये गये हैं। गरीबी के कारणों को ढूँढ कर उन्हें दूर करने के प्रयास किये जा रहे हैं परिणामस्वरूप लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि हुई है। स्वयं गरीब भी अपनी हीन दशा के प्रति जागरूक हुए हैं और वे इस भयंकर समस्या से मुक्ति पाने के लिए सजग और प्रयत्नशील हैं। गरीबी के अनेक सामाजिक और आर्थिक प्रभाव पड़ते हैं। अतः यह केवल आर्थिक समस्या ही नहीं वरन् एक सामाजिक समस्या भी है। हम यहाँ गरीबी की परिभाषा, अर्थ, माप, विस्तार, कारण और निवारण के उपायों का उल्लेख करेंगे।

गरीबी की अवधारणा
(THE CONCEPT OF POVERTY)

गरीबी एक आर्थिक स्थिति है किन्तु यह एक सामाजिक पद को भी प्रकट करती है क्योंकि एक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का घनिष्ट सम्बन्ध सामाजिक श्रेणी और वर्ग से भी है।[1] गरीबी और अमीरी तुलनात्मक शब्द है। साधारण भाषा में गरीबी का अर्थ आर्थिक असमानता, आर्थिक पराश्रितता और आर्थिक अकुशलता से लिया जाता है। गरीबी को केवल आर्थिक अभाव के रूप में प्रकट करना इसका संकुचित अर्थ है।[2] गरीबी की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार से दी गई हैं :

गिलिन और गिलिन के अनुसार "गरीबी वह दशा है जिसमें एक व्यक्ति या तो अपर्याप्त आय अथवा मूर्खतापूर्ण व्यय के कारण अपने जीवन-स्तर को इतना ऊँचा नहीं रख पाता कि उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता बनी रह सके और उसको तथा उसके प्राकृतिक आश्रितों को अपने समाज के स्तरों के अनुसार उपयोगी ढंग से कार्य करने के योग्य बनाये रख सके।"[3] गिलिन एवं गिलिन ने गरीबी का सम्बन्ध जीवन-स्तर से जोड़ा है। जब व्यक्ति की आय अपर्याप्त हो या उसे उचित ढंग से खर्च नहीं करता हो तो ऐसी स्थिति में वह अपने जीवन-स्तर को बनाये नहीं रख सकता। जीवन-स्तर के गिरने पर व्यक्ति की स्वयं की और उस पर निर्भर लोगों की शारीरिक और मानसिक क्षमता भी प्रभावित होती है। निम्न जीवन-स्तर के कारण व्यक्तियों की कार्यक्षमता घट जाती है।

1 Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 754

2 *Ibid.*, p. 758

3 "Poverty is the condition in which a person, either because of inadequate income or unwise expenditures, does not maintain a scale of living high enough to provide for his physical and mental efficiency and to enable him and his natural dependents to function usefully according to the standard of the society of which he is a member." —*Ibid.*, p. 753

वीवर भी गरीबी को ऐसे जीवन-स्तर के रूप में परिभाषित करते हैं जिसमें व्यक्ति की शारीरिक क्षमता उचित स्तर तक नहीं बनी रहती। वे लिखते हैं, "गरीबी एक ऐसे जीवन स्तर के रूप में परिभाषित की जा सकती है जिसमें स्वास्थ्य और शरीर सम्बन्धी दक्षता नहीं बनी रहती।"[1]

फेडरल रिसर्व बैंक फिलाडेलफिया की बुलेटिन में गरीबी का मानव की उत्पादन क्षमता के उचित उपयोग न होने के रूप में परिभाषित किया गया है। उसमें लिखा है, गरीबी का अर्थ है मानव में निहित उत्पादन स्रोतों का अपव्यय।"[2] गोडार्ड गरीबी को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि 'गरीबी उन वस्तुओं की अपर्याप्त पूर्ति की दशा है जिनकी एक व्यक्ति को अपने तथा अपने आश्रितों के स्वास्थ्य एवं शक्ति को बनाये रखने के लिए आवश्यकता होती है।'

डा० योगेश अटल ने गरीबी को तुलनात्मक दृष्टि से राष्ट्रीय आय से वंचित रहने के रूप में परिभाषित किया है। वे लिखते हैं, "गरीबी की अवधारणा का सम्बन्ध सापेक्ष रूप में वंचित रहने के तथ्यों से है।"[3] जब हम राष्ट्रीय आय की चर्चा करते हैं तब इसका यह अर्थ नहीं होता है कि वह आय देश के सभी लोगों में समान रूप से वितरित होती है। राष्ट्रीय आय में से जिन लोगों को कम हिस्सा मिलता है, गरीब और जिन्हें अधिक हिस्सा मिलता है, धनवान वर्ग में आते हैं। इस दृष्टि से भी गरीबी एक तुलनात्मक तथ्य है।

गरीबी आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी एक सापेक्ष शब्द है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह गरीब है तो इसका अर्थ यह है कि वह उन सभी वस्तुओं को नहीं खरीद सकता है जिसकी वह इच्छा करता या पसन्द करता है। अतः वस्तुओं को चुनने एवं पसन्द करने की सीमा के रूप में भी गरीबी को परिभाषित किया जा सकता है। आय की दृष्टि से गरीब लोगों की आय इतनी ही होती है कि वे अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को ही जुटा पाते हैं, सुविधाओं और ऐश्वर्य की वस्तुओं को नहीं।

गरीबी एक सापेक्ष शब्द है। इसका अर्थ यह भी है कि एक देश में जिसे हम गरीब कहेंगे, उसे दूसरे देश में धनवान कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि गरीबी का निर्धारण उस देश की प्रथाओं और जीवन-स्तर के आधार पर होता है। भारत में गरीबी की रेखा वह नहीं है जो अमेरिका और इंगलैण्ड में है। प्रत्येक देश में साधनों के अनुसार जीवन-स्तर का एक आदर्श स्थापित कर लिया जाता है और सभी व्यक्ति उसी आदर्श को पाने का प्रयास करते हैं। जीवन-स्तर के आदर्श से नीचे

1 'Poverty may be defined as a plane of living that does not provide for health and physical efficiency." —W. W. Weaver, *Social Problems*, p. 638.

2 "Poverty means a waste of potentially productive human resources." —A Booklet by *Federal Research Bank of Philadelphia*.

3 "Poverty is concept that refers to the phenomenon of relative deprivation." —Y. Atal. *Role of Values and Institutions, Challenge of Poverty in India*, (ed.) by A. J. Fonesca, p. 92.

जीवन व्यतीत करने वालों को गरीब और उससे ऊँचा जीवन व्यतीत करने वालों को धनवान कहा जाता है। कभी-कभी हमारे पास उस जीवन-स्तर को पाने के लिए पर्याप्त साधन तो होते हैं किन्तु उनका अपव्यय किया जाता है, तब भी गरीबी बनी रहती है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति अपनी आय को शराब और जुआ खेलने में उड़ा देता है और अपनी भोजन, वस्त्र व मकान की आवश्यकता को पूरा नहीं करता है तब भी वह गरीबी की अवस्था कहलायेगी।

गरीबी दो देशों की तुलना में ही नहीं वरन् एक ही देश में भी विभिन्न वर्गों, समूहों, जातियों, क्षेत्रों, प्रान्तों, व्यवसायों, संस्कृतियों आदि की दृष्टि से भी सापेक्ष शब्द है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न जातियों, वर्गों, प्रान्तों, संस्कृतियों तथा व्यवसायों में जीवन-स्तर का जो आधार हरिजनों का है वही व्यापारियों का नहीं होगा, जो आधार श्रमिकों का है वही पूँजीपतियों का नहीं होगा, जो आदिम जातियों का है वही शहरी लोगों का नहीं है, जो पंजाब का है वही राजस्थान, केरल या मद्रास का नहीं होगा। गरीबी का सम्बन्ध एक समूह में जीवन जीने के पैमाने से है। एक संस्कृति में गरीबी के माप का जो आधार है उसे हम दूसरी संस्कृति पर लागू नहीं कर सकते। गरीबी का सम्बन्ध एक ही सांस्कृतिक समूह में तुलनात्मक है और उसी आधार पर व्यक्ति की स्थिति तय की जाती है कि वह गरीब है या अमीर।[1]

वस्तुतः गरीबी का सम्बन्ध जीवन-स्तर से है। यह जीवन-स्तर भी प्रत्येक समाज में अलग-अलग है। जीवन-स्तर को निर्धारित करने वाले प्रमुख तीन कारक हैं—प्रथायें, निर्णय और बुद्धिमत्ता, तथा आय। इनमें भी आय अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि निम्न श्रेणी के परिवारों में तो आय इतनी कम होती है कि उनके सामने किसी वस्तु की पसन्दगी और निर्णय का प्रश्न नहीं उठता। वे बचत ही नहीं कर पाते। इस अर्थ में हम गरीबी को ऐसी दशा के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसमें वित्तीय बचत नहीं होती।[2]

प्रथाएँ भी समूह और समुदाय के लोगों का जीवन-स्तर तय करती हैं। भोजन की आदतों व परिवार के बजट पर भी इनका प्रभाव होता है। हम चावल, मक्का, माँस, अंडे, शाकाहारी और माँसाहारी भोजन में से क्या खायेंगे, यह प्रथायें तय करती हैं। ब्राह्मण शाकाहारी भोजन करते हैं तो क्षत्रिय माँसाहारी। हर समाज में खान-पान से सम्बन्धित ही नहीं वरन् वस्त्रों से सम्बन्धित भी प्रथायें हैं। विभिन्न त्यौहारों, उत्सवों और दैनिक जीवन में हमारी वस्त्र शैली क्या होगी—यह भी प्रथायें तय करती हैं। हम सदा वस्त्र धारण शारीरिक रक्षा, सुविधा तथा आर्थिक स्थिति के आधार पर ही नहीं करते वरन् प्रथाओं को ध्यान में रखकर भी करते हैं। डाक्टर

1 Gillin and Gillin, *op. cit.*, p. 78.

2 "Poverty is by definition a condition from which financial surpluses are absent." —W. W. Weaver, *op. cit.*, p. 645.

दूल्हे, सिपाही, पुलिस और रेलवे कर्मचारी की पोशाक में अन्तर प्रथाओं व नियमों के कारण ही है। इनकी अवहेलना करने पर दंड, जुर्माने एवं निंदा का भय रहता है।

व्यक्ति की पसंद और नापसंद को तय करने में उसकी बुद्धि और निर्णय लेने की क्षमता का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। कौन-सी वस्तुएँ खरीदी जायें, किसे प्राथमिकता दी जाय—यह सब निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से ही लिये जाते हैं। अच्छी प्रैक्टिस चलने वाले डाक्टर के लिए कार जरूरी हो सकती है। साधारण डाक्टर के लिए स्कूटर ही पर्याप्त होता है। कुछ लोग उधार वस्तुएँ लाकर घर बसाना चाहेंगे तो कुछ नहीं। इस प्रकार उपलब्ध साधनों का उचित उपभोग ही सही निर्णय है।

आय ही जीवन-स्तर को तय करने में मुख्य कारक है। कम आय होने पर मूल आवश्यकताएँ पूरी की जायेंगी जबकि अधिक आय होने पर मनोरंजन, फैशन, कीमती वस्त्र, फर्नीचर और अन्य सुविधाओं पर खर्च किया जायेगा। आय का सम्बन्ध परिवार में सदस्यों की संख्या और कमाने वालों की संख्या से भी है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गरीबी एक सापेक्ष शब्द है जिसका सम्बन्ध किसी समाज, संस्कृति, देश, समूह तथा व्यवसाय में प्रचलित जीवन-स्तर के आदर्श से है। किसी भी समाज में जीवन-स्तर का यह आदर्श क्या होगा, यह उस समय की प्रथाओं, व्यक्ति की बुद्धि और निर्णय लेने की क्षमता तथा आय पर निर्भर करेगा, गरीबी के निर्धारण में धन का महत्व है और वे लोग जिनके पास धन का अभाव होता है, गरीब माने जाते हैं। किन्तु कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनके पास धन की कमी होती है फिर भी उनका जीवन-स्तर ऊँचा होता है। दूसरी ओर कई व्यक्तियों के पास धन की प्रचुरता होने पर भी वे निम्न जीवन-स्तर व्यतीत करते हैं और तब हम उन्हें गरीब कह सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि गरीबी एक आर्थिक तथ्य ही नहीं वरन् सामाजिक तथ्य भी है।

निर्धनता की माप
(MEASUREMENT OF POVERTY)

किसी भी देश में गरीबी को मापने के लिए राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय तथा प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च को ज्ञात किया जाता है। राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए किसी वर्ष विशेष में उपभोग के लिए उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं को देखा जाता है। राष्ट्रीय आय को ज्ञात करने के लिए उसमें किन तथ्यों को जोड़ा जाय, यह एक विवादास्पद विषय है। मार्शल के अनुसार किसी देश के श्रम और पूँजी द्वारा उसके प्राकृतिक साधनों से जो भौतिक एवं अभौतिक वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं, उनमें यदि सभी सेवाएँ तथा विदेशों से प्राप्त आय भी जोड़ दी जाय तो वह राष्ट्रीय आय कहलाती है। प्रो० पीगू राष्ट्रीय आय में केवल उस उत्पत्ति को सम्मिलित करते हैं जो मुद्रा में नापी जा सके। फिशर राष्ट्रीय आय में सम्पूर्ण उत्पत्ति के केवल उस भाग को जो किसी वर्ष उपभोग में लिया जाता है, सम्मिलित करते हैं। कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी विशिष्ट विषय को

राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत रखा जाय या नहीं, उदाहरण के लिए घरेलू नौकरों, गृह पत्नियों द्वारा की जाने वाली सेवाएँ तथा बाजार में लाये बिना ही किसानों द्वारा घर पर किया जाने वाला उपभोग आदि।

किसी देश की राष्ट्रीय आय को ज्ञात करके हम उस देश की आर्थिक प्रगति और आर्थिक कल्याण को बता सकते हैं क्योंकि राष्ट्रीय आय के अंक को आर्थिक कल्याण का अनुमानित सूचकांक भी माना जाता है। इससे उस देश की आय का वितरण, लोगों के रहन-सहन के स्तर, आदतों तथा प्रति व्यक्ति आय आदि को जानना सम्भव है। राष्ट्रीय आय के आधार पर ही कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति (grand national product) तथा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (net national product) आदि ज्ञात की जाती है।

आय की भाँति ही लोगों द्वारा उपभोग पर किये जाने वाले खर्च (consumption expenditure) के आधार पर भी गरीबी को मापा जा सकता है। तब यह भी देखा जाता है कि कुल राष्ट्रीय उपभोग का कितना प्रतिशत भाग उच्च श्रेणी के लोगों द्वारा काम में लिया जाता है और कितना निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा। साथ ही शहरों एवं गाँवों में प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च ज्ञात करके शहरी एवं ग्रामीण आर्थिक विषमता को भी ज्ञात किया जा सकता है। कई विद्वानों ने गरीबी को मापने के लिए कुछ आवश्यकताओं का कम से कम स्तर तय किया है जिसमें उन आवश्यकताओं को सम्मिलित किया है जो एक व्यक्ति के जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं। भारत में गरीबी से सम्बन्धित सभी अनुमान भोजन पर होने वाले खर्च पर निर्भर हैं। डा० पी० डी० ओझा[1] ने यह माना है कि भारत में ग्रामीण क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन 518 ग्राम और शहरी क्षेत्र में 432 ग्राम भोजन चाहिए। वी० एम० डाण्डेकर तथा नीलकान्त राथ[2], बी० एस० मिन्हास[3] आदि ने गरीबी को मापने के लिए *पोषण के आदर्श (nutritional norm)* को आधार माना है। इन सभी विद्वानों की मान्यता है कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन 2250 कैलोरी शक्ति प्रदान करने वाला भोजन मिलना ही चाहिए। 2250 कैलोरी मूल्य का भोजन जीवित रहने के लिए आवश्यक माना गया है। यदि इतना भोजन भी नहीं मिलता है तो उन्हें हम गरीब मानेंगे। 2250 कैलोरी मूल्य का भोजन प्राप्त करने के लिए गाँवों में कम धन चाहिए जबकि शहरों में अधिक। ग्रामीण स्वयं अनाज पैदा करने वाला है जिसका अर्थ है कि शहरों की तुलना में गाँवों में जीवन बसर करने की कीमत (cost of living) कम है। इस दृष्टि से हम गरीब को उस व्यक्ति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो अपने भौतिक जीवन की कम से कम आवश्यकताओं को भी पूरा

1 'A Configuration of Indian Poverty', by P. D. Ojha, in *Challenge of Poverty in India* (ed) by A J Fonseca, pp 25-47.
2 *Poverty in India* by , V. M. Dandekar and Nilkanth Rath.
3 *Planning and the Poor*, by B. S Minhas.

करने में असमर्थ हो। मुद्रा के सन्दर्भ में गरीब लोग वे हैं जिनके पास इतनी क्रय-शक्ति नहीं होती कि वे इतना भोजन खरीद सकें जिससे प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 2250 कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न हो सके।[1]

समाज में गरीबी को मापने के लिए एक पैमाना प्रति व्यक्ति व्यक्तिगत आय (per capita personal income) का भी है। यद्यपि यह एक विवादास्पद विषय है कि व्यक्तिगत आय के आधार पर ही उच्चता के क्रम में व्यक्ति की स्थिति बताई जा सकती है। इस प्रकार के आँकड़ों से हम एक परिवार का खर्च और उसकी उपभोग की तुलनात्मक स्थिति को प्रकट कर सकते हैं। इससे तुलनात्मक गरीबी भी प्रकट होती है। तुलनात्मक गरीबी तो अमेरिका जैसे समृद्ध देश में भी पाई जाती है।

अतः हम किसी भी देश में गरीबी को राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च और पोषण का आदर्श (nutritional norm) तथा प्रति व्यक्ति आय के आधार पर माप कर सकते हैं।

भारत में गरीबी का विस्तार
(EXTENT OF POVERTY IN INDIA)

गरीबी के उपरोक्त विभिन्न मापों के आधार पर भारत में गरीबी के विस्तार व प्रकार का पता लगाने का प्रयास अनेक अर्थशास्त्रियों और संस्थाओं ने किया है। भिन्न-भिन्न आधारों पर गरीबी के अनुमान में भी थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता है। भारत में गरीबी के विस्तार को प्रकट करने के लिए हम यहाँ आय में व्याप्त व्यक्तिगत असमानता, उपभोग, खर्च, सम्पत्ति वितरण के उल्लेख के साथ-साथ गाँवों एवं शहरों तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रति व्यक्ति आय का उल्लेख करेंगे। साथ ही हम दूसरे देशों की तुलना में भारत की स्थिति का भी मूल्यांकन करेंगे।

भारत में आय के आधार पर कई असमानताएँ पाई जाती हैं। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया के अनुमान के अनुसार 1953-54 में राष्ट्रीय आय का 17% भाग जनसंख्या के 5% भाग द्वारा उपभोग किया जाता था जबकि नीचे के 20% लोगों द्वारा राष्ट्रीय आय का 9% भाग ही। 1956-57 में 5% उच्च लोगों के पास राष्ट्र की आय का 25% व नीचे के 20% लोगों के पास 7% भाग ही था। लीडेल (Lydall) के अनुमान के अनुसार इसी वर्ष में 10% उच्च लोगों के पास राष्ट्रीय आय का 34% भाग था तो निम्न श्रेणी के 25% लोगों के पास 9.6% भाग। अयंगर और मुखर्जी के अनुसार देश में उच्च वर्ग के 10% लोग राष्ट्रीय आय का 25% भाग प्राप्त कर रहे थे जबकि निम्न श्रेणी की 20% जनसंख्या को केवल 8.5% भाग ही प्राप्त था। नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकोनोमिक रिसर्च ने 1968,

---

1 "The poor can thus be described as those who are not able to meet the minimum requirements of physical life. Put in money terms this means, these people are poor who do not possess adequate purchasing power to buy as can generate energy in their bodies equivalent to 2250 calories per capita per day."
—A. N. Agarwal, *Indian Economy*, p. 86.

(1) दीर्घकालिक गरीबी (Chronic Poverty)—इस श्रेणी में वह गरीबी आती है जो लम्बे समय से चली आ रही हो या कई पीढ़ियों से बनी हुई हो। लम्बे समय से गरीबी की अवस्था में रहने के कारण ऐसे लोग अपनी आदतों और आवश्यकताओं को इस प्रकार से बना लेते हैं कि फसल पैदा न होने या बेकार होने की अवस्था में वे निम्न व्यवसाय को अपना लेते हैं या भीख माँगने में भी शर्म महसूस नहीं करते है। गिलमोर[1] ने अमेरिका में एक ऐसे परिवार का अध्ययन किया जो पाँच पीढ़ियों से भीख माँग रहा था और उसके लिए भिक्षावृत्ति ही जीवन-यापन का साधन था। उसे इसमें कष्ट और हीनता की भावना भी महसूस नहीं होती थी।

(2) अल्पकालिक गरीबी (Acute Poverty)—कभी-कभी बीमारी, बेकारी, दुर्भाग्य या परिवार की आय में अचानक कमी हो जाने आदि के कारण भी थोड़े समय तक गरीबी का सामना करना पड़ता है। व्यापार चक्र के कारण जब मंदी आती है या किसी व्यवसाय में दिवाला निकल जाता है तब भी उस परिवार को गरीबी का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी पद हानि को छुपाने के लिए प्रयत्न करते हैं, भूखे रहते हैं, चिन्तित रहते हैं और बीमार भी हो जाते हैं। व्यवसाय की खोज में तथा जीवन-यापन के लिए वे स्थान भी परिवर्तित कर लेते हैं। कभी-कभी वे राजनैतिक सुधार एवं परिवर्तन के लिए सुझाव भी रखते हैं। जब उनकी हालत ठीक हो जाती है तो वे अपनी सामाजिक स्थिति ऊँची उठाने का प्रयत्न करते हैं। लम्बे समय तक गरीबी की हालत में रहने पर उनकी दशा भी दीर्घकालिक गरीबों की तरह हो जाती है। ऐसे लोग आर्थिक स्वावलम्बन की गम्भीर इच्छा रखते हैं। पाकिस्तान एवं बंगला देश के निर्माण के समय भारत में आये लाखों की संख्या में शरणार्थियों में भी अस्थायी तौर पर गरीबी उत्पन्न हो गई थी।

बी० एस० राउन्ट्री ने गरीबी को दो भागों में विभक्त किया है—(1) प्राथमिक गरीबी। (2) द्वैतीयक गरीबी।

(1) प्राथमिक गरीबी (Primary poverty)—प्राथमिक गरीबी का अर्थ लोगों की आय का इतना कम होना है कि वे अपने जीवन की कम से कम आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर सकें। गरीबी-रेखा (Poverty-line) मूल्यों में परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती है।[2] भौतिक क्षमता (physical efficiency) को बनाये रखने के लिए न्यूनतम आय का निर्धारण किया जाता है। इसे ही गरीबी-रेखा कहते हैं। प्राथमिक प्रकार की गरीबी में लोग गरीबी-रेखा से नीचे का जीवन व्यतीत करते हैं।

---

1 Harlan W. Gilmore, *The Beggar*, pp. 168-82.

2 "Primary poverty means having a smaller income than will pay for the minimum necessities of life."

—Hermon Levy, *Drink : An Economic and Social Study*, p. 37.

(2) द्वैतीयक गरीबी (Secondary Poverty)—द्वैतीयक गरीबी में शरीर को जीवित रखने के लिए वांछित कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य आय तो होती है किन्तु इस आय को अविवेकपूर्ण रूप से खर्च करने के कारण गरीबी बनी रहती है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति भोजन, वस्त्र आदि मूल आवश्यकताओं के स्थान पर अपनी आय को शराब, धूम्रपान, जुआ, मनोरंजन, यात्रा आदि पर खर्च कर देता है तो ऐसी स्थिति में भी शारीरिक क्षमता को बनाये रखना सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार के अपव्यय से जनित गरीबी द्वैतीयक गरीबी कहलायेगी। ऐसी गरीबी को परिभाषित करते हुए बी० एस० राउन्ट्री लिखते हैं, "परिवारों का ऐसा जीवन-स्तर जो प्रकट रूप से गरीबी में रह रहे हों, यद्यपि उनकी कुल आय भौतिक दक्षता को बनाये रखने की दृष्टि से पर्याप्त होगी।"[1] द्वैतीयक गरीबी में आय की सीमा निश्चित नहीं होती है और लोग मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बची हुई आय को उपयोगी ढंग से या व्यर्थ के कार्यों में भी खर्च कर सकते हैं। प्रो० ज्वीइग (Prof Zweig) द्वैतीयक गरीबी को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि इस प्रकार की गरीबी जो आवश्यकताओं में कमी के रूप में देखी जाती है, अपवादस्वरूप ही लाभदायक खर्च द्वारा जनित होती है तथा भोजन, किराया और कपड़ों पर गैर-अनुपात में खर्च नहीं किया जाता है।"[2] स्पष्ट है कि द्वैतीयक गरीबी का कारण व्यक्ति द्वारा अपनी आय का अनुपयुक्त ढंग से व्यय करना है।

सी० पी० डब्ल्यू० डाकोस्टा[3] ने तीन प्रकार की गरीबी का उल्लेख किया है—(1) दयनीय अभाव (2) अभाव (3) गरीबी।

(1) दयनीय अभाव (Severe destitute)—इस प्रकार की अवस्था में गाँवों में लोग प्रति व्यक्ति प्रति माह 0 से 11 रु० तक तथा शहरों में 0 से 15 रु० तक खर्च कर पाते हैं। भारत में इस प्रकार की स्थिति वाले लोग 13% हैं।

(2) अभाव (Destitute)—इस स्थिति में गाँवों में 0 से 13 रु० तक एवं शहरों में 0 से 18 रु० तक प्रति व्यक्ति प्रति माह उपभोग खर्च किया जाता है। इस प्रकार के अभावों में जीवन व्यतीत करने वाले भारत में 22.4% लोग हैं।

(3) गरीबी (Poverty)—जिन लोगों की आय गाँवों में 0 से 15 तक तथा शहरों में 0 से 18 रु० तक प्रति माह प्रति व्यक्ति है उन्हें गरीबी की श्रेणी में रखा गया है। ऐसे व्यक्ति भारत में 34.6% हैं। डाकोस्टा ने गरीबी का उपरोक्त विभाजन मानव के जीवन के लिए आवश्यक भोजन की लागत (1963-64) के अनुमान

---

1 "A standard of life who are obviously living in poverty although their total earnings would be sufficient for the maintenance of merely physical efficiency." —B. S. Rowentree, quoted by Hermon Levy, *Ibid*, p. 37.

2 "Secondary poverty conceived as deficiency in necessities is only exceptionally caused by useful expenditure and that there is no disproportionate expenditure on food, rent or clothes."—Prof Zweig, *Labour Life and Poverty*, p. 22.

3 *A portrait of Indian Poverty*, by C. P. W. Dacosta, *Challenge of Poverty in India*, by A. J. Fonseca, pp. 43-59.

के आधार पर किया। डाकोस्टा के अनुसार भारत में (1963-64) में $\frac{3}{4}$ जनसंख्या गरीब थी।

पूर्ण एवं सापेक्ष गरीबी
(ABSOLUTE AND RELATIVE POVERTY)

शेपर्ड एवं वॉस[1] (Shepard and Voss) ने दो प्रकार की गरीबी का उल्लेख किया है : (1) पूर्ण गरीबी, तथा (2) सापेक्ष गरीबी।

पूर्ण गरीबी (Absolute Poverty)—यह वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति के पास मकान, भोजन, चिकित्सा सुविधा एवं जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव होता है। पूर्ण गरीबी को सामान्यतः जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने के लिए पर्याप्त धन के अभाव के रूप में परिभाषित किया जाता है।"[2] अमेरिका में गरीबी की माप पूर्णता के तरीके (absolute way) के आधार पर ही की जाती थी। इसके अन्तर्गत गरीबी का माप वार्षिक आय स्तर (Annual income level) होता है। इस निर्धारित वार्षिक आय से जिन लोगों की आय कम होती है उन्हें गरीब माना जाता है। पिछले कुछ वर्षों में पूर्ण गरीबी को प्रकट करने हेतु विभिन्न प्रकार के मापों का प्रयोग किया गया है जिसमें कृषक परिवारों एवं अन्य परिवारों तथा ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के लिए अलग-अलग वार्षिक आय निर्धारित की गई है।

किन्तु पूर्ण गरीबी को तय करने की यह विधि भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें उन तथ्यों को ध्यान में नहीं रखा गया है जो परिवार की आवश्यकताओं को प्रभावित करते हैं जैसे घर में आश्रितों की संख्या, परिवार के सदस्यों की आयु एवं लिंग, संगठन, परिवार की भौगोलिक बनावट, परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य तथा परिवार के मुखिया की आयु आदि। परिवार की उपर्युक्त सभी विशेषताओं को ध्यान में रख कर ऑरशेन्सकी[3] (Orshansky) ने पूर्ण गरीबी के माप हेतु गरीबी रेखा (Poverty line) का निर्धारण किया है।

सापेक्ष गरीबी (Relative Poverty)—गरीबी को सापेक्ष तथ्य मानने वालों ने पूर्ण गरीबी की अवधारणा की इस आधार पर आलोचना की है कि पूर्ण गरीबी की अवधारणा स्थिर है, यह आवश्यकताओं एवं सुविधाओं के बदलते मानदण्ड (Standards) को सम्मिलित नहीं करती है। जो चीज आज सुविधा की मानी जाती है वही आने वाले समय में आवश्यकता बन सकती है। उदाहरणार्थ अमेरिका में टेलीविजन तथा कार कभी सुविधा की वस्तुएँ समझी जाती थीं किन्तु अब उन्हें आवश्यकता में गिना जाता है। अतः देश के जीवन-स्तर में वृद्धि के साथ-साथ गरीबी

1 J. M. Shepard and H. L. Voss, *Social Problems* 1978, pp 40-43.

2 "Absolute poverty is usually defined as the absence of enough money to secure life's necessities." *Ibid.*, p. 38

3 Mollie Orshansky, "Who's Who Among The Poor : A Demographic View of Poverty," *Social Security Bulletin*, 28 (July 1965)

का मानदण्ड भी बदलता है। सापेक्ष गरीबी की अवधारणा दो समयों, दो स्थानों एवं विभिन्न व्यक्तियों के बीच तुलनात्मक स्थिति का मूल्यांकन करती है। सापेक्ष गरीबी का माप समाज के सबसे नीचे स्तर के लोगों की दशा से तुलना के आधार पर किया जाता है।[1] गरीबी का निर्धारण समाज में पाये जाने वाले माप के आधार पर किया जाता है। अतः भारत में जिस स्थिति को गरीबी कहते हैं वही स्थिति अमेरिका में गरीबी नहीं कहलायेगी। प्रकार इस गरीबी एक सापेक्ष तथ्य है। गरीबी का एक सापेक्ष रूप में हम पिछले पृष्ठों में उल्लेख कर चुके हैं।

गरीब गरीब क्यों है ? (Why ary thy Poor Poor) ?

गरीब लोग गरीब क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर सामाजिक डार्विनवादियों व्यक्तिवादियों, सांस्कृतिक व्याख्यावादियों एवं स्थितिवादियों तथा माल्थस, मार्क्स एवं हेनरी जार्ज आदि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है। संक्षेप में हम इन सभी प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख करेंगे।

सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism)—यह व्याख्या डार्विन के जीवों के उद्विकासीय सिद्धान्त पर आधारित है। 1859 में डार्विन ने अपनी पुस्तक 'द ऑरिजन ऑफ स्पेसीज' (The Origin of Species) में जीवों का उद्विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनका मत है कि जीवों में अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence) पाया जाता है। इस संघर्ष में वे ही जीव बच रहते हैं जो शक्तिशाली होते हैं (Survival of the fittest) तथा पर्यावरण में अपना अनुकूलन कर लेते हैं। जो जीव कमजोर एवं पर्यावरण से अपना अनुकूलन करने में असमर्थ होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं (Elimination of the unit)। प्रकृति भी शक्तिशाली का ही वरण करती है, इसलिए इसे प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त (Theory of Natural Selection) भी कहते हैं। अनेक समाजशास्त्रियों ने डार्विन के इस सिद्धान्त को समाज पर भी लागू किया जो सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism) के नाम से जाना जाता है। प्राकृतिक प्रवरण की भाँति ही सामाजिक प्रवरण के फलस्वरूप समाज में योग्य व्यक्ति ही जीवित रह पाते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं।

सन् 1914 में विलियम ग्राहम समनर[2] ने समृद्ध व्यक्तियों को प्राकृतिक प्रवरण का परिणाम घोषित किया। आपका मत था कि समृद्ध व्यक्तियों के शरीर में वे विशेषतायें होती हैं जो किसी व्यवसाय के लिए आवश्यक होती हैं। वे भी महान राजनीतिज्ञों सेनाधिकारियों एवं वैज्ञानिकों की भाँति ही हैं। वे ही समाज में चुने हुए व्यक्ति हैं जिनके हाथ में सम्पत्ति एकत्रित होती है। वे जिस पद पर हैं उस पद के

---

1 "Relative poverty is measured by comparing the conditions of those at the bottom of a society with other segments of the population."
—Shepard & voss, *op. cit*, pp. 33-40.

2 William Grahm Sumner, "The Concentration of Wealth : Its Economic Justification." In the *Challange of Factors and other Essays*, 1914, p. 102.

लिए समाज में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। इस प्रतिस्पर्धा में वे अपनी क्षमता एवं योग्यता के कारण ही विजयी हुए हैं, अतः उन्हें अधिक आराम एवं सुविधायें प्राप्त हैं।

समनर से मिलते-जुलते विचार ही रॉस[1] (Ross) ने प्रकट किये। इनके अनुसार 'एक वास्तविक प्रतिस्पर्धात्मक समाज में समाज के अन्तिम छोर पर गरीब और दुर्भाग्यशाली व्यक्ति एकत्रित हैं जो कमजोर एवं अयोग्य हैं क्योंकि वे और उनके माता-पिता प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था की कसौटी पर खरे नहीं उतरे हैं।

यद्यपि समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक डार्विनवाद को बहुत पहले ही तिरस्कृत कर दिया किन्तु इसने लोगों में यह भावना पैदा की कि सफलता के लिए व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति कठोर श्रम करते हैं उन्हें सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, एवं शक्ति आदि के रूप में पुरस्कृत किया जाना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से असफल है तो इसका कारण है कि उसने प्रयास ठीक तरह से नहीं किये हैं।

व्यक्तिवादियों ने गरीबी के कारणों को व्यक्ति में ही ढूंढा। उनका मत है कि कोई भी व्यक्ति गरीब है तो इसका कारण उसमें योग्यता, शक्ति तथा प्रतिस्पर्धात्मक दुनिया में जीवित रहने की प्रेरणा का अभाव है। इस प्रकार व्यक्तिवादी व्यक्ति को ही उसकी दशा के लिए उत्तरदायी मानते हैं। जे० फिगिन (J Feagin) ने अमेरिका में गरीबी के कारणों को जानने के लिए एक अध्ययन किया। उसके अध्ययन में गरीबी के लिए लोगों ने स्वयं व्यक्ति को ही दोषी ठहराया। उत्तरदाताओं का मत था कि व्यक्ति में दक्षता, प्रयत्न एवं योग्यता का अभाव होने, नैतिकता की कमी एवं शराबवृत्ति के कारण गरीबी पनपती है। 42% व्यक्तियों ने सामाजिक संरचना को गरीबी के लिए उत्तरदायी ठहराया और 18% लोगों ने शोषण को।[2]

माल्थस ने गरीबी के लिए बढ़ती जनसंख्या को उत्तरदायी ठहराया। आपने कहा कि जनसंख्या ज्यामितिक अनुपात अर्थात 1, 2, 4, 8, 16, 32, आदि के अनुसार बढ़ती है और किसी देश की जनसंख्या 25 वर्षों में दुगुनी हो जाती है। इसकी तुलना में खाद्य-सामग्री गणितीय अनुपात अर्थात् 1, 2, 3, 4, 5, 6 आदि के अनुसार बढ़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि जनसंख्या एवं खाद्य सामग्री में असन्तुलन पैदा हो जाता है, खाद्य की पूर्ति कम हो जाती है, लोग भूख एवं बीमारी से मरने लगते हैं। यह असन्तुलन ही गरीबी को जन्म देता है।

मार्क्स ने गरीबी के लिए पूंजीवाद को दोषी ठहराया। पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपति अधिक पूंजीपति एवं गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं। इसका कारण है पूंजीपति द्वारा अतिरिक्त मूल्य (surplus value) को हड़प लेना और श्रमिक को

---

1 In a really competitive society the hopelessly poor and wretched are to a large extent the weak and the incompetent who have accumulated at the lower end of the social scale because they or their parents have failed to meet the test of the competitive system."—Edward, A. Ross, *Social Control. A Survey of the Foundations of social Order* (1926) p. 334.

2 Joe R. Feagin. Subordinating the Poor. Welfare and American Beliefs, 1975, pp. 102-115

उसके श्रम का उचित मूल्य नहीं देता। अतिरिक्त मूल्य क्या है, इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। माना कि एक मेज के निर्माण में आठ रुपये खर्च होते हैं जिसमे लकड़ी की कीमत चार रुपया, मजदूरी दो रुपया, रंग एक रुपया एवं पूँजी लागत तथा ब्याज खर्च आदि के रूप मे एक रुपया खर्च होता है। किन्तु पूँजीपति इस मेज को बारह रुपयों में बेचता है। विक्रय मूल्य बारह रुपयो मे से लागत मूल्य आठ रुपये बाकी निकालने पर चार रुपये शेष रहते हैं। यही चार रुपये अतिरिक्त मूल्य है जिसे पूँजीपति मुनाफा कहता है। अतिरिक्त मूल्य श्रमिक के श्रम का परिणाम है किन्तु इसे पूँजीपति हड़प जाता है। बड़ी मात्रा मे मशीनो से उत्पादन करने पर अतिरिक्त मूल्य भी अधिक मिलता है। यही कारण है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे धनी और अधिक धनी तथा गरीब और अधिक गरीब हो जाते हैं। पूंजीपतियो के भव्य प्रासाद गरीबों के शोषण से ही बने हैं।

हेनरी जॉर्ज[1] ने भूस्वामियो द्वारा भूमि पर किये गये एकाधिकार को ही निर्धनता का कारण बताया है। भूमि के महंगी होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति भूमि खरीदने की क्षमता नहीं रखता और यदि खरीद भी लेता है तो उसे उपजाऊ बनाने मे बहुत पैसा लगता है जिसे गरीब लोग नहीं जुटा पाते। अत उन्हें श्रमिकों के रूप में ही कार्य करना पड़ता है। शहरों मे तो भूमि और भी महँगी है जो साधारण लोगों की क्रय-शक्ति से परे है। इस भूमि से किराये के रूप में भूस्वामी अच्छी आय प्राप्त करते हैं। भूमि का अभाव ही श्रमिको एवं निम्न वर्ग के लोगों मे गरीबी को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गरीबी की व्यवस्था करने के लिए अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु इन सभी की कमज़ोरी यही है कि ये सभी किसी एक पक्ष पर जोर देते हैं।

गरीबी के कारण
(CAUSES OF POVERTY)

गरीबी का जन्म किसी एक कारण या घटना के फलस्वरूप ही नहीं होता है। यह अनेक कारकों की पारस्परिक क्रियाओं का प्रतिफल है। फैरिस[2] तथा गिलिन और गिलिन[3] ने गरीबी के लिए उत्तरदायी अनेक वैयक्तिक, प्राकृतिक, आर्थिक सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक कारकों का उल्लेख किया है। हम इन कारकों का यहां क्रमशः उल्लेख करेंगे।

(1) वैयक्तिक कारक (Personal Factors)—प्राचीन समय में यह धारणा थी कि अपनी दशा के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। जब कोई व्यक्ति बीमारी, दुर्घटना, मानसिक अयोग्यता, नैतिक पतन, अविवेकपूर्ण खर्च आदि से ग्रसित होता

1 Henry George. *Poverty and Progress*
2 Faris. *Social Disorganization.*
3 Gillin and Gillin. *op. cit.*, pp. 761-780.

है तब भी गरीबी उत्पन्न होती है। व्यक्ति की अयोग्यता गरीबी पैदा करती है। यह अयोग्यता अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। कई व्यक्ति वंशानुगत रोगों से पीड़ित होते हैं तो कई मानसिक बीमारियों और पागलपन आदि से। कुछ व्यक्ति कला विज्ञान, तकनीकी तथा साहित्य के क्षेत्र में रुचि रखने वाले होते हैं तो कुछ को इनमें कोई रुचि नहीं होती। कुछ वैज्ञानिक शरीर की अनेक त्रुटियों के लिए हमारे ग्रन्थि संस्थानों को उत्तरदायी मानते हैं। अल्पकालिक और दीर्घकालिक बीमारी भी लोगों में गरीबी उत्पन्न करती है। इसी प्रकार से दुर्घटनाएँ घटने पर भी व्यक्ति अपंग और अंगविहीन हो जाते हैं। व्यसन तथा वृद्धापन आदि भी व्यक्ति में शारीरिक अक्षमता पैदा करते हैं। इस प्रकार बीमारी, बुढ़ापा, दुर्घटना, अपंगता आदि के कारण व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षमता का प्रयोग अर्थोपार्जन में नहीं करने की दशा में दूसरों पर निर्भर हो जाता है। ये सारी स्थितियाँ गरीबी को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी हैं।

(2) भौतिक पर्यावरण (Physical Environment)—भौतिक पर्यावरण में हम प्राकृतिक साधनों का अभाव, प्रतिकूल जलवायु, कीड़े-मकोड़ों का उत्पात, प्राकृतिक संकट आदि को सम्मिलित करते हैं। यदि किसी देश में प्राकृतिक भण्डारों व खनिज पदार्थों का अभाव है, भूमि में उपजाऊपन की कमी है तो ऐसी स्थिति में वहाँ के लोगों को धनोपार्जन के लिए प्रचुर प्राकृतिक साधनों के नहीं मिलने से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जहाँ खनिजों का बाहुल्य है, उपजाऊ मिट्टी और सिंचाई के साधनों की सुविधाएँ हैं, वहाँ समृद्धि पाई जाती है। इनके विपरीत रेगिस्तान और वर्षा की कमी वाले स्थानों पर गरीबी पाई जाती है। खराब मौसम के कारण जैसे अत्यधिक गर्मी व सर्दी तथा ओलों के कारण फसल नष्ट हो जाती है तो लोगों को अभाव एवं गरीबी का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार से प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़, अकाल, भूचाल, महामारी आदि भी गरीबी उत्पन्न करते हैं। बिहार, असम, बंगला देश और उत्तर प्रदेश में बाढ़ और तूफान के कारण अनेक बार लोगों की बस्तियाँ उजड़ जाती हैं और वे नष्ट हो जाते हैं। जंगलों में निवास करने वाले लोगों के घर और गाँव आग लगने पर नष्ट हो जाते हैं। समुद्री किनारे पर रहने वालों को यदाकदा तूफान नष्ट कर देता है। इसी प्रकार से कई कीटाणु और कीड़े-मकोड़े भी फसलों, जानवरों और उद्योग-धन्धों को नष्ट कर देते हैं। टिड्डियाँ चूहे दीमक रेशम, ऊन एवं लकड़ी आदि को नष्ट करने वाले कीड़े प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों की हानि पहुँचाते हैं। कीड़े-मकोड़े फसलों, कागजों, कपड़े, लकड़ी, ऊन रेशम, जानवरों आदि को नष्ट कर देते हैं और इनसे सम्बन्धित लोगों को गरीबी का सामना करना पड़ता है।

(3) आर्थिक कारक (Economic Factors)—गरीबी का सम्बन्ध आर्थिक पहलुओं से भी है। आर्थिक दशा का वर्णन आय और खर्च के सन्दर्भ में ही किया जाता है। अपर्याप्त उत्पादन, असमान वितरण, आर्थिक उतार-चढ़ाव, बेकारी, गरीबी

का दुश्चक्र, मन्दी आदि गरीबी को जन्म देते हैं। भारत में उत्पादन के लिए सामान्यतः परम्परागत साधनों का प्रयोग किया जाता है। अतः यहाँ पर्याप्त उत्पादन नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटा पाना भी कठिन हो जाता है। आवश्यक उत्पादन के अभाव में भी गरीबी का सामना करना पड़ता है। यदि उत्पादन ठीक हो किन्तु उसका वितरण असमान हो तो भी गरीबी उत्पन्न होती है। उत्पादन के साधनों पर कुछ ही लोगों का एकाधिकार होने पर अधिकांश मुनाफा वे हड़प जाते हैं। अतः आय की असमानता के कारण लोग बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था आदि अवसरों पर आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हैं। सम्पत्ति एवं आय का असमान वितरण, व्यापारिक मन्दी तथा बेकारी की अवस्था भी गरीबी उत्पन्न करती है। व्यापार में मन्दी आने पर कई लोग दिवालिए हो जाते हैं और उनकी जमा पूंजी समाप्त हो जाती है। बेकारी की अवस्था में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होता है जिससे उसकी कार्यक्षमता घट जाती है। बेकारी के साथ-साथ गरीबों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

(4) सामाजिक कारक (Social Factor)—सामाजिक कारकों के अन्तर्गत हम पैतृक कमियों, स्वास्थ्य रक्षण का अभाव, आवास सुविधाओं का अभाव, शिशु और बचपन के ज्ञान का अभाव तथा परिस्थितियों से बच्चों और युवा लोगों का असामंजस्य आदि गिन सकते हैं। दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण हमारे यहाँ शिक्षितों में बेकारी पनपी है। शिक्षा उन्हें जीवन-यापन के लिए पूरी तरह तैयार नहीं कर पाती। शिक्षा में अनुशासन के अभाव के कारण छात्र-असन्तोष की समस्या पनपी है। हमारे यहाँ अन्धों, बहरों तथा अपंगों के लिए भी पर्याप्त शिक्षा और जीवन-यापन की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों तथा नवीन चिकित्सा पद्धति आदि के कारण अनेक बीमारियों को नियन्त्रित कर लिया गया है। क्षय रोग, हैजा, टाईफायड आदि रोगों पर काबू पा लिया गया है फिर भी हमारे यहाँ साधारण लोगों को रक्षण हेतु समुचित सुविधाएँ नहीं मिल पातीं तथा वे स्वास्थ्य के नियमों से अनभिज्ञ हैं। बुरा स्वास्थ्य और बीमारी व्यक्ति की कार्यक्षमता को घटाती है। इन परिस्थितियों में कई लोगों की मृत्यु हो जाती है और परिवार को गरीबी का सामना करना पड़ता है। आवास की सुविधाओं के कारण भी लोगों की कार्यक्षमता प्रभावित होती है। गन्दी बस्तियों में रहने, शुद्ध हवा, पानी, बिजली, रोशनी के अभाव एवं भीड़-भाड़युक्त घर होने पर भी व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। उसका आत्म-सम्मान गिर जाता है, स्वप्न नष्ट हो जाते हैं और इसका प्रतिकूल प्रभाव गरीबी पर भी पड़ता है।

हमारे यहाँ शिशु और बचपन की समस्याओं पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। माँ-बाप अपने वैयक्तिक और पारिवारिक दायित्वों को निभाने में असमर्थ हैं। माता-पिता और बच्चों के तथा पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों में भी शिथिलता आई है। औद्योगिक क्रान्ति, स्वतन्त्रता के विचार, नारी स्वतन्त्रता तथा समता पर

से बाहर अर्जन करने के कारण घर की परिस्थितियों में भी परिवर्तन आया है। गिलिन और गिलिन कहते है अब घर केवल पेट भरने और रैन बसेरा करने का स्थान ही रह गया है।[1] हमारे समाज मे बच्चो को विवाह और परिवार के दायित्वो को निभाने के लिए कम ही तैयार किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक सगठन की अपर्याप्तता वर्तमान परिस्थितियो मे गरीबी और पराश्रितता उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है।[2]

संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति व्यवस्था और धार्मिक अन्ध-विश्वास भी गरीबी के लिए उत्तरदायी हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली और जाति प्रथा व्यक्ति की गतिशीलता मे बाधक हैं। परिवार अपने सदस्यो को घर से बाहर जाने की सुविधायें प्रदान नही करता। जाति व्यवस्था मे व्यवसायो को अपनाने की स्वतन्त्रता नही है और लोग परम्परागत व्यवसायो को ही करते रहते हैं। धार्मिक अन्ध-विश्वासो तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो ने भी लोगो को भाग्यवादी बनाया है। भारतीयो मे यह धारणा भी पायी जाती है कि व्यक्ति चाहे कितना ही प्रयत्न करे उसे उतना ही मिलेगा जितना उसके भाग्य मे लिखा है।

(5) राजनैतिक कारक (Political Factor)—राजनैतिक अस्थिरता और उथल-पुथल भी गरीबी को जन्म देती है। ऐसी स्थिति मे चारो ओर असतोष, मुनाफाखोरी, काला बाजारी जमाखोरी आदि पनपती है। राजनैतिक दलो की पारस्परिक वैमनस्यता भी देश मे अफवाहो को जन्म देती है और इसके फलस्वरूप व्यापार में उतार-चढ़ाव आते हैं। सरकार की आर्थिक नीतियो का भी अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। सरकार की उत्पादन नीति, टैक्स नीति, आयात-निर्यात और वितरण की व्यवस्था भी देश के लोगो की आर्थिक दशा को प्रभावित करती है। परतन्त्रता के दौरान अंग्रेजो ने भारत के आर्थिक स्रोतो का खूब शोषण किया। इंगलैंड के कारखानो के लिए भारत कच्चा माल भी जुटाता था तथा बने माल के लिए बाजार भी। उन्होने हमारे यहाँ पर उद्योगो की स्थापना को महत्व नहीं दिया। वर्तमान में किसी भी व्यवसाय के फलने-फूलने मे राज्य की सहायता और आर्थिक नीतियो का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है।

(6) युद्ध (War)—युद्ध के दिनो मे आर्थिक अपव्यय बहुत होता है, परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर गरीबी पनपती है। दो विश्व युद्धो ने पश्चिमी देशों को खोखला बना दिया। युद्ध मे पुरुषो की मृत्यु अधिक होती है। अत स्त्रियों को अर्जन करना होता है और बच्चे अनाथ हो जाते है तथा समाज मे आर्थिक सम... असन्तुलन हो जाते हैं। युद्ध के कारण मानसिक पीड़ा और अस्थिरता उत्पन्न हो...

1 Home is a filling station and a roosting place."
—Gillin and Gillin, *op. cit.*, p. 77

2 "Thus the inadequacy of our social organization in the face of the present situation is a factor in producing poverty and dependency." —*Ibid.*, p. 7

है जिससे उत्पादन की क्रिया भी प्रभावित होती है। युद्ध के दिनो मे अन्तर्राष्ट्री व्यापार को हानि होती है तथा व्यापारिक मार्ग बन्द हो जाते हैं।

(7) सांस्कृतिक कारक (Cultural Factor)—हमारी सस्कृति मे अधिक धन-प्राप्ति को या धन के लिए जीवन को खपा देने को उपयुक्त नहीं माना गया है। सांस्कृतिक मूल्यों मे सादा जीवन और उच्च विचार की बात कही गई है। अतः लाग धन के पीछे नही भागते वरन् जीवन की कम से कम आवश्यकताओ को पूरा करने मे ही सन्तोष महसूस करते हैं। वर्तमान मे भारत की गरीबी का जो उल्लेख किया जाता है वह पश्चिमी देशो की देन है। गरीबी एक सापेक्ष अवधारणा है जिसे किसी देश और समाज की सस्कृति के सन्दर्भ मे ही देखा जाना चाहिए।

उपरोक्त सामान्य कारको के अतिरिक्त भारत मे गरीबी के लिए अनेक अन्य कारक भी उत्तरदायी हैं जो इस प्रकार हैं .

(8) बढ़ती जनसख्या (Increasing Population)—भारत मे प्रति वर्ष बढ़ती जनसंख्या की बाढ ने भी गरीबी को बढ़ावा दिया है। जिस गति से जनसख्या बढ़ती है, उसी गति से जीवन-यापन के लिए साधनो और सुविधाओ मे वृद्धि नही होती। परिणामस्वरूप लोगों को बेकारी और भुखमरी का सामना करना पड़ता है। माल्थस ने अपने लेख 'एन ऐसे ऑन पापुलेशन' (An Essay on Population) मे बढ़ती जनसख्या को गरीबी के लिए उत्तरदायी माना है। जनसख्या की तुलना मे जब उत्पादन नही होता है तो आर्थिक सन्तुलन बिगड जाता है। माँग और पूर्ति के इस असन्तुलन के कारण मूल्यो मे वृद्धि होती है और लोगो की क्रय-शक्ति घटती है। फलस्वरूप लोग अपनी आवश्यक आवश्यकतायें भी नहीं जुटा पाते और उन्हे दीन-हीन अवस्था मे जीवन-यापन करना पड़ता है।

(9) बेकारी (Unemployment)—बेकार होने पर व्यक्ति को दूसरो पर निर्भर होना पड़ता है। आय न होने पर वह अपना तथा अपने पर आश्रितों का भरण-पोषण नही कर पाता। उत्पादन के साधनो के अभाव मे भी बेकार व्यक्ति अर्जन नही कर सकता और उसे अपनी आवश्यकताओ को घटाकर निम्न जीवन-स्तर के लिए बाध्य होना पड़ता है। कई बेकार व्यक्ति तो भीख माँग कर ही जीवन-यापन करते हैं।

(10) कृषि (Agriculture)—कृषि की गिरी हुई दशा के कारण तथा सिचाई के साधनो के अभाव मे ग्रामीणो को कई बार भुखमरी का सामना करना पड़ता है। उन्नत खाद, बीज एव साधनो के अभाव एवं परम्परागत खेती के तरीको के कारण कृषि की उपज इतनी नहीं हो पाती कि किसान वर्ष भर के लिए अपने परिवार का भरण-पोषण और कुछ बचत कर सके। अधिकाश कृषि वर्षा पर ही निर्भर है। इसलिए ही कहा जाता है कि "भारतीय कृषि मानसून का जुआ है।" अतः जब वर्षा अच्छी होती है तो आसानी से वर्ष भर भरण-पोषण हो पाता है अन्यथा भुखमरी का सामना करना पड़ता है।

(11) जमींदारी प्रथा—भारत में जमींदारी प्रथा को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया है, सीलिंग एक्ट द्वारा अधिकतम भूमि की सीमा निर्धारित कर दी गई है किन्तु अब भी जमींदारी प्रथा व्यवहार में किसी न किसी रूप में मौजूद है। इस प्रथा के कारण कुछ लोगों के पास ही कृषि योग्य भूमि केन्द्रित है। वे कृषि मजदूरों के द्वारा उस पर खेती करवाते हैं और फसल का अधिकांश भाग फसल पैदा करने वाले को न मिलकर भू-स्वामी को मिलता है। अधिकांश कृषि-योग्य भूमि के अनुपस्थित मालिक (absentee landlord) होते हैं जो अपनी भूमि को या तो ठेके पर देते हैं या मजदूरों की सहायता से उस पर खेती करवाते हैं। इस प्रकार कृषि उपज का अधिकांश भाग जमींदारों के हाथों में चला जाता है और वास्तविक उत्पादक को बहुत कम ही भाग मिल पाता है जिन्हें गरीबी में अपने दिन गुजारने होते हैं।

(12) साहूकारी प्रथा—गाँवों में सहकारी समितियों का अभाव है और किसान को अपनी जरूरत के समय साहूकारों के पास जाना होता है। साहूकार किसानों और ग्रामीणों की मजबूरी तथा अज्ञानता का लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं। वे जीवन भर ऋण के बोझ से मुक्त नहीं हो पाते। राजस्थान में अभी कुछ समय पूर्व तक ही सागड़ी प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार उधार लेने वाले व्यक्ति को उस समय तक जब तक कि वह ऋण पुनः नहीं लौटा दे साहूकार के घर पर मुफ्त सेवायें प्रदान करनी पड़ती थीं। साहूकारों के चंगुल में फँसने पर उनसे मुक्ति पाना बहुत कठिन था और गरीब सदा के लिए गरीब ही बने रहते थे।

(13) सामाजिक कुप्रथायें—हिन्दू समाज में दहेज, मृत्युभोज तथा विवाह से सम्बन्धित कई सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। इन रीति-रिवाजों के कारण एक व्यक्ति को अपनी आर्थिक क्षमता न होने पर भी सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अधिक खर्च करना पड़ता है। इसके लिए उसे ऋण लेना होता है या अपनी भूमि व मकान तथा जायदाद को गिरवीं रखनी या बेचनी होती है, अपनी बैलगाड़ी और उत्पादन के साधनों की समाप्ति के कारण आय भी समाप्त हो जाती है और उसे मजदूरी द्वारा जीवन-यापन करना पड़ता है। ब्याज की दर भी इतनी ऊँची होती है कि एक बार ऋण के जाल में फँसने पर व्यक्ति के लिए कई पीढ़ियों तक ऋण से मुक्ति पाना बड़ा कठिन होता है। अन्धविश्वास और धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण कई लोग गरीबी को ईश्वर की देन मानते हैं।

(14) अज्ञानता और अशिक्षा—भारत में बहुत कम लोग ही शिक्षित हैं और गाँवों में तो शिक्षा का नितान्त अभाव है। शिक्षा की कमी के कारण लोग अज्ञानी होते हैं वे तार्किक दृष्टिकोण के स्थान पर भावात्मक दृष्टि से ही किसी वस्तु का मूल्यांकन करते हैं। ग्रामीणों की अशिक्षा और अज्ञानता का लाभ जमींदार और साहूकार उठाते हैं और उनका आर्थिक शोषण करते हैं।

(15) प्राकृतिक साधनों का अपूर्ण दोहन—भारत में प्राकृतिक वस्तुओं की प्रचुरता है। कोयला, लोहा, यूरेनियम, अभ्रक, सीसा, ग्रेफाइट, समुद्री खनिजों और

अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों का भारत में प्रचुर भण्डार है। किन्तु साधनो के अभाव के कारण उनका पूरी तरह से दोहन नहीं किया गया है। कृषि योग्य भूमि मे ही प्रति एकड़ उपज बहुत कम है जिसके बढ़ाये जाने की काफी सम्भावना है। इसलिए ही कहा जाता है कि भारत एक सम्पन्न देश है जिसमे गरीब लोग निवास करते हैं।

(16) आलस्य और निष्क्रियता –भारत मे काफी लोग आलसी और निष्क्रिय हैं। इस निष्क्रियता के लिए यहाँ की सामाजिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ, भाग्य पर विश्वास, उदासीनता तथा बुरा स्वास्थ्य आदि उत्तरदायी हैं। भारतीयो की आलसी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए गुन्नार मिर्डल लिखते हैं "यदि आप अपनी अगली छुट्टियाँ देश के किसी भीतरी हिस्से के किसी दूर के गाँव मे बितायें तो आप देखेंगे कि लोग निरुत्साहित और भय से ग्रस्त हैं। आपको टूटे-फूटे मकान देखने को मिलेंगे, आपको ढोर बहुत ही बुरी हालत मे देखने को मिलेंगे। इन सब बातो के बावजूद आप यह देखेंगे कि सर्वत्र आलस्य व्याप्त है।"[1]

यहाँ के लोग स्वयं अपनी परिस्थितियों को सुधारने के लिए उत्साहित नजर नहीं आते। कभी भी उन्होंने अपनी दशा का सुधारने के लिए संघर्ष या आन्दोलन नहीं किये हैं। वे अपनी माँगो को प्रकट करने के प्रति उदासीन रहे हैं और संगठित होकर हितो की रक्षा के लिए कुछ अपवादो को छोड़कर शायद ही कभी प्रयत्नशील रहे हो। यदा-कदा जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह भी हुए तो उन्हे शक्ति से दबा दिया गया। इस सम्बन्ध में एक बार नेहरू जी ने कहा था, "जो लोग सचमुच गरीब हैं वे कभी हड़ताल नहीं करते, उनके पास प्रदर्शन करने के न तो साधन हैं और न ही शक्ति।"[2] बहुत समय पूर्व मार्क्स ने भी गरीबो के सन्तोष और माँग की कमी के बारे मे शिकायत की थी।

(17) नरम राज्य (Soft State)—गुन्नार मिर्डल सभी अविकसित राष्ट्रों मे गरीबी का एक कारण 'नरम राज्य' मानते हैं। नरम राज्य का अभिप्राय उस सामाजिक अनुशासनहीनता से है जो विभिन्न रूपो मे प्रकट होती है, जैसे कानून की कमियाँ तथा कानून के पालन और उसे लागू करने की खामियाँ, विभिन्न स्तरो पर सरकारी अफसरो द्वारा उन नियमो और निर्देशो की व्यापक अवहेलना जिनका उन्हे पालन करना एवं करवाना होता है। अक्सर उनकी ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियो और समूहों से साँठ-गाँठ होती है जिनके आचरण को नियमित बनाने की जिम्मेदारी इन अफसरो पर होती है। नरम राज्य की सकल्पना के अन्तर्गत भ्रष्टाचार भी आता है।[3] नरम राज्यों मे जिन लोगों के पास सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता

---

1 गुन्नार मिर्डल, विश्व निर्धनता की चुनौती, p. 112.
2 *Ibid.*, p. 70.
3 *Ibid.*, p. 185.

होती है, वे शोषण और मनमाना आचरण करते हैं। स्पष्ट है कि नरम राज्य में भ्रष्टाचार के कारण उच्च वर्ग निम्न वर्ग का शोषण करता है और जब इस शोषण के विरुद्ध शोषित शिकायत भी करते हैं, तो उनकी कोई सुनवाई नहीं होती। अतः उन्हें दब कर रह जाना होता है और गरीबी में दिन काटने पड़ते हैं।

(18) सुधार नीतियों की असफलता—जब कभी भी नीचे के वर्ग के लोगों के सुधार के लिए नीतियाँ बनाई जाती हैं तो या तो उन्हें लागू ही नहीं किया जाता या उनके स्वरूप को इस प्रकार से विकृत कर दिया जाता है कि इनका लाभ गरीबों को नहीं मिल पाता। यह बात हम भूतपूर्व प्रधान मन्त्री द्वारा घोषित 20सूत्री कार्यक्रमों के सन्दर्भ में देख सकते हैं। किसानों के लिए न्यूनतम कृषि मजदूरी अथवा फसल में जमींदार के अधिकतम हिस्से अथवा सूदखोर को अधिकतम ब्याज की सीमा निर्धारित करके या भूमिहीनों को भूमि का वितरण करने के नियम बनाकर विधान सभायें और संसद श्रमिकों, किसानों और गरीबों के प्रति अपनी उदारता का परिचय देती हैं किन्तु उन्हें सच्चे अर्थों में कभी लागू नहीं किया जाता। मिर्डल कहते हैं कि "सारी राजनीतिक, कानूनी और प्रशासकीय प्रणाली गरीब लोगों के व्यापक जन-समुदाय के विरुद्ध इस प्रकार खड़ी दिखाई देती हैं कि ऐसे कानूनों को व्यावहारिक रूप से लागू ही नहीं कर सकते।"[1]

(19) औद्योगीकरण और पूँजीवाद—प्राचीन उत्पादन के साधनों का स्थान जब मशीनों ने लिया तो फैक्ट्री प्रणाली अस्तित्व में आई। बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किये गये, परिणामस्वरूप ग्रामीण कुटीर व्यवसाय समाप्त हो गये और कुटीर व्यवसायों के मालिक कारखानों में मजदूरों के रूप में सम्मिलित हुए। कई लोगों को परम्परागत व्यवसाय की समाप्ति के कारण बेकारी का सामना करना पड़ा और वे निर्धन हो गये।

औद्योगीकरण ने पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। कारखाना लगाने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है जो केवल पूँजीपति ही जुटाने में समर्थ होते हैं। नवीन औद्योगिक व्यवस्था ने समाज में मजदूर और मालिक दो स्पष्ट वर्ग खड़े कर दिये। मालिक श्रमिकों का शोषण करने लगे। इस व्यवस्था ने पूँजीपतियों को और अधिक पूंजीपति तथा गरीबों को और अधिक गरीब बना दिया।

स्पष्ट है कि गरीबी के कारण और इसकी उत्पत्ति जटिल है। भारत में इस भयंकर आर्थिक-सामाजिक समस्या को जन्म देने में अनेक कारकों का योगदान रहा है जिसमें विदेशी शासन, उच्च वर्ग द्वारा शोषण, जनाधिक्य, पूँजी का अभाव, शिक्षा का अभाव, आकांक्षाओं और आर्थिक प्रोत्साहन का अभाव, स्वास्थ्य एवं शक्ति का अभाव, अकुशल प्रशासन, पुरातन समाज व्यवस्था जिसमें सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता का अभाव तथा शोषणकारी भूमि व्यवस्था आदि प्रमुख हैं।

---

1 *Ibid*., p. 195.

गरीबी के कारण अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। हम यहाँ यह देखने का प्रयास करेंगे कि समाज पर गरीबी के क्या प्रभाव पड़ते हैं।

गरीबी के दुष्प्रभाव
(ILL EFFECTS OF POVERTY)

जिस देश के लोगों का जीवन-स्तर निम्न होता है, वहाँ की युवा पीढ़ी में किसी प्रकार का साहस और कार्य के प्रति लगाव एवं जोश नहीं होता। धर्मवेत्ता अधिक सम्पत्ति अर्जन को बुराई की जड़ बताते हैं, अतः वे धन संग्रह को उचित नहीं मानते। *किन्तु हम भूखे व्यक्ति से ईमानदार और नैतिक बने रहने की अपेक्षा नहीं* कर सकते, जैसा कि कहावत है भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता? (बुभुक्षं किं न करोति पापं)। अतः हम गरीबी को उचित नहीं मान सकते। सभी व्यक्ति चाहते हैं कि धन अर्जन कर अच्छा जीवन व्यतीत किया जाय। गरीबी की स्थिति में व्यक्ति को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हम यहाँ गरीबी के प्रभावों का उल्लेख करेंगे।

(1) **गरीबी के शारीरिक प्रभाव (Physical Effects of Poverty)**—गरीबी शारीरिक कमियों को जन्म देती है। क्षय रोग को गरीबों की बीमारी (The Poor Men's Disease) माना गया है। गरीबों में क्षय रोग की अधिकता के कारण गरीबी व क्षय रोग का सह-सम्बन्ध बताया जाता है। लम्बी बीमारी और कार्य न करने की क्षमता भी लोगों को गरीब बनाती है। धन के अभाव में गरीब लोग चिकित्सा की सुविधायें नहीं जुटा पाते। लम्बे समय तक बीमारी चलती रहने पर शरीर क्षीण हो जाता है। गरीबी के कारण कई लोगों को सतुलित आहार तो क्या भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता। पर्याप्त भोजन और चिकित्सा के अभाव में मृत्यु दर में भी वृद्धि हो जाती है। अमेरिका में अनेक अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ कि धनवानों की अपेक्षा गरीबों में बच्चों की मृत्यु दर, गर्भपात तथा मरे हुए बच्चे पैदा होने की संख्या अधिक थी।[1] अधिक आय वाले पौष्टिक भोजन जुटाने में समर्थ होते हैं। उनके भोजन में विटामिन, खनिज तत्व, प्रोटीन आदि का अभाव न होने से उन्हें बीमारियों व शारीरिक कमियों का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरी ओर कम आय वालों को सस्ता भोजन ही मिल पाता है जिसमें दूध, फल तथा सब्जियों की कमी होने के कारण शारीरिक कमियाँ और दुर्बलता पैदा होती है। परिणामस्वरूप उनमें मृत्यु दर भी बढ़ जाती है। दक्षिणी और पूर्वी भारत में 50% मातायें कुपोषण की शिकार हैं। उनसे उत्पन्न बच्चों में पोषण की दृष्टि से सुरक्षित भण्डार

1 "Persons in low income groups contact disease more frequently, receive less medical care, are sick for longer periods of time, and are more likely to die than those in families of higher income "- National Health Survey in Beuhah Amidon, who can afford Health ?" Bernard J Stern, *Society and Medical Progress*, pp. 126-141.

की कमी होती है। 20% माताओं में खून तथा विटामिन और प्रोटीन की कमी पाई जाती है।[1] गरीबी के कारण ही व्यावसायिक थकान, चिकित्सा के प्रति उपेक्षा, गन्दे मकान, मनोरंजन का अभाव, बुरा स्वास्थ्य, छूत की बीमारियों एवं कुपोषण आदि की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वस्त्रों के अभाव में गरीबों को निमोनिया एवं मौसम के प्रभाव से होने वाले रोग भी शीघ्र आ घेरते हैं जिनका इलाज वे आसानी से नहीं करा सकते।[2]

(2) *मानसिक प्रभाव* (Mental Effects)—गरीबी कुपोषण और छूत के रोगों को जन्म देती है जिनका मानसिक स्थिति पर भी प्रभाव पड़ता है। गरीबी कुपोषण के लिए और कुपोषण मानसिक कमियों के लिए उत्तरदायी है। एल० जे० रॉबर्ट्स[3] (L J Roberts) ने कई गरीब बच्चों का मानसिक परीक्षण किया तो पाया कि उनका बौद्धिक-स्तर निम्न था। इसके लिए हम कुपोषण तथा निम्न सामाजिक स्थिति को उत्तरदायी ठहरा सकते हैं जो गरीबी की देन है। मस्तिष्क का सुझाव तथा छूत के रोगों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है और बीमारी का गरीबी से। गरीबी के कारण उचित शिक्षा-दीक्षा नहीं हो पाने पर बौद्धिक विकास भी प्रभावित होता है। वर्तमान में सरकार द्वारा निम्न और पिछड़ी जातियों को आर्थिक एवं शैक्षणिक सुविधायें दी जा रही हैं जिससे उनके मानसिक क्षितिज (Mental Horizon) का भी विस्तार हुआ है। गरीब माता-पिता अपने बच्चों पर अर्जन करने के लिए ही अधिक दबाव डालते हैं, शिक्षा पर नहीं।

(3) सामाजिक प्रभाव (Social effects)—गरीबी व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा, पद, भूमिका आदि को भी प्रभावित करती है। गरीबी का अर्थ है निम्न *सामाजिक प्रस्थिति और निम्न सामाजिक प्रस्थिति एक ऐसे समाज में भी जहाँ* खुली वर्ग व्यवस्था है व्यक्ति पर प्रभाव डालती है।[4] अधिकांश अपराधी, बाल-अपराधी, भगोड़े, आवारा एवं मानसिक रूप से असंतुलित व्यक्ति गरीब परिवारों के ही होते हैं। गरीबों के साथ मुख्य समस्या उनकी गरीबी है (The trouble with the poor is their poverty.)। गरीबी लोगों में हीनता की भावना पैदा करती है और ऐसे लोग दूसरों से प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ होते हैं।

कभी-कभी गरीबी प्रेरणा और चुनौती भी प्रदान करती है तो कई बार इस प्रकार की निराशा भी पैदा करती है कि उसे दूर नहीं किया जा सकता। गरीबी को जे० बी० हरी (J B. Hurry)[5] ने उत्पादन क्षमता कम करने, निराशा पैदा करने

1 *Challenge of Poverty in India*, A J. Fonseca, p XXI.

2 W W. Weaver, *op cit.*, p 656

3 L. J. Roberts, *Nutrition Work with Children*, pp. 266-300

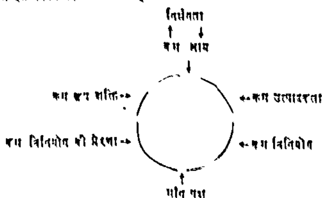
4 "Poverty is by definition an inferior status and inferior status puts its mark on a person even in a society with an open class system "
—W. W. Weaver, *op cit*, p 659.

5 J B Hurry, *Poverty and its Vicious Circles* (1921).

तथा असामंजस्य उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी माना है। वे इसे एक कुचक्र मानते हैं। अल्पकालिक गरीबी निराशा, विरोध व विद्रोह उत्पन्न करती है जबकि लम्बी अवधि की गरीबी का परिणाम मौखिक शिकायतों से थोड़ा अधिक होता है।[1]

(4) गरीबी गरीबी को उत्पन्न करती है (Poverty begets Poverty)—निर्धनता एक कुचक्र है। लोग इसलिए बीमार रहते हैं कि वे गरीब हैं, लोग गरीब इसलिए हैं कि वे बीमार हैं। निर्धन व्यक्ति को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता है। अतः उसकी कार्यक्षमता घट जाती है। कार्यक्षमता घटने पर कम आय प्राप्त होती है और व्यक्ति निर्धन रहता है। प्रो० नर्क्से कहते हैं कि कोई देश इसलिए निर्धन है कि वह निर्धन है[2] (A country is poor because she is poor)। निर्धनता के कुचक्र के माँग और पूर्ति दो पक्ष हैं।

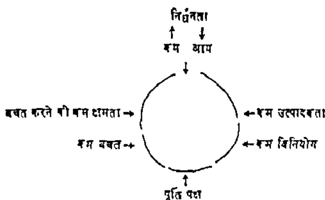
निर्धनता का माँग पक्ष यह है कि निर्धनता के कारण आय कम होती है जिससे उत्पादन कम होता है, कम उत्पादन होने पर विनियोग भी कम होगा। विनियोग की कमी का कारण विनियोग प्रेरणा का अभाव है। क्रय-शक्ति कम होने से प्रेरणा भी कम होती है। क्रय शक्ति इसलिए कम है कि आय कम है। इसे हम चित्र द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं।



निर्धनता के कुचक्र का पूर्ति पक्ष भी है। निर्धनता का अर्थ है कम आय। आय कम इसलिए है कि उत्पादकता कम है। उत्पादकता इसलिए कम है कि विनियोग कम है। विनियोग इसलिये कम है कि बचत कम है। बचत इसलिए कम है कि लोगों की बचत की क्षमता कम है। बचत की क्षमता इसलिए कम है कि आय कम है। इसे हम चित्र द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं।

1 "Acute poverty produces frustration, protest and even rebellion where chronic poverty leads to little more than verbal complaints."
—W. W. Weaver, INA, p. 661.

2 Prof Nurkse: *Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries*, p. 67.



इस प्रकार हम देखते हैं कि गरीबी का कुचक्र ही गरीबी को उत्पन्न करता है और जो देश गरीब होते हैं वे इसी कुचक्र के कारण गरीब बने रहते हैं।

(5) **गरीबी और अपराध**—गरीबी के कारण लोग अपराध करते हैं। अपराध और बाल-अपराध के अध्यायों में हम देख चुके हैं कि कई अध्ययन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि जिन लोगों ने अपराध किया वे साधारणतः गरीब परिवारों के थे तथा उनके पास खाने, पीने, रहने, शिक्षा और चिकित्सा आदि की पर्याप्त सुविधायें *नहीं थीं। भूख से मुक्ति पाने और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोग चोरी, डकैती, सेंधमारी, रिश्वत, भ्रष्टाचार, गबन, मिलावट, चोरी-छिपे माल ले जाने* आदि अपराधों का सहारा लेते हैं।

(6) **गरीबी और पारिवारिक विघटन**—गरीबी के कारण परिवार के सभी सदस्यों को काम करना पड़ता है। माता और पिता काम पर चले जाते हैं और बच्चे भी छोटे-मोटे काम करने लगते हैं। बच्चों पर माता-पिता का नियन्त्रण शिथिल हो जाता है। गरीबी से मुक्ति पाने के लिए कभी-कभी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति भी अपना लेती हैं। *कम आय होने पर परिवार के सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो* पाती, ऐसी स्थिति में उनमें परस्पर तनाव, मनमुटाव और संघर्ष की स्थिति पैदा होती है। गरीब परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा भी गिर जाती है। बच्चे भगोड़े और आवारा हो जाते हैं। सदस्यों में हीनता की भावना और निराशा पैदा हो जाती है। ये सभी परिस्थितियाँ सुदृढ़ पारिवारिक संगठन के लिए खतरे के संकेत हैं। *ऐसी स्थिति में परिवार का सुचारु रूप से चलना असम्भव हो जाता है।*

गरीबी के कारण लोगों का जीवन स्तर गिरता है, वे अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पाते। गरीबी के कारण वैयक्तिक विघटन भी उत्पन्न होता है। गरीब व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तित्व का होता है। वह शारीरिक व मानसिक बीमारियों तथा कुण्ठा, हीनता, निराशा आदि *की भावना से ग्रसित हो जाता है।*

(7) भिक्षावृत्ति—गरीबी भिक्षावृत्ति के लिए भी उत्तरदायी हैं क्योंकि गरीब लोगों के पास पर्याप्त साधन नहीं होते, व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा का अभाव होता है। शारीरिक क्षमता के अभाव के कारण ये लोग कठिन परिश्रम नहीं कर सकते। ऐसे लोग भीख माँग कर ही जीवन-यापन करते हैं।

स्पष्ट है कि गरीबी एक भयकर सामाजिक-आर्थिक समस्या है जो लोगों में शारीरिक व मानसिक बीमारी उत्पन्न करती है, उनकी कार्यक्षमता घटाती है, भुखमरी और बेरोजगारी को जन्म देती है, पारिवारिक, वैयक्तिक और सामाजिक विघटन को उत्पन्न करती है। इसके कारण समाज में अपराध की दर बढ़ती है, लोग कुपोषण के शिकार होते हैं और उनका जीवन-स्तर गिर जाता है।

गरीबी के सकारात्मक प्रकार्य (Positive Functions of Poverty)

हर्बर्ट गैन्स[1] का मत है कि गरीबी सदैव ही समाज के लिए नकारात्मक भूमिका अदा नहीं करती है, वरन् कई बार यह सकारात्मक भूमिका भी निभाती है। आपका कहना है कि यदि गरीब नहीं होते तो घटिया किस्म की वस्तुएँ जैसे पुरानी ब्रेड, पुराने वस्त्र, अधिक पके फल कौन खरीदता? सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं दण्डशास्त्रियों को कहाँ कार्य मिलता? यदि भारतीय सन्दर्भ में कहे तो गरीबों के हिमायती राजनैतिक दल कैसे पनपते? साम्यवादी एव समाजवादी दलों का उद्भव ही नहीं हुआ होता। गैन्स कहते हैं कि गरीबी एक ऐसी समाज व्यवस्था है जो शक्तिशाली एवं समृद्ध लोगों को लाभ पहुँचाती है। गरीबी एव अभाव की स्थिति लोगों को प्रयत्न करने को प्रेरित करती है तथा उन्हें आलस्य एव निष्क्रियता से मुक्ति दिलाती है, कर्मठ एव योग्य व्यक्तियों को सफलता प्रदान करने में सहायक होती है।

भारत में निर्धनता को समाप्त करने के लिए किये गये प्रयास
(EFFORTS MADE IN INDIA TO ERADICATE POVERTY)

भारत सरकार ने गरीबी को समाप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न किये हैं। गाँवों की दशा सुधारने के लिए सामुदायिक विकास योजनायें प्रारम्भ की गई जिनमे कृषि, पशु पालन, कुटीर उद्योग, लघु उद्योग, सहकारी समितियो, शिक्षा, यातायात आदि अनेक विषयों के विकास पर जोर दिया गया। बेकारी को दूर करने के लिए रोजगार के नये अवसर प्रदान किये गये तथा विभिन्न पचवर्षीय योजनाओं में गरीबी व बेकारी को दूर करने, लोगो के जीवन-स्तर मे सुधार करने, उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने आदि के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न किये गये। मकान, बिजली, पानी, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की सुविधायें उपलब्ध कराने तथा अनुसूचित जातियो और जनजातियो के कल्याण कार्यक्रमो पर जोर दिया गया। हम यहाँ संक्षेप

1 Herbert Gens. 'The Uses of Poverty; The poor pay all'. *Social Policy*, 2 (July-Aug. 1971), pp. 20-24.

में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं मे गरीबी को दूर करने हेतु किये गये प्रयासों का उल्लेख करेंगे ·

प्रथम पंचवर्षीय योजना मे 2,378 करोड़ रुपये विभिन्न कार्यक्रमों पर खर्च करने के लिए रखे गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना मे मुद्रास्फीति को रोकने एवं खाद्य-सामग्री के अभाव को दूर करने, लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा करने और उन्हें अच्छा जीवन व्यतीत करने की सुविधायें देने आदि के लक्ष्य तय किये गये। कृषि श्रमिकों की स्थिति मे सुधार के लिए कई कार्य किये गये जैसे कम मजदूरी वाले क्षेत्र मे न्यूनतम मजदूरी तय करना, भूमिहीन श्रमिकों के लिए पुनर्वास योजना बनाना, श्रमिक सहकारिताओं का सगठन, निवास स्थान के सम्बन्ध मे श्रमिकों को दखली अधिकार देना आदि। कृषि और सामुदायिक विकास योजना पर 354 करोड़ रुपये, सिंचाई और शक्ति पर 647 करोड, उद्योग और खानों पर 188 करोड़, यातायात एव सचार पर 571 करोड, सामाजिक और कल्याण सेवाओ पर 532 करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान किया गया। इस योजना काल मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई। 1950-51 में राष्ट्रीय आय 8,870 करोड रुपये थी जो 1955-56 में 10,420 करोड हो गई (1948-49 के मूल्य दर पर)। 1951 से 56 के बीच अनाज का उत्पादन 18% बढ़ा तथा औद्योगिक उत्पादन मे 40% वृद्धि हुई। बढ़ती हुई बेरोजगारी को दूर करने के लिए 309 करोड रुपयों की अतिरिक्त व्यवस्था करके रोजगार देने का प्रावधान किया गया। इस योजना काल में योजना आयोग ने बेरोजगारी दूर करने के लिए 11-सूत्री कार्यक्रम भी रखा जिसका उल्लेख हम बेरोजगारी के अध्याय मे कर चुके हैं। प्रथम पचवर्षीय योजना मे 45 लाख लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार दिया गया। अतिरिक्त व्यापार और वाणिज्य के माध्यम से भी लोगों को रोजगार प्रदान करने का प्रयास किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे मूल उद्योगों के विकास पर जोर दिया गया और योजना की 20% रकम उद्योगों पर खर्च करने का प्रावधान किया गया। देश का औद्योगीकरण करने के लिए 690 करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान रख कर देश मे तीव्र औद्योगिक विकास का कार्यक्रम तैयार किया गया। कृषि मे बचे हुए लोगों को उद्योगों मे रोजगार देने की दृष्टि से भी उद्योगों का तीव्र विकास किया गया। गाँवों और लघु उद्योगों के विकास के लिए 200 करोड रुपये की व्यवस्था की गई। इस योजना काल मे श्रम सहयोग समितियों की स्थापना, कुटीर और लघु उद्योगों द्वारा गाँवों में रोजगार के अवसर बढ़ाने, भूमि के पुन वितरण करने और शिक्षा के विस्तार आदि पर विशेष जोर दिया गया। इस योजना काल में भूमिहीन मजदूरों को बसाने के लिए 5 करोड रुपये खर्च किये गये। पिछड़े वर्ग के लोगों के उद्धार के लिए 90 करोड रुपये व्यय किये गये। इस योजना काल में कुल 4,600 करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान था। इस काल मे खाद्य-सामग्री में अधिक वृद्धि मौसम

की खराबी के कारण नहीं हो सकी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में एक करोड लोगों को रोजगार देने का प्रावधान था जिसमे से 65 लाख लोगो को गैर कृषि क्षेत्र मे लगाया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य राष्ट्रीय आय मे 5% प्रतिवर्ष की दर से अधिक वृद्धि करना तथा प्रति वर्ष उपभोग को 4% से अधिक बढ़ाना था। खाद्य-सामग्री के क्षेत्र मे आत्म-निर्भर होने तथा औद्योगिक माँगों के लिए कृषि की उपज बढ़ाने तथा आय व सम्पत्ति की असमानता को समाप्त करने आदि का लक्ष्य रखा गया। इस योजना मे 7,500 करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान था। इस योजना में एक करोड 20 लाख नये रोजगार के अवसर देने की बात कही गई। इस योजना काल में कृषि-श्रमिकों की स्थिति सुधारने पर पर्याप्त ज़ोर दिया गया। इसके लिए विभिन्न विकास कार्यक्रमों जैसे कुटीर एवं लघु उद्योगो का विकास, ग्रामीण विद्युतीकरण, ग्रामीण आवास, वन, सिंचाई, कृषि उत्पादन मे वृद्धि तथा शिक्षा आदि पर ज़ोर दिया गया। कृषि श्रमिको को बसाने के लिए 12 करोड रुपये तथा पिछड़ी जातियो के कल्याण के लिए 19 14 करोड रुपये खर्च किये गये। कृषि उत्पादन बढ़ाने पर 226 करोड रुपये तथा सामुदायिक विकास और सहकारिता पर 206 करोड रुपये खर्च किये गये। राष्ट्रीय आय मे 14 7 तथा प्रति व्यक्ति आय में 1961 की तुलना में 1967 मे 1% वृद्धि हुई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे कुल 24,882 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान था। इस योजना के प्रमुख तीन उद्देश्य थे, आत्म-निर्भरता प्राप्त करना, विकास के साधनो का समान रूप से वितरण तथा वृद्धि। इस योजना काल में भूमिहीन कृषि मजदूरो को भूमि वितरण करने तथा उन्हें पशुपालन व उद्योग में लगाने का कार्यक्रम भी रखा गया। भूमिहीन किसानों को बसाने के लिए 5·54 करोड रुपये खर्च किये गये। पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए 134 करोड 37 लाख रुपये खर्च किये गये। इस योजना काल में एक करोड 20 लाख से एक करोड़ 40 लाख लोगों को रोजगार देने की व्यवस्था की गई। चौथी पंचवर्षीय योजना के दो वर्ष बीतने पर सरकार ने 1971 मे 50 करोड रुपयों की एक क्रैश योजना प्रारम्भ की जिसका उद्देश्य प्रत्येक जिले में 1,000 लोगों को वर्ष मे 10 महीने काम देने का प्रावधान था। देश मे कुल 336 जिले थे। इस प्रकार से कुल 3,36,000 लोगो को इस योजना द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार प्रदान किया जाना था।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना—इस योजना मे गरीबी दूर करने के लिए प्रति व्यक्ति उपभोग बढ़ाने एवं कीमतों को स्थिर रखने के प्रयासों पर ज़ोर दिया गया। इस योजना मे 69,000 करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान रखा गया। कृषि एव उससे सम्बन्धित कार्यों पर 4,643 करोड, उद्योग एव खनिज पर 10,200 करोड, सामाजिक एव सामुदायिक सेवाओं पर 4,760 करोड तथा पर्वतीय एवं वनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए 450 करोड़ रुपये खर्च करने का प्रावधान रखा

गया। साथ ही कृषि उत्पादन मे 4% और औद्योगिक उत्पादन में 7 1% की औसत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया। 1975-76 मे राष्ट्रीय आय मे 6 के 6·5%, कृषि उत्पादन मे 10% तथा औद्योगिक उत्पादन मे 5·7% की वृद्धि हुई है।[1]

पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा हमारी राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हुई है। वर्तमान मूल्य दर पर 1963-64 मे प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 306 रु० से बढकर 1974-75 मे 852 रुपये हो गई। इसी प्रकार से राष्ट्रीय आय 1960-61 मे 132·7 अरब रुपये थी जो 1967-68 (चालू मूल्य दर पर) 27 अरब रुपये हो गई। कुछ लोगों का मत है कि यदि हम राष्ट्रीय आय में वृद्धि करें तो गरीबी अपने आप समाप्त हो जायेगी। किन्तु अमेरिका के ससेक्स विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डडले सीयर्स (Prof. Dudley Seers) ने अविकसित राष्ट्रों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष दिया कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि मात्र से ही गरीबी नहीं हटती है। यही बात पाकिस्तान के अर्थशास्त्री महबूब उल हक तथा स्वीडिश अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने भी कही है।[2] वे अधिक उत्पादन के साथ-साथ उचित वितरण पर भी जोर देते हैं।

भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी महबूब उल हक की बात से बहुत प्रभावित हुई और उन्होंने भी केवल राष्ट्रीय आय की वृद्धि करने के स्थान पर गरीबी का अन्त करने के लिए उचित वितरण की नीति पर जोर दिया। उन्होंने अपना नया नारा दिया 'गरीबी हटाओ'। इस नई नीति मे कई बातें तय की गई जैसे (i) यदि हम गरीबी हटाने का प्रयास करेंगे तो राष्ट्रीय आय मे अपने आप वृद्धि होगी। (ii) उत्पादन के आयोजन (production planning) के स्थान पर उपभोग के आयोजन (consumption planning) पर अधिक जोर दिया जाय। इसका अर्थ यह होगा कि उन वस्तुओं का अधिकाधिक निर्माण किया जाय जिससे लोगों की कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और गरीबी दूर की जा सके। (iii) उत्पादन को बढ़ाने के साथ-साथ उसका उचित वितरण किया जाय। (iv) रोजगार के अवसरो को प्राथमिकता दी जाय। (v) प्रत्येक व्यक्ति को जिसकी आय एक निश्चित सीमा से कम है सरकार प्रत्यक्ष या परोक्ष मे सहायता देकर उस स्तर तक लाने का प्रयास करे। (vi) देश के पिछड़े क्षेत्रों का विकास किया जाय ताकि उन्हें कम से कम उपभोग स्तर तक पहुँचाया जा सके। इस हेतु आवश्यक है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी आदि की ऐसे क्षेत्रो मे सुविधायें प्रदान की जायें तथा समाज कल्याण सेवाओं पर जोर दिया जाय। पाँचवी पंचवर्षीय योजना मे भी इन लक्ष्यो को ध्यान में रखा गया है। 26 जून, 1975 को देश में सकट काल की घोषणा कर दी गई जो लगभग 20 माह तक रही। इस दौरान श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने गरीबी दूर करने के लिए 20-सूत्री

1 *The Competition Master*, Nov. 1976, pp 249-253.
2 Quoted by Alok Ghosh, *op. cit*, p. 168.

कार्यक्रम की घोषणा की। किन्तु इस योजना के भी उत्साहवर्धक और आशाजनक परिणाम प्राप्त नहीं हुए क्योंकि वास्तविकताओं के स्थान पर खानापूरी कर आँकड़े प्रस्तुत करना ही अधिकारियों का मुख्य लक्ष्य रहा। गरीबों को दी गई भूमि ऐसी थी जो बंजर या दलदल थी। आवास के लिए भूमि का वितरण भी ऐसे स्थानों पर किया गया जहाँ कोई नहीं रहना चाहता था क्योंकि वहाँ बिजली, पानी और अन्य सुविधाओं का अभाव था। मार्च 1977 के चुनावों में काँग्रेस की पराजय के साथ ही यह कार्यक्रम भी समाप्त हो गया। अब नई जनता सरकार के सामने इस भयंकर समस्या से निपटने की कठिन चुनौती है। यद्यपि नई सरकार ने 10 वर्षों में बेकारी समाप्त करने व गरीबी हटाने की बात कही है किन्तु वास्तव में इस लक्ष्य को कहाँ तक प्राप्त किया जाता है यह तो आने वाला समय ही बतायेगा।

गरीबी समाप्त करने हेतु सुझाव
(SUGGESTIONS TO ERADICATE POVERTY)

देश में व्याप्त इस भयंकर आर्थिक-सामाजिक समस्या से निपटना कोई सरल कार्य नहीं है फिर भी प्रयत्नपूर्वक लगन एवं ईमानदारी से कार्य किया जाय और जन-सहयोग प्राप्त हो तो देश से गरीबी का अन्त किया जा सकता है। गरीबी की समस्या को हल करने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) बेकारी को दूर करना—बेरोजगारी को दूर करने के सभी सम्भव प्रयास किये जायें। ग्रामीण लोग वर्ष में 4-5 महीने बेकार बैठे रहते हैं अत. ग्रामों में कुटीर व्यवसायों एवं बेकारी के समय के लिए कृषि से सम्बन्धित व्यवसायों की व्यवस्था की जाय। इस सन्दर्भ में हम बेकारी के अध्याय में विस्तार से उपायों का उल्लेख कर चुके हैं।

(2) जनसंख्या पर नियन्त्रण—तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या हमारे आर्थिक विकास की योजनाओं को शिथिल कर देती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बढ़ती जनसंख्या पर रोक लगाने के लिए भारतीय संस्कृति एवं समाज के अनुरूप विधियों का प्रयोग किया जाय तथा परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक लागू किया जाय। जनसंख्या नियन्त्रण के विभिन्न साधनों का उल्लेख हम जनसंख्या की वृद्धि वाले अध्याय में विस्तार से कर चुके हैं।

(3) कृषि व्यवस्था में सुधार—कृषि के परम्परागत तरीकों के स्थान पर नवीन तरीकों, उन्नत बीज, खाद एवं नवीन सिंचाई के साधनों का उपयोग किया जाय। कृषि में हरित क्रान्ति (green revolution) को बढ़ावा देकर कृषि उत्पादन बढ़ाया जाय। कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय की जाय। औद्योगिक क्षेत्र में भारत सरकार ने न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पारित कर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम उठाया है किन्तु अभी तक कृषि क्षेत्र में इसका पालन सही ढंग से नहीं हुआ है।

भूमि सुधार के नियम लागू किये जायें और भूमिहीनों में कृषि योग्य भूमि का वितरण किया जाय। सीलिंग एक्ट को कारगर रूप से लागू किया जाय। बंधक

श्रमिकों को मुक्त किया जाय एवं किसानों को ऋण देने के लिए सहकारी संस्थाएँ खोली जायें ताकि कृषि क्षेत्र में पूँजी विनियोग मे तथा साहूकारों के चंगुल से मुक्त होने में सहायता मिल सके।

सर जॉन रसेल[1] भारतीय कृषि मे सुधार लाने हेतु निम्नांकित सुझाव देते हैं : (i) उत्तम फसल बोई जाय, (ii) पेड़-पौधों को नष्ट करने वाले रोगों एवं कीड़े मकोड़ों की रोक-थाम की जाय, (iii) सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार किया जाय (iv) मिट्टी के कटाव को रोका जाय, (v) अच्छी खादों एवं उर्वरकों का प्रयोग किया जाय, (vi) कृषि का मशीनीकरण किया जाय, (vii) फसलों में हेर-फेर और मिश्रित फसलों की व्यवस्था की जाय। इसके अतिरिक्त कृषकों के लिए पशु-पालन की सुविधा, उन्नत किस्म के पशुओं को उपलब्ध कराने, सहकारी समितियों एवं बैंकों की सुविधायें जुटाने आदि की उचित व्यवस्था की जाय।

(4) तीव्र आर्थिक विकास—भारत मे आर्थिक विकास की गति धीमी रही है। आर्थिक विकास में वृद्धि के लिए अधिकाधिक औद्योगीकरण किया जाय, गाँवों मे छोटे उद्योगों एवं कुटीर व्यवसायों को बढ़ावा दिया जाय और दूसरी ओर बड़े कारखाने भी स्थापित किये जायें। इससे बेकारी की समस्या के हल होने के साथ-साथ उत्पादन भी बढ़ेगा। अब तक हमारे आर्थिक विकास का प्रारूप (growth model) उत्पादन का रहा है। इसके स्थान पर उपभोग प्रारूप (consumption model) को अपनाया जाना चाहिए।

(5) साधनों का उचित वितरण—केवल मात्र राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने से ही गरीबी की समस्या का हल नहीं होगा जब तक कि उत्पादन के साधनों और लाभों का समाज के सभी लोगों मे उपयुक्त वितरण न किया जाय। वर्तमान व्यवस्था मे मुनाफा और उत्पादन के साधन कुछ ही लोगों के हाथों में केन्द्रित हैं। ऐसी व्यवस्था उत्पन्न की जाय जिसमे पूँजी एवं सम्पत्ति का समान रूप से वितरण हो। किसानों को सस्ते दामों पर वस्तुएँ उपलब्ध कराई जायँ। सरकार कम से कम आय का निर्धारण कर दे और जिनकी आय इस स्तर से कम हो, उन्हें सहायता प्रदान करे। किसानों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उचित मूल्य मिले, ऐसी व्यवस्था की जाय।

(6) भ्रष्टाचार का निवारण किया जाय ताकि गरीबी उन्मूलन के प्रयत्न कारगर ढंग से किये जा सकें।

(7) सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त किया जाय। छुआछूत की समाप्ति हो। दहेज, मृत्यु-भोज और अन्य ऐसी ही सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति के लिए कठोर कानून बनाये जायें एवं दण्ड की व्यवस्था के साथ-साथ जन-जागरण का

[1] *Sir John Russell, Technical Possibilities of Development of Agriculture in India*, p 50

तैयार किया जाय। इसके परिणामस्वरूप इन प्रथाओं को निभाने के लिए व्यक्ति को जो कर्ज लेना पड़ता है, उससे मुक्ति मिलेगी और वही पैसा लोग अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में लगा सकेंगे।

(8) शिक्षा का प्रचार—औद्योगिक और सामान्य शिक्षा का प्रचार किया जाय जिससे एक तरफ रोजगार के अवसर बढ़ेंगे तो दूसरी ओर अज्ञानता, रूढ़ियों एवं सामाजिक कुरीतियों से भी छुटकारा मिल सकेगा। शिक्षा से मजदूर की कार्य-क्षमता, दक्षता और गतिशीलता में वृद्धि होगी। शिक्षा को अधिकाधिक व्यवसाय से जोड़ा जाय तथा शिक्षा की योजना आर्थिक विकास से जुड़ी हुई हो।

(9) योजना की कमियों को दूर किया जाय तथा देश के पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए प्रयत्न किये जायें।

(10) सामाजिक बीमा योजना—लोगों को युद्ध, प्राकृतिक विपदाओं, संकट, बीमारी, बुढ़ापा, शारीरिक अक्षमता, बेकारी आदि के समय में सहायता प्रदान करने के लिए सामाजिक बीमा योजना प्रारम्भ की जाय। इस प्रकार की योजना औद्योगिक श्रमिकों के लिए तो प्रारम्भ की जा चुकी है लेकिन ग्रामीणों और किसानों के लिए इस प्रकार की योजना शीघ्रातिशीघ्र लागू की जाय। गरीबों की सहायता करने के लिए मानवीय और धार्मिक दृष्टिकोण से प्रभावित होकर दान देने तथा अनाथों और अपाहिजों के लिए अनाथालय आदि खोलने के प्रयास सदैव किये जाते रहे हैं। किन्तु बिना राजनीतिक संरक्षण के इस प्रकार के उपाय लम्बे समय तक नहीं चल पाते हैं।

(11) प्राकृतिक विपदाओं जैसे बाढ़, भूकम्प, अनावृष्टि तथा कीड़े-मकोड़ों के प्रकोप आदि से रक्षा की उचित व्यवस्था की जाय।

(12) मद्य-निषेध को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाय।

(13) गन्दी बस्तियों को समाप्त कर उनके स्थान पर नियोजित बस्तियाँ बनायी जायें।

(14) स्वास्थ्य-संरक्षण की उचित व्यवस्था की जाय।

(15) देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का पूर्ण दोहन किया जाय।

(16) देश में यातायात के साधनों का अधिकाधिक विकास किया जाय।

(17) सट्टे एवं जुए पर रोक लगायी जाय।

गरीबी एक सामाजिक एवं आर्थिक चुनौती है जिसकी उत्पत्ति के लिए अनेक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं प्राकृतिक कारक उत्तरदायी हैं। इस समस्या को हल करने के लिए सरकार ने योजनाबद्ध प्रयत्न किये हैं फिर भी यह समस्या हल होने के स्थान पर दिनोंदिन और गम्भीर होती गई है। भारत में इस समस्या के हल के लिए शिक्षा का प्रसार, औद्योगीकरण, भूमि सुधार, कृषि में क्रान्ति, भ्रष्टाचार निवारण, रोजगार देने, जनसंख्या को नियन्त्रित करने, साधनों

10

सामाजिक भेदभाव
(SOCIAL DISCRIMINATION)
जाति एवं धर्म के सन्दर्भ में
(With Reference to Caste and Religion)

भारत एक ऐसा देश है जहाँ जाति एवं धर्म के आधार पर अनेक भेदभाव पाये जाते हैं। यहाँ तीन हजार से भी अधिक जातियाँ एवं उपजातियाँ पायी जाती हैं। विभिन्न जातियों में एक संस्तरणात्मक व्यवस्था दिखलायी पड़ती है, अर्थात् एक जाति दूसरी जाति की तुलना में ऊँची अथवा नीची मानी जाती है। यहाँ अनेक जातियाँ सवर्ण हिन्दुओं के अन्तर्गत और अनेक अवर्ण हिन्दुओं के अन्तर्गत आती हैं। अवर्ण हिन्दू जातियों को पिछड़े वर्गों के नाम से, अछूत या अस्पृश्यों या पंचमवर्ण के नाम से जाना जाता रहा है। सवर्ण हिन्दू जातियाँ इन पंचम वर्ण के लोगों के सम्पर्क से सदैव बचने का प्रयत्न करती रही हैं। इन अस्पृश्य लोगों की अनेक ऐसी निर्योग्यताएँ रही हैं जिनकी वजह से इन्हें अपने जीवन को उन्नत बनाने के और यहाँ तक कि ठीक प्रकार से अपना जीवन-यापन करने का भी अवसर नहीं मिला है। इनके छूने और देखने मात्र से उच्च जाति के हिन्दू अपवित्र हो जाते हैं और इसी कारण इनके प्रति पृथक्करण की नीति को अपनाया गया। इन्हें ग्राम या बस्ती के बाहर अलग रहने के लिए बाध्य किया गया और सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से वंचित रखा गया। यदि यह कहा जाय कि यहाँ जाति और धर्म के नाम पर मानव मानव के बीच भेद-भाव की एक ऊँची दीवार खड़ी कर दी गयी तो किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जाति व्यवस्था की एक प्रमुख बुराई के रूप में इस देश में जातिवाद का बोलबाला है। लोगों की निष्ठाएँ अति संकुचित या संकीर्ण हैं। व्यक्ति अपने समाज, देश और मानवता के दृष्टिकोण से नहीं सोचकर अपनी जाति अथवा उपजाति के दृष्टिकोण से सोचता है। उसकी वफादारी उसकी जाति के संकुचित दायरे में सीमित हो जाती है। वह जातिवाद के नाम पर देश के बड़े से बड़े हित की भी चिन्ता नहीं करता, वह अपनी जाति के व्यक्तियों के हित में सोचता और पक्षपातपूर्ण व्यवहार

को बढ़ावा देता है। वह भूल जाता है कि उसके ऐसा करने से योग्य और प्रतिभा-शाली व्यक्तियों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता और देश की प्रगति में बाधा उपस्थित होती है।

इस देश में न केवल जाति के आधार पर बल्कि धर्म के आधार पर भी भेद-भाव पाये जाते हैं। यहाँ अनेक धर्मों के मानने वाले एक साथ निवास करते हैं। यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, सिक्ख तथा पारसी आदि पाये जाते हैं। यहाँ अंग्रेजों के शासन काल में धार्मिक भेद-भाव को प्रोत्साहन दिया गया। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को अपनाया और परिणामस्वरूप हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे से पृथक बनाये रखने का प्रयत्न किया। उनकी रुचि इसी में थी कि ये दोनों आपस में लड़ते रहें और हम राज्य करते रहें। वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी रहे। उन्होंने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के उद्देश्य से यहाँ साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया और मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया। इन दोनों के सम्बन्धों में तनाव एवं कटुता आती गई और यहाँ धर्म के नाम पर समय-समय पर साम्प्रदायिक दंगे भी हुए। महात्मा गांधी एवं कांग्रेस के अनेक चोटी के नेताओं ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दू-मुस्लिम एकता का भरसक प्रयत्न किया परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा। परिणाम यह हुआ कि देश हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो भागों में बँट गया। लाखों की तादाद में हिन्दू पाकिस्तान से हिन्दुस्तान आये और यहाँ से काफी मुसलमान पाकिस्तान गये। मार-काट और खून-खराबा भी हुआ। पाकिस्तान के बनने के उपरान्त भी भारत में करोड़ों की संख्या में मुसलमान शेष बच रहे। यहाँ स्वतन्त्र भारत में धर्म के आधार पर किसी प्रकार का कोई भेद-भाव नहीं बरता गया। भारत ने अपने को धर्म-निरपेक्ष (Secular) राज्य घोषित किया और उसी के अनुरूप व्यवहार किया। यहाँ धर्म, जाति, भाषा, मूलवंश आदि के आधार पर किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं किया गया। दुर्भाग्य यह रहा कि यहाँ मुसलमान हिन्दुओं को शंका की दृष्टि से देखते रहे और हिन्दू मुसलमानों को। एक दूसरे के प्रति एक अविश्वास पनपता रहा। स्वतन्त्र भारत में भी कुछ लोगों की निष्ठाएँ पाकिस्तान के प्रति रहीं और उन्होंने इस देश का अन्न खाते हुए भी इसके प्रति वफादारी नहीं दिखायी। इस स्थिति ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। राजनैतिक स्वार्थ के वशीभूत कुछ नेताओं और राजनैतिक दलों ने भी साम्प्रदायिकता को पनपाया। वर्तमान में शिक्षा के प्रसार और तेजी से हो रहे परिवर्तनों के मध्य लोग वास्तविकता से परिचित होने लगे हैं। सम्भव है, निकट भविष्य में साम्प्रदायिकता को कम किया जा सके और विभिन्न धर्म के लोगों में एक दूसरे के प्रति सद्भावना पैदा की जा सके।

जातिवाद
(CASTEISM)

जातिवाद जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित एक गम्भीर समस्या है जो राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक है। जातिवाद वह अनुचित भावना है जिसके वशीभूत

हो व्यक्ति समाज और राष्ट्र को विशेष महत्त्व नही देकर अपनी जाति-हितों को सर्वोपरि मानता है और अपनी जाति के स्वार्थों की दृष्टि से सोचता है। आज जातिवाद ने जातियो को आन्तरिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने मे योग दिया है। वर्तमान मे जाति के नाम पर शिक्षण सस्थाएं, धर्मशालाएँ, औद्योगिक सस्थान, औषधालय, मन्दिर एव अन्य सगठन पाये जाते हैं। इन संगठनो के माध्यम से जाति-विशेष की स्थिति को सामाजिक सस्तरण की प्रणाली मे ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है। ये सगठन अपनी जाति के लोगों को विशेष सुविधाएँ प्रदान कर उन्हें अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने का अवसर देते हैं। आज व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण मे जन्म और जाति का महत्त्व सापेक्ष दृष्टि से कम होता जा रहा है। अब धन, उच्च शिक्षा, उच्च नौकरी तथा राजनैतिक शक्ति आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्धारण होने लगा है। ऐसी स्थिति मे अपनी जाति के अन्य सदस्यो को अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के अवसर प्रदान करके ही सामाजिक सस्तरण की प्रणाली मे जाति को ऊँचा उठाया जा सकता है। यही कारण है कि उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त व्यक्ति अपनी जाति के व्यक्तियों को उच्च शिक्षा, राजकीय एव अन्य नौकरियों में प्रवेश, धन कमाने के अवसर तथा राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का मौका प्रदान करना चाहते हैं। आज विभिन्न जातियाँ इसी दिशा मे प्रयत्नशील हैं, जातीय सगठनो के निर्माण मे लगी हुई हैं, अपनी जाति के लोगो को हर कीमत पर सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ पहुँचा रही हैं, चाहे इससे राष्ट्रीय अहित ही क्यों न हो।

जातिवाद का अर्थ (Meaning of Casteism)

जातिवाद या जाति-भक्ति एक जाति के सदस्यो की वह सकुचित भावना है जो समाज या राष्ट्र के सामान्य हितो का ध्यान नहीं रखते हुए अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों के हितो को बढ़ावा देने, उनकी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने और उन्हें आगे बढाने के अवसर प्रदान करने के लिए प्रेरित करती है। जातिवाद वह भावना है जो एक जाति के सदस्यो को अपनी ही जाति वालो के उत्थान, एकता एवं सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने मे मदद करती है। इस भावना के कारण एक जाति के सदस्यों की निष्ठाएं अपनी जाति के लोगों तक ही केन्द्रित हो जाती हैं, वे अपनी जाति के क्षुद्र स्वार्थ के दृष्टिकोण से ही सोच पाते हैं। उनमे अपनी जाति वालों के प्रति तो अपनेपन की भावना पायी जाती है परन्तु अन्य जाति वालो के प्रति पृथक्करण की। यह प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता की पोषक और राष्ट्रीय एकता मे बाधक है।

जातिवाद की सकुचित भावना के कारण व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे अपनी जाति के सदस्यों को ही प्राथमिकता देने को तत्पर रहता है। जातिवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए डा० के० एन० शर्मा ने लिखा है, "जातिवाद या जाति-भक्ति

एक ही जाति के व्यक्तियों की यह भावना है जो देश के या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रेरित करती हो।"[1] इस परिभाषा में दो पक्षों पर जोर दिया गया है—प्रथम, मनोवैज्ञानिक पक्ष पर और द्वितीय, व्यावहारिक पक्ष पर। मनोवैज्ञानिक पक्ष के अन्तर्गत व्यक्ति की भावनाएँ और व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत उसकी क्रियाएँ आती हैं। जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति अपनी जाति के प्रति न केवल तीव्र भक्ति-भावना रखता है, बल्कि अपनी क्रियाओं द्वारा भी जाति के अन्य लोगों के स्वार्थ की चिन्ता करता है, उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने, नौकरी और व्यापार में प्राथमिकता देने और राजनीति में आगे बढ़ाने का भी प्रयत्न करता है। उसके ऐसा करने से जाति-विशेष में तो आन्तरिक दृढ़ता अवश्य बढ़ती है, परन्तु अन्य जातियों के न्यायपूर्ण हितों की पूर्ति में बाधा पहुँचती है, उनके प्रति घृणा के भाव भी पनपते हैं। यह स्थिति विभिन्न जातियों के बीच कटुता एवं तनाव को बढ़ाती है और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हानिप्रद है। काका कालेलकर ने जातिवाद के सम्बन्ध में लिखा है कि जातिवाद अन्ध और परिमित समूह-भक्ति है, जो न्याय के सामान्य सामाजिक मानदण्डों के औचित्य, नैतिकता तथा सार्वभौमिक भ्रातृत्व की उपेक्षा करती है। डा० एन० प्रसाद ने बतलाया है कि जातिवाद राजनैतिकता में रूपान्तरित एक जाति में प्रतिनिष्ठा है। इस सम्बन्ध में के० एम० पनिकर की मान्यता है कि राजनैतिक भाषा में उपजाति के प्रति निष्ठा का भाव ही जातिवाद है। आपने अन्यत्र लिखा है कि जब तक उपजाति की अवधारणा पायी जाती है तब तक जातिवाद अपरिहार्य है क्योंकि यह एक ऐसी स्थायी निष्ठा है जो हिन्दुओं ने उत्तराधिकार में प्राप्त की है।[2] स्पष्ट है कि जातिवाद वह संकीर्ण भावना है जो एक जाति के सदस्यों को अन्य लोगों के सामान्य हितों की चिन्ता नहीं करते हुए अपनी ही जाति के लोगों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राथमिकता देने को प्रेरित करती है।

जातिवाद के विकास के कारक (Factors responsible for Casteism)

जातिवाद के विकास में अनेक कारकों का योग रहा है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) वैवाहिक प्रतिबन्ध के अन्तर्गत जाति अन्तर्विवाह की प्रथा आती है। इस प्रथा के अनुसार प्रत्येक के लिए अपने ही जातीय समूह में वैवाहिक सम्बन्ध करना आवश्यक है। वैवाहिक क्षेत्र के अपनी ही जाति या उपजाति तक सीमित होने की वजह से जीवन-साथी के चुनाव की समस्या आती है। ऐसी स्थिति में लोगों का यह

---

1 डा० के० एन० शर्मा, भारतीय समाज और संस्कृति, पृष्ठ 318

2 *K. M. Pannikar, Hindu Society at Cross Roads*, p. 22.

प्रयत्न रहता है कि अपनी ही जाति वालों को विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ने और नौकरियों तथा कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने का अवसर मिले ।

(2) यातायात और सन्देशवाहन के साधनों के विकास ने जातिवाद को राष्ट्रव्यापी बना दिया है । एक ही जाति के लोग देश के विभिन्न कोनों में पहुँच गये हैं । जाति-बिरादरी वालों के आज प्रान्तीय ही नहीं, बल्कि अखिल भारतीय सम्मेलन होते हैं जिनमें अपनी जाति के सदस्यों के हितों के संरक्षण पर विचार-विमर्श किया जाता है । आज तो विभिन्न जातियों के पत्र-पत्रिकाएँ तक निकलने और संगठन बनने लगे हैं जिनके फैलाव का क्षेत्र काफी व्यापक है । जातीय आधार पर बने ऐसे संगठनों को [illegible] ने पैरा कम्युनिटीज (Para-communities) नाम दिया है ।

(3) जातीय प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने और सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में अपनी जाति की स्थिति को उन्नत करने की इच्छा ने जातिवाद के विकास में विशेष सहायता पहुँचायी है । आज अर्जित परिस्थिति का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और इसी कारण जाति के सदस्यों को नवीन पैमानों के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ने के अवसर प्रदान करना आवश्यक हो गया है । इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति संकुचित दृष्टिकोण से सोचता और व्यवहार करता है ।

(4) जजमानी प्रथा के टूटने से जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है । इस प्रथा ने उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तक विभिन्न जातियों को व्यावसायिक आधार पर एकता के सूत्र में बाँध रखा था । प्रत्येक जाति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य जातियों पर निर्भर थी । जातियाँ एक-दूसरे के लिए कुछ आवश्यक सेवाएँ प्रदान करती थीं और बदले में कुछ वस्तुएँ प्राप्त करती थीं । यह पारस्परिक निर्भरता प्रत्यक्ष और परम्परागत थी । आज जजमानी प्रथा के टूटने से विभिन्न जातियों के उदग्र सम्बन्ध (vertical relations) समाप्त हो चुके हैं और एक ही जाति के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, जिन्हें क्षैतिज सम्बन्ध (horizontal relations) कहते हैं, में दृढ़ता आयी है । इसके फलस्वरूप जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है ।

(5) औद्योगिक विकास ने भी जातिवाद को बढ़ाने में योग दिया है । औद्योगीकरण के कारण अनेक नवीन व्यवसायों का विकास हुआ है जिनका किसी जाति विशेष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता । आज विभिन्न जाति के व्यक्ति एक ही व्यवसाय में और एक ही जाति के लोग भिन्न भिन्न व्यवसायों में लगे हुए हैं । औद्योगीकरण के कारण परिवार तथा जाति के वंशानुगत पेशों को चोट पहुँची है । परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक सुरक्षा समाप्त हो गयी है । साथ ही जनसंख्या की तेजी से वृद्धि एवं औद्योगिक विकास की धीमी गति के कारण लोगों को योग्यतानुसार नौकरियाँ प्राप्त करने के अवसर नहीं मिले हैं । ऐसी स्थिति में जाति के द्वारा अपने सदस्यों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु लोग अपनी ही जाति वालों को उच्च पद प्राप्त करने का अवसर देना चाहते हैं ।

(6) नगरों की दशाओं ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित किया है। नगरों में विभिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों तथा आर्थिक स्तरों के लोग पाये जाते हैं। यहाँ विभिन्न स्वार्थों के आधार पर बने संगठन भी दिखलाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में जाति ही पीछे क्यों रहती ? नगरों में घनिष्ट एवं दृढ़ समूह के रूप में जातीय संगठन बनने लगे जो अपनी जाति के लोगों की स्वार्थ-पूर्ति के कार्य में लग गये। नगर में महेश्वरी समाज, खण्डेलवाल युवक मण्डल तथा गुर्जर गौड़ ब्राह्मण पंचायत आदि के रूप में अनेक जातीय संगठन पाये जाते हैं।

(7) जातियों के विभेदीकृत विकास ने भी जातिवाद को प्रोत्साहित करने में सहायता पहुँचायी है। कुछ जातियों को विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं और कुछ अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रही हैं। ऐसी दशा में कुछ जातियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, उच्च नौकरियों में आने तथा धन कमाने एवं अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के विशेष अवसर मिले हैं। परिणाम यह हुआ है कि कुछ जातियों ने आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त कर ली और कई जातियों को इनसे वंचित रहना पड़ा। कुछ जातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायों में ही लगी रहीं और उन्हें आर्थिक दृष्टि से प्रगति करने और अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का मौका नहीं मिला। इस स्थिति ने विभिन्न जातियों में कटुता को बढ़ाया है और परिणामस्वरूप जातीय संगठन दृढ़ हुए हैं। विभिन्न जातियों के उदग्र सम्बन्ध कमजोर और क्षैतिज सम्बन्ध मजबूत हुए हैं। इन सारी परिस्थिति ने लोगों को अपनी ही जाति या उपजाति के संकुचित स्वार्थ के दृष्टिकोण से सोचने के लिए प्रेरित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विविध कारकों ने जातिवाद के विकास में योग दिया है।

जातिवाद के परिणाम (Consequences of Casteism)

जातिवाद के फलस्वरूप अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं -

जातिवाद और राजनीति के बीच सम्बन्धों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि जातिवाद ने प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास में बाधा उपस्थित की है। प्रजातन्त्र समानता और बन्धुत्व पर आधारित है, जबकि जातिवाद ऊँच-नीच, संकुचित निष्ठाओं एवं पक्षपात पर। जातिवाद के वशीभूत हो व्यक्ति सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के हित के दृष्टिकोण से सोच ही नहीं पाता और केवल अपने जाति के व्यक्तियों को सब प्रकार की सुख सुविधाएँ एवं राजनैतिक शक्ति प्रदान करना चाहता है। परिणाम यह होता है कि चुनावों में जाति के नाम पर वोट माँगे और दिये जाते हैं। अनेक निम्न जातियों में जिनमें काफी दृढ़ता पायी जाती है, चुनाव के मौके पर लोगों को यह कहते सुना जाता है कि हम वोट और बेटी तो अपनी जाति वाले को ही देंगे। इससे स्पष्ट होता है कि जातिवाद ने राजनीति को किस सीमा तक प्रभावित किया है। राजनैतिक दल

भी चुनाव हेतु अपने दल के उम्मीदवारों का चयन करते समय क्षेत्र विशेष की बहु-संख्यक जाति का विशेष रूप से ध्यान रखते हैं। पंचायतों, म्यूनिसिपल कमेटियों तथा विधान सभाओं के चुनावों के अनेक अध्ययनों के आधार पर यह बात स्पष्ट है। इतना अवश्य है कि इस बार लोक-सभा के चुनाव में जाति ने कोई विशेष महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभायी है। जो लोग जाति-विशेष के समर्थन के आधार पर चुनाव में विजय प्राप्त करते हैं, उन्हें अपनी जाति के हितों को प्रमुखता देनी पड़ती है। ऐसी दशा में समाज एवं राष्ट्र के हितों की अवहेलना होती है।

जातिवाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक है। जातिवाद के कारण छोटे-छोटे जातीय समूह संगठित हो जाते हैं तथा व्यक्ति की सामुदायिक भावना बहुत अधिक संकुचित हो जाती है। वह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार नहीं करके जातिगत कल्याण की दृष्टि से सोचता है। समाज के सैकड़ों-हजारों छोटे-छोटे खण्डों के विभक्त हो जाने और अपनी जाति या उपजाति को सर्वोपरि समझने से स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्रीय एकता में बाधा उपस्थित होती है। जातिवाद के कारण संविधान की धारा 15 (1) की अवहेलना होती है। इस धारा में बतलाया गया है कि राज्य किसी के साथ किसी भी आधार पर कोई भेद-भाव नहीं करेगा। वास्तविकता यह है कि अनेक राजनेता और बड़े से बड़े अधिकारी भी जातिवाद की संकुचित मनोवृत्ति के शिकार हैं जो उन्हें राष्ट्रीय हितों की कीमत पर संकुचित जातिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रेरित करती है।

जातिवाद औद्योगिक कुशलता में भी बाधक है। आज देश में अनेक उद्योग-धन्धों का विकास होता जा रहा है जिनमें योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उच्च पदों पर आसीन करने की आवश्यकता है। होता यह है कि बड़े-बड़े उद्योगों में लोग अपनी ही जाति के व्यक्तियों को उच्च पदों पर आने का अवसर देते हैं। ऐसी स्थिति में औद्योगिक कुशलता में कमी आती है और श्रेष्ठ प्रतिभाओं का लाभ समाज को नहीं मिल पाता। आज यह बात जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई पड़ती है।

जातिवाद कुछ सीमा तक नैतिक पतन के लिए भी उत्तरदायी है। जातिवाद की भावना व्यक्ति को पक्षपातपूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरित करती है। अनेक नेता, मन्त्री तथा उच्च पद प्राप्त अधिकारी अपनी जाति के लोगों के साथ पक्षपात करते रहे हैं, भाई-भतीजेवाद को पनपाते रहे हैं। वे सभी सुविधाएँ अथवा लाभ अपनी जातिवालों को पहुँचाने का प्रयत्न करते रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि राजनीति एवं प्रशासन के क्षेत्र में भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिला है।

जातिवाद व्यक्ति व्यक्ति के बीच भेदभाव की दीवार खड़ी कर देता है। व्यक्ति अपनी जाति से ऊपर उठकर समाज, राष्ट्र और मानवता के दृष्टिकोण से सोच ही नहीं पाता। जातिवाद के कारण विभिन्न जातियों के बीच जातीय संघर्ष बढ़े हैं। यह सारी स्थिति किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।

जातिवाद के निराकरण के उपाय (Measures to Eradicate Casteism)

जातिवाद के निराकरण के लिए समय समय पर अनेक सुझाव दिये जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जातिवाद की समस्या से छुटकारा प्राप्त करने के लिए जाति-व्यवस्था को ही समाप्त कर देना चाहिए। कुछ नेतागण तो यह कहते रहे हैं कि शीघ्र ही जातिविहीन समाज की रचना होगी। लेकिन अभी तक न तो ऐसा सम्भव हुआ है और न ही निकट भविष्य में इसकी सम्भावना दिखायी देती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति के ऐतिहासिक और सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं जिन्हें समाप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। यहाँ लोग ऐसा सोच भी नहीं पाते कि भारत में जातियों के अभाव में कोई सामाजिक प्रणाली चल सकती है। अतः जातिवाद को समाप्त करने हेतु जाति-व्यवस्था को समाप्त करना अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

कुछ लोग कानून के द्वारा जाति-व्यवस्था और जातिवाद को समाप्त करने का सुझाव भी देते हैं। यद्यपि कानून सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम अवश्य है परन्तु जब तक लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन नहीं आता तब तक कानून कोई महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लाने में सफल नहीं हो सकता। क्या कानून के माध्यम से आज तक बाल-विवाहों को समाप्त और विधवा विवाहों को प्रोत्साहित किया जा सका है? यदि नहीं, तो फिर कानून के द्वारा जाति व्यवस्था और इसके परिणामस्वरूप पनपने वाले जातिवाद को कैसे समाप्त किया जा सकता है? ऐसी स्थिति में हमें जातिवाद के निराकरण के लिए कुछ अन्य उपायों पर विचार करना चाहिए जो इस प्रकार हैं

(1) जातिवाद को समाप्त करने के लिए डा० घुरिये का सुझाव है कि अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। अन्तर्जातीय विवाह उसी समय प्रचलित हो सकते हैं जब ऐसे विवाहों के लिए देश में उपयुक्त वातावरण तैयार किया जाय। यह तभी हो सकता है जब शिक्षा के माध्यम से लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाया जाय तथा विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियों को एक दूसरे के निकट आने का अवसर दिया जाय। डा० घुरिये ने बतलाया है कि वास्तव में यदि जाति-प्रथा और जातिवाद को अत्यधिक आघात पहुँचाने वाला कोई तत्त्व है तो वह है अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन। आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्जातीय विवाह करने वालों को सुविधाओं के रूप में प्रेरणा प्रदान की जाय।

(2) पी० एच० प्रभु की मान्यता है कि उचित शिक्षा के द्वारा व्यवहार के आन्तरिक स्रोतों पर प्रभाव डालकर जातिवाद को दूर किया जा सकता है। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि बच्चों में जाति-पाँति सम्बन्धी भेदभाव उत्पन्न ही नहीं हो, धर्म-निरपेक्षता को बढ़ावा मिले और जातिवाद के विरोध में स्वस्थ जनमत का निर्माण हो। शिक्षा और सामाजिक सम्पर्क के द्वारा एक जातीय समूह की दूसरे समूह के प्रति कलुषित धारणाओं को बदला जा सकता है। लोगों की मनोवृत्तियों को बदलने के लिए चलचित्रों का प्रयोग किया जा सकता है।

(3) डा० राव के अनुसार वैकल्पिक समूहों के निर्माण से जातिवाद की समस्या को हल किया जा सकता है। यहाँ लोग जातीय समूहों के माध्यम से ही अपनी सामूहिक प्रवृत्तियों को व्यक्त करते हैं। यदि उन्हें वैकल्पिक समूह उपलब्ध हों तो वे इनकी सदस्यता प्राप्त कर इनके माध्यम से सामूहिक मनोवृत्तियों को व्यक्त तथा अपनी विविध क्रियाओं को संगठित कर सकेंगे। सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों के निर्माण से विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को एक दूसरे के निकट आने और एक दूसरे को समझने का मौका मिल सकेगा। ऐसी स्थिति में उनमें समानता और बन्धुत्व की भावना पनपेगी और जातिवाद दूर हो सकेगा। यहाँ यह सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं इन संगठनों में भी जातिवादिता प्रवेश न कर जाय।

(4) श्रीमती इरावती कर्वे ने सुझाव दिया है कि जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाना आवश्यक है। इस समानता के आने पर लोग अपनी ही जाति के संकुचित दायरे में सीमित नहीं रहेंगे और उन्हें विभिन्न जाति के लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता मिलेगी।

(5) जातिवाद को समाप्त करने तथा अस्पृश्यता निवारण हेतु सितम्बर 1955 में दिल्ली में आयोजित सेमिनार में सुझाव दिया गया कि जाति शब्द का कम से कम प्रयोग किया जाय। सेमिनार में बतलाया गया कि सरकार के द्वारा यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि प्रार्थना-पत्रों, स्कूल के रजिस्टरों, धर्मशालाओं तथा दुकान आदि के नामों में जाति शब्द का कहीं कोई प्रयोग नहीं किया जाय। यह सुझाव केवल जाति-व्यवस्था की ऊपरी सतह को प्रभावित करने वाला ही है।

(6) डा० श्रीनिवास ने बतलाया है कि वयस्क मताधिकार प्रणाली, पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से होने वाली क्रान्ति, शिक्षा का प्रसार, पिछड़ी जातियों का उत्थान तथा उनके रहन-सहन के तरीकों पर उच्च जातियों की संस्कृति के प्रभाव से जाति व्यवस्था के बहुत से दोष दूर हो सकेंगे। इन दोषों में से जातिवाद भी एक है।

जातिवाद से छुटकारा प्राप्त करने के लिए आर्थिक विकास अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक विकास से लोगों को रोजगार प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध और बेरोजगारी समाप्त हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि नौकरियों आदि प्राप्त करने के लिए लोगों को अपनी जाति वालों के पास नहीं दौड़ना पड़ेगा। अतः देश के आर्थिक विकास पर विशेष जोर देना आवश्यक है।

स्वतंत्र भारत में जातिवाद को समाप्त करने हेतु अनेक प्रयत्न किये गये हैं। उदाहरण के रूप में साक्षरता के प्रसार, वैकल्पिक समूहों के निर्माण, जाति तथा धर्म के आधार पर सबके साथ समानता के व्यवहार को प्रोत्साहन देने और आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता लाने हेतु अनेक कदम उठाये गये हैं। यहाँ पिछड़ी जातियों, अछूतों एवं जनजातियों की निर्योग्यताओं को समाप्त कर उन्हें उच्च जातियों के

समकक्ष लाने का प्रयत्न भी किया गया है। 'अस्पृश्यता निवारण अधिनियम, 1955' के द्वारा अस्पृश्यता को कानून के द्वारा समाप्त कर दिया गया है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश के औद्योगिक विकास का भी भरसक प्रयास किया गया है ताकि लोगों को नौकरियाँ प्राप्त हो सकें। जैसे-जैसे साक्षरता बढ़ती है, स्कूलों एवं कॉलेजों में विभिन्न जातियों के बालक-बालिकाओं को एक दूसरे के साथ अध्ययन एवं सम्पर्क स्थापित करने के अवसर बढ़ते हैं, अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या में वृद्धि होती है, औद्योगीकरण और नगरीकरण की गति तीव्र होती है, उसके साथ ही साथ जाति-विहीन वातावरण की सृष्टि और जातिवाद की संकुचित भावना का अन्त हो सकेगा।

अस्पृश्यता
(UNTOUCHABILITY)

भारतीय समाज में व्याप्त अनेक समस्याओं में से अस्पृश्यता भी एक प्रमुख समस्या है। इस देश के करोड़ों व्यक्तियों को अस्पृश्यता के नाम पर मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया और निम्नतम स्तर का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया। इन लोगों पर सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ लाद दी गई जिनकी वजह से इन्हें जीवन की सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से वंचित रहना पड़ा। गाँव अथवा नगर के बाहर किसी दूरस्थ कोने में रहने के लिए इन्हें टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ या कच्चे मकान ही मिल गये। मानव मानव के बीच भेदभाव और ऊँच-नीच की कितनी ऊँची दीवार खड़ी की जा सकती है, इसका ज्वलन्त उदाहरण भारतीय समाज में देखने को मिलता है। इन लोगों को सैकड़ों वर्षों से सामाजिक न्याय से वंचित रखा गया है। भारत में सन् 1971 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों की संख्या, जिन्हें अछूत माना जा रहा है, 7,99,95,896 है।[1]

अस्पृश्यता का इतिहास (History of Untouchability)

अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था के इतिहास के साथ जुड़ी हुई है। वैदिक काल में अस्पृश्यता जैसी कोई समस्या समाज के सम्मुख नहीं थी। उस समय पवित्रता-अपवित्रता सम्बन्धी विचार अवश्य पाये जाते थे और अपवित्र कार्यों में लगे लोगों को दूध से बनी वस्तुओं एवं यज्ञ में काम में आने वाली चीजों को छूने की आज्ञा नहीं थी। उत्तर वैदिक काल के अन्तिम वर्षों में ऐसे लोगों के लिए चाण्डाल, डोम एवं अन्त्यज आदि शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु फिर भी इनके प्रति सामाजिक भेदभाव और घृणा की भावना अधिक कटु नहीं थी। डा० घुरिये ने बतलाया है कि उस समय यह विश्वास अवश्य प्रचलित था कि यज्ञ के स्थान पर शूद्र को नहीं आने देना चाहिए।[2] आपकी मान्यता है कि उत्तर वैदिक काल में चारों वर्ण एक

---

1 भारत 1975, पृष्ठ 109.

2 G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, p. 218.

दूसरे से पृथक हो गये थे और अस्पृश्यता से सम्बन्धित प्रतिबन्ध केवल चाण्डालों या अन्त्यजों पर ही नहीं बल्कि पूरे शूद्र वर्ण पर लागू किये जा चुके थे। जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप इस समय शूद्रों की स्थिति में कुछ सुधार लाने का प्रयास किया गया। इस समय तक चाण्डालों की स्थिति में काफी गिरावट आ चुकी थी।

स्मृतिकाल में अस्पृश्यता की भावना में तेजी से वृद्धि होने लगी। मनुस्मृति में बतलाया गया है कि चाण्डालों एवं श्वपचों को गाँव के बाहर रहना चाहिए, दिन में गाँव में नहीं आना चाहिए और अपने बर्तनों के प्रयोग को केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। इस काल में चाण्डालों को सबसे अधम कार्य जैसे गन्दगी को साफ करना, लावारिस शवों को उठाना, आवश्यकतानुसार बधिक का कार्य करना आदि सौंपे गये। ऐसे लोगों के स्पर्श से बचने की बात कही गई और यहाँ तक बतलाया गया कि इनका मुँह देखना भी अपवित्रता लाने वाला है। सूत्रों में इन लोगों की स्थिति अत्यधिक निम्न समझी गयी।

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात् अछूतों की स्थिति में और भी गिरावट आई। इन्हें किसी एकान्त स्थान पर रहने के लिए बाध्य किया गया। ये किसी पूजा-पाठ, यज्ञ अथवा धार्मिक उत्सव में भाग नहीं ले सकते थे। इनके लिए सार्वजनिक स्थान का उपयोग वर्जित था। इन्हें दिन में अपनी बस्ती से बाहर निकलने की भी आज्ञा नहीं थी। सवर्ण हिन्दुओं द्वारा काम में ली जाने वाली वस्तुओं को छूना इनके लिए वर्जित था। 19वीं शताब्दी के अन्त तक तो अस्पृश्यों के साथ इतना भेदभाव किया जाने लगा कि इन्हें हिन्दू समाज का अंग होते हुए भी हिन्दू समाज से पृथक ही समझा जाने लगा। अपनी अपमानजनक स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने के लिए लाखों अछूतों ने इस्लाम तथा ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया।

ब्रिटिश काल में अछूतों को दलित वर्ग (depressed class) के नाम से पुकारा गया। अस्पृश्य जातियों के नामकरण के सम्बन्ध में शुरू से ही काफी विवाद रहा है। इन्हें अछूत, दलित वर्ग, बाहरी जातियाँ, हरिजन एवं अनुसूचित जाति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता रहा है। इनकी आर्थिक स्थिति के अत्यन्त दयनीय होने के कारण इनके लिए अछूत शब्द के स्थान पर दलित वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया। आर्य समाज की मान्यता थी कि ये वर्ग अछूत न होकर दलित हैं क्योंकि इन्हें समाज ने दबा कर और सब अधिकारों से वंचित रखा है। इनकी निम्न दशा के लिए ये स्वयं उत्तरदायी न होकर समाज उत्तरदायी है। सन् 1931 की जनगणना के पूर्व तक इनके लिए दलित शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। इस जनगणना के समय जनगणना अधीक्षक ने 'दलित' शब्द के स्थान पर बाहरी जातियाँ (Exterior Castes) शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द के प्रयोग का कारण यह था कि इन जातियों का भारतीय सामाजिक संरचना में कोई स्थान नहीं था। डा० अम्बेडकर ने इंगलैण्ड में 'गोलमेज कान्फ्रेंस' में सुझाव रखा कि हिन्दू समाज से पृथक होने के

कारण इन बाहरी जातियों अर्थात् अछूतों को पृथक रूप से मतदान का अधिकार मिलना चाहिए। महात्मा गाँधी ने इसका विरोध किया और कहा कि दलित वर्ग हिन्दू समाज का अभिन्न अंग है। यदि इस वर्ग को पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया गया तो हिन्दू समाज विघटित हो जायेगा। सन् 1931 की गोलमेज कॉन्फ्रेंस के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अस्पृश्य जातियों को हिन्दुओं से अलग घोषित कर दिया और उन्हें पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया। महात्मा गाँधी ने इसके विरोध में आमरण अनशन किया। परिणामस्वरूप दलित वर्ग के लिए पूना पैक्ट नामक समझौता हुआ। इसके अनुसार उन्हें कुछ अधिकार दिये गये तथा इन्हें हिन्दुओं का ही एक अंग मान लिया गया। महात्मा गाँधी ने इनके लिए हरिजन शब्द का प्रयोग किया और इनकी स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। सन् 1935 के विधान में इन लोगों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान करने की दृष्टि से एक अनुसूची तैयार की गई जिसमें विभिन्न अस्पृश्य जातियों को सम्मिलित किया गया। इस अनुसूची के आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इन जातियों के लिए 'अनुसूचित जाति' (Schedule Caste) शब्द को काम में लिया गया। वर्तमान में सभी सरकारी प्रयोग में इनके लिए 'अनुसूचित जाति' शब्द को ही काम में लिया जाता है। इनके लिए तैयार की गई सूची में जिन अस्पृश्य जातियों को रखा गया उन्हें अनुसूचित कहा गया।

स्वतन्त्र भारत के संविधान की धारा 341 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों के राज्यपालों की परामर्श से राज्य की अनुसूचित जातियों की घोषणा करे। सन् 1925 में कानून के आधार पर अस्पृश्यता को समाप्त किया जा चुका है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कानून बनाने मात्र से इस समस्या से छुटकारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अस्पृश्यता के संक्षिप्त इतिहास से परिचित होने के पश्चात् यह आवश्यक है कि अस्पृश्यता के अर्थ को ठीक प्रकार से समझ लिया जाय।

अस्पृश्यता का अर्थ (Meaning of Untouchability)

साधारणतः उन जातियों को अस्पर्श जातियाँ माना जाता है जो घृणित पेशों के द्वारा अपनी जीविका अर्जित करती हैं। परन्तु अस्पृश्यता के निर्धारण का यह सर्वमान्य आधार नहीं है। इसका कारण यह है कि अनेक ऐसी जातियाँ भी हैं जो घृणित व्यवसायों को नहीं करतीं परन्तु फिर भी उन्हें परम्परागत रूप से अस्पृश्य माना जाता है। अस्पृश्यता का सम्बन्ध प्रमुखतः पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा से है। हिन्दू समाज में कुछ व्यवसायों या कार्यों को पवित्र एवं कुछ को अपवित्र समझा जाता रहा है। यहाँ मनुष्य या पशु-पक्षी के शरीर से निकले हुए पदार्थों को अपवित्र माना गया है। ऐसी दशा में इन पदार्थों से सम्बन्धित व्यवसाय में लगी जातियों को अपवित्र समझा गया और उन्हें अस्पृश्य कहा गया। अस्पृश्यता समाज

की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों के व्यक्ति सवर्ण हिन्दुओं का स्पर्श नहीं कर सकते।

अस्पृश्यता का तात्पर्य है 'जो छूने योग्य नहीं है'। अस्पृश्यता एक ऐसी धारणा है जिसके अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को छूने, देखने और छाया पड़ने मात्र से अपवित्र हो जाता है। सवर्ण हिन्दुओं को अपवित्र होने से बचाने के लिए अस्पृश्य लोगों के रहने के लिए अलग से व्यवस्था की गई, उन पर अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गयीं और उनके सम्पर्क से बचने के कई उपाय किये गये। अस्पृश्यों के अन्तर्गत वे जातीय समूह आते हैं जिनके छूने से अन्य व्यक्ति अपवित्र हो जायें और जिन्हें पुनः पवित्र होने के लिए कुछ विशेष संस्कार करने पड़ें। इस सम्बन्ध में डा० के० एन० शर्मा ने लिखा है, "अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाय और उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करने पड़ें।"[1] आर० एन० सक्सेना ने इस बारे में लिखा है कि यदि ऐसे लोगों को अस्पृश्य माना जाय जिनके छूने से हिन्दुओं को शुद्धि करनी पड़े तो ऐसी स्थिति में हट्टन के एक उदाहरण के अनुसार ब्राह्मण को भी अस्पृश्य मानना पड़ेगा क्योंकि दक्षिण भारत में होलिया जाति के लोग ब्राह्मण को अपने गाँव के बीच से नहीं जाने देते हैं और यदि वह चला जाता है तो वे लोग गाँव की शुद्धि करते हैं।[2] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता के निर्धारण में छूने मात्र से अपवित्र होने की बात पर्याप्त नहीं है।

हट्टन ने उपर्युक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए कुछ ऐसी निर्योग्यताओं का उल्लेख किया है जिनके आधार पर अस्पृश्य जातियों के निर्धारण का प्रयत्न किया गया है। आपने उन लोगों को अस्पृश्य माना है जो (अ) उच्च स्थिति के ब्राह्मणों की सेवा प्राप्त करने के अयोग्य हों, (ब) सवर्ण हिन्दुओं की सेवा करने वाले नाइयों, कहारों तथा दर्जियों की सेवा पाने के अयोग्य हों, (स) हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हों, (द) सार्वजनिक सुविधाओं (पाठशाला, सड़क तथा कुआ) को उपयोग में लाने के अयोग्य हों, और (य) घृणित पेशे से पृथक होने के अयोग्य हों।[3] सारे देश में अस्पृश्यों के प्रति एकसा व्यवहार नहीं पाया जाता और न ही देश के विभिन्न भागों में अस्पृश्यों के सामाजिक स्तर में समानता पायी जाती है। अतः हट्टन द्वारा दिये गये उपर्युक्त आधार भी अन्तिम नहीं हैं। डा० डी० एन० मजूमदार के अनुसार, "अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, जिनमें से बहुत-सी निर्योग्यताएँ उच्च जातियों द्वारा परम्परागत रूप

---

1 डा० के० एन० शर्मा, भारतीय समाज और संस्कृति, पृ० 262.
2 डा० आर० एन० सक्सेना, भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृ० 99.
3 J. H. Hutton. *Caste in India*, p 195.

से निर्धारित और सामाजिक रूप से लागू की गयी हैं।"[1] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता से सम्बन्धित कई निर्योग्यताएँ हैं जिनका आगे उल्लेख किया गया है।

अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कारक (Factors Responsible for the Origin of Untouchability)

अस्पृश्यता की समस्या पर विचार करने वाले विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति के कारकों का पता लगाया है। इस सम्बन्ध में हट्टन ने लिखा है, "बाह्य अथवा बहिष्कृत जातियों के स्तर की उत्पत्ति अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक और अंशतः सामाजिक प्रथा का परिणाम है।"[2] हट्टन के इस कथन से स्पष्ट है कि अस्पृश्यता के लिए कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं है। प्रजातीय तथा सांस्कृतिक असमानताओं, धर्म सम्बन्धी पवित्रता की धारणा एवं अनेक सामाजिक निषेधों के कारण अस्पृश्यता की उत्पत्ति हुई है। हट्टन ने निम्नलिखित कारकों को अस्पृश्यता की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना है :

(1) प्रजातीय कारक,

(2) धार्मिक कारक, और

(3) सामाजिक कारक।

(1) प्रजातीय कारक (Racial Factor)—रिजले, घुरिये तथा मजुमदार नामक विद्वानों ने प्रजातीय विभिन्नता को अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक मूल कारण माना है। प्रत्येक प्रजाति साधारणतः अपने आपको अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। जब एक प्रजाति किसी अन्य प्रजाति पर विजय प्राप्त कर लेती है तब वह विशेषतः अपने को उच्च तथा अन्य प्रजाति को निम्न समझने लगती है। इण्डो-आर्यन लोग भारत में विजेता के रूप में आये और यहाँ के विजित मूल निवासियों को अपने से हीन समझा तथा उन्हें दास या दस्यु कहा। ऐसे लोगों को अपने सम्पर्क और धार्मिक पूजा-सत्कार आदि से इण्डो-आर्यन लोगों ने पृथक रखा और उन्हें निम्न जाति के रूप में सामाजिक स्थिति प्रदान की। डॉ० मजुमदार के अनुसार, "तथाकथित 'दलित' जातियों की निर्योग्यताएँ संस्कार सम्बन्धी नहीं हैं बल्कि इसका आधार सम्भवतः प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं।"[3] इन भिन्नताओं के कारण पृथकता की धारणा धीरे-धीरे इतनी बलवती होती गयी है कि इण्डो आर्यन लोगों ने यहाँ के मूल-निवासियों

---

1 "The untouchable castes are those who suffer from various social and political disabilities, many of which are traditionally prescribed and socially enforced by higher castes."
—D N Majumdar, *Races and Cultures of India*, p 336.

2 "The origin of the position of the exterior castes is partly racial, partly religious and partly a matter of social custom."
—J H Hutton, *op cit*, p 206.

3 "The disabilities of the so-called 'depressed' castes are not ceremonial but probably founded on racial and cultural differences."
—D. N. Majumdar, *op. cit.*, p. 427.

को छूना तक भी उचित नहीं समझा। परिणाम यह हुआ कि इन लोगों को अछूत और इनके पेशों को घृणित समझा जाने लगा। इन लोगों को उच्च समझे जाने वाले पेशों को अपनाने की आज्ञा नहीं दी गयी। हट्टन ने नागा जनजाति की एक शाखा 'आओ' (Ao) लोगों का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि इनके प्रजातीय दृष्टि से अन्य नागा लोगों से भिन्न होने के कारण विजेता नागाओं ने इन्हें अपने से निम्न समझा और अपने समान आभूषण पहनने की आज्ञा नहीं दी। स्पष्ट है कि प्रजातीय भिन्नता अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारक है।

(2) धार्मिक कारक (Religious Factor)—धर्म में निषेध (taboo) का विशेष महत्व पाया जाता है। धर्म व्यक्तियों को कुछ कार्यों को करने की आज्ञा देता है और कुछ को करने पर निषेध लगाता है। जिन कार्यों या पेशों को घृणित समझा गया, उनको करने वाले लोगों को अस्पृश्य या अछूत माना जाने लगा। बर्मा में कब्र खोदने का कार्य करने वाली जाति से लोग घृणा करते और उसके सम्पर्क से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। कब्र में मृत व्यक्तियों को गाड़ा जाता है और इसीलिए कब्र खोदने वाले व्यक्तियों को मृत्यु से सम्बन्धित मानकर अन्य जातियों ने उनके सम्पर्क से दूर रहने का प्रयत्न किया। इन कब्र खोदने वालों को अस्पृश्य माना जाने लगा। हट्टन के अनुसार 'निषेध' अस्पृश्यता की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण है। आपने लिखा है, "इसमें बहुत कम सन्देह है कि अस्पृश्यता के विचार की उत्पत्ति निषेध से हुई है।"[1] धर्म में पवित्रता और शुद्धि का भी विशेष महत्व पाया जाता है। करीब-करीब सभी समाजों में ऐसा माना जाता है कि धर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का पवित्र होना पूजा, अनुष्ठान या यज्ञ की सफलता के लिए आवश्यक है। यही कारण है कि पूजा की सामग्री को अपवित्र वस्तुओं के सम्पर्क से दूर रखा जाता है। शुद्धता की इसी धारणा के कारण घृणित पेशों को करने वाले लोगों के सम्पर्क से बचा गया और उन्हें अस्पृश्य समझा गया। भारतीय समाज में मलमूत्र उठाने वाले लोगों को इसी कारण अछूत या अस्पृश्य माना गया।

हिन्दू समाज में व्यक्ति के परिष्कृत एवं शुद्ध होने के लिए अनेक संस्कारों का विधान किया गया है। ऐसे लोगों को जिनके लिए संस्कारों का विधान नहीं किया गया, अस्पृश्य कहा गया। इन लोगों को वेदाध्ययन, पूजा-पाठ एवं यज्ञ करने की आज्ञा नहीं दी गयी। इस सम्बन्ध में डॉ० घुरिये ने लिखा है, "पवित्रता के विचार चाहे वे व्यवसाय सम्बन्धी हों अथवा संस्कार सम्बन्धी जो जाति की उत्पत्ति में एक कारक माने गये हैं, अस्पृश्यता के विचार और व्यवहार की आत्मा है।"[2] उपर्युक्त

1 "There can be little doubt that the idea of untouchability originated in taboo" —*Census of India*, Vol I, p 486.

2 "Ideas of purity, whether occupational or ceremonial, which are found to have been a factor in the genesis of caste are the very soul of the idea and practice of untouchability." —D. N. Majumdar, *op cit.*, p. 311.

विवरण से स्पष्ट है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति में धार्मिक कारकों का काफी योग रहा है।

(3) सामाजिक कारक (Social Factor)—समाज में प्रथाओं, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों तथा संस्थाओं का सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में काफी महत्व पाया जाता है। व्यक्ति के व्यवहार पर उसकी प्रथाओं एवं रूढ़ियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। जब व्यवहार का कोई प्रकार सामाजिक रूढ़ि के रूप में प्रचलित हो जाता है तो वह काफी समय तक चलता ही रहता है। यही बात अस्पृश्यता के सम्बन्ध में सही है। समाज में कुछ पशों को अपवित्र एवं घृणित माना जाने लगा और धीरे-धीरे अस्पृश्यता की प्रथा सामाजिक रूढ़ि बन गयी। परिणाम यह हुआ कि उच्च जातियों के लोग अस्पृश्यों के सम्पर्क से बचने का प्रयत्न करने लगे। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि स्वयं अस्पृश्य माने जाने वाले लोग भी उनके सम्पर्क में आने तथा उन्हें छूने तक से घबराने लगे। धीरे-धीरे अस्पृश्यता समाज में इतनी बद्धमूल होती गयी कि अस्पृश्यों को देखने या उनकी छाया पड़ने मात्र से उच्च जातियों के अपवित्र होने की बात कही गयी।

नेसफील्ड ने उच्च अथवा निम्न व्यवसाय को अस्पृश्यता के लिए उत्तरदायी माना है। निम्न कोटि के कार्यों में लगे हुए लोगों को अछूत या अस्पृश्य समझा गया। स्टेनले राइस (Stanley Rice) की मान्यता है कि अस्पृश्य लोग विजितों के वंशज हैं। इन्हें द्रविड़, मूल निवासी, दास, दस्यु अथवा अनार्य कहा गया। प्रजातीय संघर्ष में हार जाने के कारण इन्हें हीन मान लिया गया, इन्हें दास या दस्यु कहकर पुकारा गया और आगे चलकर इन्हें अस्पृश्यों की निम्न श्रेणी में रखा गया। स्पष्ट है कि अनेक कारकों ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति में योग दिया है।

अस्पृश्य जातियों की निर्योग्यताएँ (Disabilities of Untouchable Castes)

निर्योग्यताओं का तात्पर्य है—किसी वर्ग अथवा समूह को कुछ अधिकारों या सुविधाओं को प्राप्त करने के अयोग्य मान लेना। भारत में अस्पृश्य जातियों की कई निर्योग्यताएँ रही हैं। इन निर्योग्यताओं के कारण इन्हें जीवन में आगे बढ़ने और अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं दिया गया। यहाँ यह कहा जा सकता है कि इन्हें दासों के समान जीवन बिताने के लिए मजबूर किया गया और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से वंचित रखा गया। अस्पृश्यों की ये निर्योग्यताएँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही मौजूद रही हैं, बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही सुधार आन्दोलनों तथा बाद में स्वतन्त्र भारत में सरकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इनमें काफी कमी आयी है। स्मृतियों, पुराणों तथा धर्म-ग्रन्थों में अस्पृश्यों की निम्नलिखित निर्योग्यताओं का उल्लेख किया गया है :

(1) धार्मिक निर्योग्यताएँ (Religious Disabilities)—अस्पृश्यों को अपवित्र माना गया और उन पर अनेक निर्योग्यताएँ लाद दी गयीं। इन लोगों को मन्दिर

प्रवेश, पवित्र नदी-घाटों के उपयोग, पवित्र स्थानों पर जाने तथा अपने ही घरों पर देवी देवताओं की पूजा करने का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें वेदों अथवा अन्य धर्म ग्रन्थों के अध्ययन एवं श्रवण की आज्ञा नहीं दी गयी। इन्हें अपने सम्बन्धियों के शव सार्वजनिक श्मशान घाट पर जलाने की भी स्वीकृति नहीं दी गयी। सवर्ण हिन्दुओं को आदेश दिये गये कि वे अपने धार्मिक जीवन से अस्पृश्यों को पृथक रखें। मनुस्मृति में बतलाया गया है कि शूद्र को किसी प्रकार की कोई राय न दी जाय, न ही उसे भोजन का शेष भाग ही दिया जाये, न ही उसे देवभोग का प्रसाद ही मिले, न उसके समक्ष पवित्र विधान की व्याख्या ही की जाय, न उस पर तपस्या या प्रायश्चित का ही भार डाला जाये""" वह, जो किसी (शूद्र के लिए) पवित्र विधान की व्याख्या करता है अथवा उसे तपस्या या प्रायश्चित करने को बाध्य करता है, उस (शूद्र) के साथ स्वयं भी असवृत्त नामक नरक में डूब जायेगा।[1] अस्पृश्य लोगों को पूजा, आराधना, भागवत भजन, कीर्तन आदि का कोई अधिकार नहीं दिया है। ब्राह्मणों को इनके यहाँ पूजा, श्राद्ध तथा यज्ञ आदि कराने की आज्ञा नहीं दी गयी है।

अस्पृश्यों को जन्म से ही अपवित्र माना गया है और इसी कारण इनके शुद्धिकरण के लिए संस्कारों की व्यवस्था नहीं की गयी है। हिन्दुओं के शुद्धिकरण हेतु धर्म-ग्रन्थों में सोलह प्रमुख संस्कारों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अधिकांश को पूरा करने का अधिकार अस्पृश्यों को नहीं दिया गया है। इन्हें विद्यारम्भ, उपनयन और चूड़ाकर्म जैसे प्रमुख संस्कारों की आज्ञा नहीं दी गयी है।

(2) सामाजिक निर्योग्यताएँ (Social Disabilities)—अस्पृश्यों की अनेक सामाजिक निर्योग्यताएँ रही हैं। उन्हें सवर्ण हिन्दुओं के साथ सामाजिक सम्पर्क रखने और उनके सम्मेलनों, गोष्ठियों, पंचायतों, उत्सवों एवं समारोहों में भाग लेने की आज्ञा नहीं दी गयी। उन्हें उच्च जाति के हिन्दुओं के साथ खान-पान का सम्बन्ध रखने से वंचित रखा गया है। अस्पृश्यों की छाया तक को अपवित्र माना गया और उन्हें सार्वजनिक स्थानों के उपयोग की आज्ञा नहीं दी गयी। उनके दर्शनमात्र से सवर्ण हिन्दुओं के अपवित्र हो जाने की आशंका से अस्पृश्यों को अपने सब कार्य रात्रि में ही करने पड़ते। दक्षिण भारत में कई स्थानों पर तो इन्हें सड़कों पर चलने तक का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें अन्य हिन्दुओं के द्वारा काम में लिए जाने वाले कुओं से पानी नहीं भरने दिया जाता, स्कूलों में पढ़ने एवं छात्रावासों में रहने नहीं दिया जाता था। इन लोगों को उच्च जातियों द्वारा काम में ली जाने वाली वस्तुओं का प्रयोग नहीं करने दिया जाता था। ये पीतल तथा काँसे के बर्तनों का प्रयोग नहीं कर सकते थे, अच्छे वस्त्र एवं सोने के आभूषण नहीं पहन सकते थे। दुकानदार इन्हें खाना नहीं देते, धोबी इनके कपड़े नहीं धोते, नाई बाल नहीं बनाते और कहार पानी नहीं भरते। इन्हें अन्य सवर्ण हिन्दुओं की बस्ती या मोहल्ले में रहने की आज्ञा नहीं थी।

1 नर्मदेश्वर प्रसाद, जाति-व्यवस्था, पृष्ठ 22 पर उद्धृत।

धर्म-ग्रन्थों में बतलाया गया है कि चाण्डालों एवं श्वपाकों का निवास-स्थान गाँव के बाहर होगा, वे अपपात्र होंगे तथा कुत्ते एवं खच्चर ही उनका धन होंगे।[1]

न केवल अस्पृश्यों को बल्कि शूद्रों तक को शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा नहीं दी गयी। इन्हें चौपालों, मेलों तथा हाटों में शामिल होकर अपना मनोरंजन करने का अधिकार नहीं दिया गया। परिणाम यह हुआ कि समाज का एक बड़ा वर्ग निरक्षर रह गया। एक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि स्वयं अस्पृश्यों में भी स्तरण की प्रणाली अर्थात् ऊँच-नीच का भेदभाव पाया जाता है। ये लोग तीन सौ से अधिक उच्च एवं निम्न जातीय समूहों में बँटे हुए हैं जिनमें से प्रत्येक समूह की स्थिति एक-दूसरे से ऊँची अथवा नीची है। इस सम्बन्ध में के० एम० पणिक्कर का कहना है कि 'विचित्र बात यह है कि स्वयं अछूतों के भीतर एक पृथक जाति के समान संगठन था।......सवर्ण हिन्दुओं के समान उनमें भी बहुत उच्च और निम्न स्थिति वाली उपजातियों का स्तरण था, जो एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करती थी।'[2] एक पृथक समाज के रूप में अस्पृश्यों को अनेक सामाजिक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है। इस बारे में डॉ० पाणिक्कर ने लिखा है, "जाति-व्यवस्था जब अपनी यौवना-वस्था में क्रियाशील थी,—उस समय इन अस्पृश्यों (पंचम वर्ण) की स्थिति कई प्रकार से दासता से भी खराब थी। दास कम से कम एक स्वामी के ही अधीन होता था और इसलिए उसके अपने स्वामी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध होते थे। लेकिन अस्पृश्यों के परिवार पर तो गाँव भर की दासता का भार होता था। व्यक्तियों के दास रखने की बजाय, प्रत्येक ग्राम के साथ कुछ अस्पृश्य परिवार एक किस्म की सामूहिक दासता के रूप में जुड़े हुए थे। 'उच्च' जातियों का कोई व्यक्ति किसी भी अस्पृश्य के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रख सकता था।"[3]

(3) आर्थिक निर्योग्यताएँ (Economic Disabilities)—अस्पृश्यों को वे सब कार्य सौंप गये जो सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा नहीं किये जाते थे। आर्थिक निर्योग्यताओं के कारण अस्पृश्यों की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो गयी कि इन्हें विवश होकर सवर्णों के जूठे भोजन, फटे-पुराने वस्त्रों एवं त्याज्य वस्तुओं से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ी। अस्पृश्यों को मल-मूत्र उठाने, सफाई करने, मरे हुए पशुओं को उठाने और उनके चमड़े से वस्तुएँ बनाने का कार्य ही सौंपा गया। इन्हें खेती करने, व्यापार चलाने या शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करने का अधिकार नहीं दिया गया। ये लोग ग्रामों में अधिकतर भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कार्य करते हैं। इन लोगों पर

1 Jones W (ed.), 'Sacred Books of the East', 51 X, Quoted by by N. Prasad, *The Myth of the Cast System*, p 22.

2 के० एम० पाणिक्कर, हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर, पृ० 269-280.

3 पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 27.

यह निर्योग्यता लाद दी गयी कि वे अपने परम्परागत पेशे को छोडकर किसी अन्य पेशे को नहीं अपना सकते हैं।

व्यावसायिक निर्योग्यता के अलावा इन्हें सम्पत्ति सम्बन्धी निर्योग्यता से भी पीड़ित रहना पड़ा। इन्हें भूमि-अधिकार तथा धन-संग्रह की आज्ञा नहीं दी गयी। मनुस्मृति में बतलाया गया है, "अस्पृश्य व्यक्ति को धन-संचय कदापि नहीं करना चाहिए, चाहे वह ऐसा करने में समर्थ ही क्यों न हो, क्योंकि धन संचित करके रखने वाला शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ा पहुँचाता है।"[1] अन्यत्र यह भी बतलाया गया है कि ब्राह्मण अपनी इच्छा से अपने शूद्र सेवक की सम्पत्ति जब्त कर सकता है क्योंकि उसे सम्पत्ति रखने का अधिकार ही नहीं है।[2] अस्पृश्यों को दासों के रूप में अपने स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी, चाहे प्रतिफल के रूप में उन्हें कितना ही कम क्यों न दिया जाय।

अस्पृश्यों का आर्थिक दृष्टि से शोषण हुआ है। उन्हें घृणित से घृणित पेशों को अपनाने के लिए बाध्य किया गया और बदले में इतना भी नहीं दिया गया कि वे भरपेट भोजन भी कर सकें। उनकी *महत्वपूर्ण सेवाओं के बदले में समाज ने उन्हें* शेष झूठा भोजन, त्याज्य वस्तुएँ और फटे-पुराने वस्त्र दिये। हिन्दुओं ने धर्म के नाम पर अपने इस सारे व्यवहार को उचित माना और अस्पृश्यों को इस व्यवस्था से सन्तुष्ट रहने के लिए बाध्य किया। उन्हें कहा गया कि इस जन्म में अपने दायित्वों का ठीक प्रकार से पालन नहीं करने पर अगला जीवन और भी निम्न कोटि का होगा। इस प्रकार अस्पृश्यों को आर्थिक शोषण का शिकार होना पड़ा।

(4) राजनैतिक निर्योग्यताएँ (Political Disabilities)—अस्पृश्यों को राजनीति के क्षेत्र में सब प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा गया है। उन्हें शासन के कार्य में किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करने, कोई सुझाव देने, सार्वजनिक सेवाओं के लिए नौकरी प्राप्त करने या राजनैतिक सुरक्षा प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। अस्पृश्यों को कोई भी अपमानित कर सकता और यहाँ तक कि पीट भी सकता था। ऐसे व्यवहारों के विरुद्ध उन्हें सुरक्षा प्राप्त नहीं थी। उनके लिए सामान्य अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।

मनु ने बतलाया है कि निम्न वर्ण का मनुष्य (शूद्र अथवा अस्पृश्य) अपने जिस अंग से उच्च वर्ण के व्यक्तियों को चोट पहुँचाए, उसका वह अंग ही काट डाला जायेगा।........वह, जो हाथ या डंडा उठायेगा, उसका हाथ काट लिया जायेगा।[3] स्पष्ट है कि अस्पृश्यों की अनेक राजनैतिक निर्योग्यताएँ रही हैं।

---

1 Jones. W. (Ed.) *op. cit.*, 414. VIII.
2 *Ibid.*, 417. VIII.
3 *Ibid.*, 280. VIII.

अस्पृश्यों की उपर्युक्त निर्योग्यताएँ मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं। वर्तमान में अस्पृश्यों की समस्या प्रमुखतः सामाजिक और आर्थिक है न कि धार्मिक और राजनैतिक। इतने लम्बे समय से सब प्रकार के अधिकारों से वंचित, निरक्षर तथा चेतना शून्य होने के कारण इनकी स्थिति में सुधार होने में कुछ समय लगेगा। इनके प्रति लोगों की मनोवृत्ति धीरे-धीरे बदलेगी और कालान्तर में ये सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में प्रवाहित हो सकेंगे। अस्पृश्यों की निर्योग्यताएँ नगरों में समाप्त-सी होती जा रही हैं, परन्तु ग्रामों में आज भी दिखलायी पड़ती हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि ग्रामों में सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी है, रूढ़िवादिता का अभी भी वहाँ बोलबाला है।

अस्पृश्यता के दुष्परिणाम (Evil Effects of Untouchability)

अस्पृश्यों पर लगाये गये प्रतिबन्धों अथवा उन पर लादी गई निर्योग्यताओं के दुष्परिणाम न केवल अस्पृश्यों को बल्कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज को भुगतने पड़े हैं। इन पर थोपी गई निर्योग्यताओं से समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग निरक्षर, विवेकहीन एवं चेतनाशून्य हो गया जो समाज और राष्ट्र की प्रगति में सक्रिय योग नहीं दे सका। लाखों-करोड़ों अस्पृश्य लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर नहीं मिला और अभावमय तथा तिरस्कृत जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अपने ऐसे जीवन से दुखी हो लाखों अछूत लोगों ने इस्लाम और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

अस्पृश्यों की निर्योग्यताओं का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि इन्होंने अपने को हिन्दू समाज से पृथक समझ लिया और इनके लिए डा० अम्बेडकर ने पृथक मताधिकार की माँग की। यदि महात्मा गांधी के द्वारा इसका विरोध नहीं किया जाता तो अस्पृश्य जातियाँ सदैव के लिए हिन्दू समाज से अलग हो जातीं। महात्मा गांधी ने बतलाया कि जो लोग अछूतों के राजनैतिक अधिकार की बात करते हैं, वे भारत को नहीं पहचानते और हिन्दू समाज आज किस प्रकार का बना हुआ है, इसे नहीं जानते। इसलिए मैं पूरी शक्ति से यह कहूँगा कि इस बात का विरोध करने वाला यदि मैं अकेला भी रहूँ तो भी मैं अपने प्राणों की बाजी लगाकर इसका विरोध करूँगा।[1]

अस्पृश्यता ने हिन्दू समाज को सैकड़ों उच्च एवं निम्न स्थिति वाले समूहों में बाँटने में विशेष योग दिया है और देश की एकता में बाधा पहुँचायी है। समाज के इतने बड़े वर्ग के अज्ञानता और अन्धकार के गर्त में सैकड़ों वर्षों तक डूबे रहने के कारण कितनी अधिक राष्ट्रीय हानि हुई है, देश की प्रगति में कितनी बाधा पहुँची है, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। यहाँ अस्पृश्यता के परिणामस्वरूप

1 Mahatma Gandhi, *Harijanothan*, by Devi Dayal Chaturvedi, Indian Press Ltd., Prayag, 1951

आर्थिक असमानताओं का एक नग्न दृश्य देखने को मिला है। यहाँ धर्म के नाम पर लाखो, करोड़ो लोगों का आर्थिक शोषण हुआ है, सब प्रकार की सुविधाओं से इन्हें वंचित रखा गया है और पशुतुल्य जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया है। समय समय पर इन लोगो की स्थिति मे सुधार लाने के लिए आन्दोलन भी हुए परन्तु धर्म के नाम पर इन्हें दबाने की कोशिश की गई। पिछले कुछ वर्षों से अस्पृश्यो की स्थिति को सुधारने और उनके कल्याण के लिए अनेक प्रयास चल रहे हैं। यहाँ हम उन्ही का उल्लेख करेंगे।

अस्पृश्यता निवारण (Eradication of Untouchability)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अस्पृश्यता भारतीय समाज के सम्मुख एक गम्भीर समस्या के रूप मे है। आज बहुत से लोग अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का सबसे बड़ा कलंक मानते हैं। वर्तमान मे ऐसे लोगो की सख्या भी बढ़ती जा रही है जो अस्पृश्यता मे विश्वास नही करते हैं। अस्पृश्यो के प्रति कुछ लोगो की मनोवृत्तियों मे परिवर्तन आया है तो कुछ के व्यवहारो मे। परिवर्तन अनेक कारकों जैसे नगरीकरण, विभिन्न जातियो के व्यक्तियों के एक दूसरे के सम्पर्क मे आने के अवसरो के बढ़ने, सुधार आन्दोलनो तथा सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्नो के सयुक्त प्रभाव के परिणामस्वरूप सम्भव हो सके हैं। स्वय अस्पृश्यों मे अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आयी है और अपनी स्थिति मे सुधार लाने के लिए उन्होंने अपने सगठन बनाये हैं। वर्तमान समय में अस्पृश्यों तथा सवर्ण हिन्दुओं के बीच सामाजिक दूरी कम होती जा रही है। वयस्क मताधिकार ने अस्पृश्यों या पिछड़े वर्गों को अपनी शक्ति को पहचानने का अवसर दिया है। वे चुनाव मे वोट के महत्व को समझने लगे हैं और राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

इस बीसवीं शताब्दी मे अस्पृश्यता को दूर करने की दृष्टि से अनेक ऐच्छिक सगठन कार्य कर रहे हैं जिनमे प्रमुख ये हैं : (1) अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ, देहली, (2) भारतीय दलित वर्ग लीग, देहली; (3) ईश्वर-सरन आश्रम, इलाहाबाद; (4) भारतीय रेड क्रास सोसाइटी, देहली; (5) हिन्द मेहतर सेवक संघ, देहली, और (6) रामकृष्ण मिशन। इन सगठनों के अतिरिक्त सरकार ने कानूनी और सामाजिक तौर से अस्पृश्यों की स्थिति मे सुधार लाने के काफी प्रयत्न किये हैं। अस्पृश्यता-निवारण के लिए इस देश मे जो प्रयत्न हुए उन्हें मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम, सुधार आन्दोलन या गैर सरकारी प्रयत्न तथा द्वितीय सरकारी प्रयत्न।

I. सुधार आन्दोलन या गैर-सरकारी प्रयत्न (Reform Movement or Non Governmental Efforts)—अस्पृश्यता की समस्या के निवारण के लिए समय-समय पर अनेक सतो तथा समाज-सुधारको के द्वारा प्रयत्न किये गये। इस दिशा में चैतन्य, कबीर, नानक, नामदेव, तुकाराम आदि के प्रयत्न विशेष रूप से

उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द एवं दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनी बीसेण्ट, डा० अम्बेडकर तथा महात्मा गाँधी आदि ने अस्पृश्यता की समस्या को हल करने का भरसक प्रयास किया।

अस्पृश्यता निवारण के लिए स्वयं अस्पृश्य जातियों के द्वारा भी आन्दोलन किये गये। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सर्वप्रथम ज्योति राव फूले के द्वारा संगठित प्रयत्न किया गया। आपके प्रयत्नों से पूना में स्थापित 'सत्य-शोधक समाज' के द्वारा अस्पृश्यों को अनेक अधिकार दिलाने की माँग की गई। परन्तु यह आन्दोलन धर्म के नाम पर दबा दिया गया। बाद में इस आन्दोलन को डा० अम्बेडकर ने आगे बढ़ाया। आपके नेतृत्व में सन् 1920 में 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' एवं 'अखिल भारतीय दलित वर्ग फैडरेशन' स्थापित किये गये। इन संगठनों के द्वारा अस्पृश्यों ने अपने धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों की माँग रखी। महात्मा गाँधी के सहयोग से सन् 1932 में 'हरिजन-सेवक संघ' की स्थापना की गयी। इस संघ ने अस्पृश्यता निवारण, पिछड़े वर्गों को उन्नति के अवसर दिलाने, श्रम के महत्त्व को स्थापित करने तथा मानव मानव के बीच समानता और बन्धुत्व की भावना का प्रचार करने के लिए विशेष प्रयत्न किये। इस संघ के द्वारा अस्पृश्यों को सार्वजनिक स्थानों का उपयोग तथा मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिलाने हेतु भी समय-समय पर आन्दोलन किये गये। संघ के प्रयत्नों से दक्षिण भारत के अनेक मन्दिरों में हरिजनों को प्रवेश की आज्ञा प्रदान की गई। अस्पृश्यों में शिक्षा के प्रसार तथा उन्हें व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए भी हरिजन सेवक संघ ने प्रयास किया। इस संघ की सैकड़ों शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में फैली हुई हैं। इस संघ ने हरिजनों के लिए 1,130 शिशु मन्दिर और 1,018 छात्रावास खोल रखे हैं तथा 67 धर्मशालाओं एवं 1,995 कुओं की व्यवस्था भी की है। यह संघ पोस्टरों तथा छोटी-छोटी पुस्तकों के वितरण द्वारा अस्पृश्यता-विरोधी प्रचार भी करता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् 'हरिजन सेवक संघ' को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता भी प्राप्त होने लगी। अब तो यह संघ उन उच्च जातियों के विद्यार्थियों को भी छात्रवृत्तियाँ देता है जो हरिजन छात्रों के साथ उनके छात्रावासों में रहते और उनके साथ ही भोजन करते हैं। यह संघ हरिजन बस्तियों को साफ रखने, बच्चों के लिए मुफ्त दवाओं का वितरण करने तथा विभिन्न व्यवसायों में हरिजनों को कार्य दिलाने का प्रयत्न भी करने लगा है। स्पष्ट है कि इस संघ ने अपने विविध कार्यक्रमों के माध्यम से अस्पृश्यता-निवारण एवं पिछड़े वर्गों के उत्थान की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन को चलाने में सवर्ण हिन्दुओं का भी सक्रिय योग रहा है। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने निम्न जातियों एवं हरिजनों की सामाजिक और आर्थिक निर्योग्यताओं को समाप्त करने के लिए काफी प्रयत्न किया है। महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार की दृष्टि से 'हरिजन' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन का कार्य किया। गांधीजी के नेतृत्व में अस्पृश्यता-निवारण के लिए कार्य करने हेतु अनेक सुधार समितियों का निर्माण किया गया। ईश्वर सरन आश्रम, इलाहाबाद ने अछूत बालकों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। यह आश्रम अस्पृश्यता विरोधी प्रचार के द्वारा स्वस्थ जनमत का निर्माण करने में काफी प्रयत्नशील रहा है। इस आश्रम के द्वारा इन्जीनियरिंग तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया है। अब इस आश्रम को सरकार के द्वारा आर्थिक सहायता भी प्राप्त हो रही है।

स्वतन्त्र भारत में अनेक संगठन अस्पृश्यता-निवारण और पिछड़े वर्गों के कल्याण-कार्यों में लगे हुए हैं। सरकार इन संगठनों के माध्यम से पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु काफी धन-राशि खर्च कर रही है। परन्तु इनमें से बहुत-से संगठन सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा चलाये जाते हैं। इन संगठनों के कई कार्यकर्ताओं की प्रेरणा का आधार वास्तव में अछूतोद्धार की भावना न होकर स्वयं की महत्त्वाकांक्षा है। ऐसे व्यक्तियों के लिए अछूतोद्धार अपने आप में लक्ष्य न होकर साधनमात्र है, अपने नेतृत्व को बढ़ावा देना अथवा अपने राजनैतिक लक्ष्यों की पूर्ति या किसी अन्य रूप में अपनी स्वार्थ पूर्ति करना है। अस्पृश्यता निवारण के प्रयत्न में लगे विविध गैर-सरकारी संगठनों के लक्ष्यों एवं कार्यक्रमों में समानता का अभाव पाया जाता है। इन कमियों को दूर करना प्रयत्न की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं अस्पृश्य जातियों के शिक्षित युवकों के आगे आने और हरिजनोद्धार के कार्य को अपने हाथ में लेने की आवश्यकता है। होता क्या है कि शिक्षा प्राप्त करने पश्चात् इन जातियों के युवक अच्छी नौकरियाँ प्राप्त कर लेते हैं और स्वयं अपने को अपनी जाति वाले लोगों से पृथक महसूस करने लगते हैं।

II. सरकारी प्रयत्न (Efforts by the Government)—वास्तविकता यह है कि सरकारी नीतियों एवं प्रयत्नों के फलस्वरूप ही अस्पृश्य जातियों की अनेक निर्योग्यताएँ एवं उनका पिछड़ापन दूर होते जा रहे हैं। महात्मा गांधी ने कहा था कि "मैं ऐसे भारत का निर्माण करना चाहता हूँ जिसमें गरीब भी यह समझें कि यह मेरा देश है और इसके बनाने में मेरी भी राय कम नहीं होगी, ऐसा भारत जिसमें सभी सम्प्रदाय पूरी तरह घुल मिलकर रहेंगे।" इस आदर्श को ध्यान में रखकर स्वतन्त्र भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए विशेष संरक्षण की व्यवस्था की गई। सरकार के द्वारा अस्पृश्यता की समस्या को हल करने की दृष्टि से किये गये प्रमुख प्रयत्न निम्नलिखित हैं :

(1) संवैधानिक प्रावधान—संविधान में अनेक ऐसे प्रावधान रखे गये हैं जिनके द्वारा अस्पृश्यता निवारण तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 15 (1) में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। दुकानों, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने और साधारण जनता के उपयोग के लिए बने कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों, सड़कों आदि के प्रयोग से कोई किसी को नहीं रोकेगा। अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर उसका किसी भी रूप में प्रचलन निषिद्ध कर दिया गया है। *अनुच्छेद 19 के आधार पर अस्पृश्यों की व्यावसायिक निर्योग्यता को समाप्त* किया जा चुका है और उन्हें किसी भी व्यवसाय के अपनाने की आज्ञा प्रदान की गई है। अनुच्छेद 25 में हिन्दुओं के सार्वजनिक धार्मिक स्थानों के द्वार सभी जातियों के लिए खोल देने की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 29 के अनुसार राज्य द्वारा पूर्ण अथवा आंशिक सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में किसी नागरिक को धर्म, जाति, वंश अथवा भाषा के आधार पर प्रवेश से नहीं रोका जा सकता। अनुच्छेद 46 में कहा गया है कि राज्य दुर्बलतर लोगों जिनमें अनुसूचित जातियाँ तथा आदिम जातियाँ आती हैं, की शिक्षा सम्बन्धी तथा आर्थिक हितों की रक्षा करेगा और सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय एवं शोषण से उनको बचायेगा। अनुच्छेद 330, 332 और 334 के अनुसार अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के लिए संविधान लागू होने के 20 वर्ष तक लोकसभा, विधान सभाओं, ग्राम पंचायतों और स्थानीय निकायों में स्थान सुरक्षित रहेंगे। बाद में लोकसभा के द्वारा यह अवधि दस वर्ष के लिए और बढ़ा दी गई। अनुच्छेद 335 में कहा गया है कि संघ या राज्य के कार्यों से सम्बन्धित सेवाओं एवं पदों के लिए नियुक्तियाँ करने में अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के हितों का ध्यान रखा जायगा। अनुच्छेद 338 के अनुसार राष्ट्रपति अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिए एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त करेगा। इन संवैधानिक व्यवस्थाओं के द्वारा अस्पृश्यता निवारण एवं पिछड़े वर्गों के उत्थान का सरकार के द्वारा विशेष प्रयत्न किया गया है।

(2) शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ—*अन्य लोगों* के समान स्तर पर लाने और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने में सहायता करने के उद्देश्य से पिछड़े वर्गों के लोगों के लिए शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई। देश की सभी सरकारी शिक्षण-संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं आदिम जातियों के विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई। सन् 1944-45 से अस्पृश्य जातियों के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देने की योजना प्रारम्भ की गई। इन जातियों के विद्यार्थियों में शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार करने हेतु न केवल उन्हें निःशुल्क शिक्षा की सुविधा और छात्रवृत्तियाँ ही दी गयीं बल्कि इनके लिए मुफ्त पुस्तकों एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध

भी किया गया। कई स्थानों पर तो इन्हें वस्त्र एवं भोजन भी स्कूल की ओर से ही दिया जाता है। अनेक राज्य सरकारों ने तो समाज-कल्याण विभागों के माध्यम से अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के विद्यार्थियों के लिए छात्रावास चला रखे हैं। इन जातियों के प्रतिभाशाली छात्रों को उच्च शिक्षा-प्राप्ति हेतु विदेशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की जाती हैं। छात्रावासों में अन्य जातियों के विद्यार्थियों के साथ मिलकर रहने को प्रोत्साहन करने के लिए इन जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। मेडिकल, इंजीनियरिंग तथा अन्य औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं में इनके प्रवेश हेतु विशेष व्यवस्था की गई है।

संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय एवं अन्य केन्द्रीय सेवाओं की परीक्षा के लिए तैयारी करने के उद्देश्य से अनुसूचित जातियों एवं आदिम जातियों के विद्यार्थियों के लिए केन्द्र चालू किये गये हैं। इन जातियों के छात्रों की शिक्षा पर सरकार शुरू से काफी धन-राशि खर्च कर रही है। सन् 1969 से 1973 तक अनुसूचित जातियों के बालकों को 6 लाख 62 हजार छात्रवृत्तियाँ देने के लिए सरकार ने उनकी शिक्षा पर 35.38 करोड़ रुपया खर्च किया।[1] चौथी पंचवर्षीय योजना में अनुसूचित जातियों के लिए शिक्षा के विकास पर 30 करोड़ रुपया खर्च करने का प्रावधान रखा गया।[2] इन सब सुविधाओं के उपलब्ध होने से अनुसूचित जातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों में शिक्षा का काफी प्रसार हुआ है।

(3) **विधान मण्डलों एवं पंचायतों में प्रतिनिधित्व**—संविधान में अनुसूचित जातियों के लिए उनकी संख्या के अनुपात में राज्यों की विधान सभाओं तथा पंचायतों में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। पहले ये स्थान संविधान के लागू होने के 20 वर्ष तक के लिए सुरक्षित रखे गये और अब यह अवधि 10 वर्ष अर्थात् 15 जनवरी, सन् 1980 तक के लिए बढ़ा दी गई है। इस समय लोकसभा के 519 स्थानों में से 77 और और राज्यों की विधान सभाओं के 3864 स्थानों में से 521 स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित रखे गये हैं।[3] पंचायती राज्य संस्थाओं में भी इनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। इन सब व्यवस्थाओं के फलस्वरूप अस्पृश्य जातियों में राजनैतिक चेतना निरन्तर बढ़ती जा रही है।

(4) **सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व**—अस्पृश्य जातियों के लोगों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने तथा उच्च जाति के लोगों के सम्पर्क में आने को प्रोत्साहित करने के लिए सरकारी नौकरियों में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। खुली प्रतियोगिता द्वारा अखिल भारतीय आधार पर की जाने वाली नियुक्तियों में 15 प्रतिशत तथा अन्य प्रकार से की जाने वाली नियुक्तियों में

1 *India*, 1975.
2 *India*, 1968, p. 124.
3 *India*, 1975, p. 99.

16⅔ प्रतिशत स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित होते हैं। तीसरी और चौथी श्रेणियों में सीधी नियुक्ति के लिए जिनमे सामान्य रूप से स्थानीय अथवा क्षेत्रीय उम्मीदवार आते हैं, राज्यों तथा केन्द्र शासित क्षेत्रों की अनुसूचित तथा आदिम जातियों की आजादी के अनुपात मे स्थान सुरक्षित किये जाते हैं। दूसरी, तीसरी तथा चौथी श्रेणियों में विभागीय परीक्षाओं के आधार पर तथा तीसरी एवं चौथी श्रेणी में चयन के आधार पर होने वाली पदोन्नति के सम्बन्ध मे भी अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियो के लोगों के लिए क्रमशः 15 तथा 7½ प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, बशर्ते इन श्रेणियों में सीधी भर्ती 50 प्रतिशत से अधिक न होती हो।[1] वरिष्ठता के आधार पर होने वाली पदोन्नतियों में भी 27 नवम्बर, 1972 से अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गई है।

सरकारी नौकरी प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से अनुसूचित जातियों के सदस्यों की आयु सीमा तथा योग्यता मानदण्ड मे भी विशेष छूट की व्यवस्था की गई है। राज्य सरकारों के द्वारा भी इन लोगों के लिए नौकरियों में स्थान सुरक्षित रखने हेतु समय समय पर अनेक नियम बनाये गये हैं।

(5) आर्थिक उन्नति हेतु प्रयास—अनुसूचित जातियों के व्यक्तियो को आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करने हेतु सरकार ने उन्हें विशेष सुविधा देने का प्रयास किया है। कृषि एवं उद्योगो के क्षेत्र में अस्पृश्यो को आगे बढ़ाने का मौका दिया गया है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार कृषि कार्यों मे लगे हुए 2·39 करोड़ अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों मे से 82 लाख व्यक्ति भूमिहीन मजदूर के रूप मे कार्य करते थे। चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इनमे से अधिकांश लोगों को भूमि बाँटी जा चुकी थी। इन लोगो को शोषण से बचाने के लिए इनके लिए सहकारी समितियों की व्यवस्था भी की गई। इन्हें कुटीर उद्योग धन्धो मे लगाने के लिए प्रशिक्षण, ऋण तथा अनुदान का प्रबन्ध भी किया गया। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के 20-सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत इन जातियों के ऋणग्रस्त व्यक्तियों को ऋण से मुक्त करने, भूमिहीनों मे भूमि का वितरण करने तथा बन्धक श्रमिक प्रथा को समाप्त करने हेतु प्रयास किये गये। जनवरी 1976 मे सरकार द्वारा पारित बन्धक श्रमिक उन्मूलन कानून का विशेष लाभ अनुसूचित जातियों के लोगों को ही मिला है।

(6) विविध सुविधाएँ—अस्पृश्य जातियों के लोगों के स्वास्थ्य-सुधार तथा आवास पर भी सरकार के द्वारा काफी धन-राशि खर्च की जाती है। इन लोगों को मकान बनाने के लिए मुफ्त या नाम-मात्र के मूल्य पर ऋण के रूप मे सहायता दी जाती है। इन लोगों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने और इनके स्वास्थ्य-सुधार हेतु अस्पतालों, पीने के स्वच्छ पानी, बच्चों तथा प्रसूताओं के लिए

---

1 भारत 1975, पृष्ठ 111-12.

कल्याण केन्द्रों और अस्पताली मोटर गाड़ियों की व्यवस्था की गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में इन लोगों की कल्याण सुविधाओं पर 5·97 करोड़ रुपया खर्च किया गया जबकि चौथी योजना में यह राशि बढ़ाकर 66 करोड़ रुपया कर दी गई। पाँचवीं योजना में पिछड़े वर्गों के लिए जिनमें अनुसूचित जातियाँ भी आती हैं, 255 करोड़ रुपयों के खर्च की व्यवस्था है।

उपरोक्त सभी प्रावधानों एवं सुविधाओं का लाभ देश की 471 अनुसूचित जातियों को मिला है और उनकी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति में सुधार हुआ है।

अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 [The Untouchability (Offences) Act, 1955]

अस्पृश्यता को समाप्त करने, इससे सम्बन्धित सभी आचरणों को रोकने और अस्पृश्यों पर विभिन्न निर्योग्यताओं को लागू करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने के उद्देश्य से जून सन् 1955 से 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' सम्पूर्ण देश में लागू किया गया। इस अधिनियम की 17 धाराओं के द्वारा अस्पृश्यों की सभी प्रकार की निर्योग्यताओं को समाप्त किया जा चुका है।

इस अधिनियम के अनुसार अस्पृश्य जातियों के लोगों को सार्वजनिक पूजा के स्थानों में प्रवेश करने, पवित्र नदी, तालाब, कुए, झरने आदि में स्नान करने या पानी लेने, किसी भी दुकान, जलपानगृह, होटल अथवा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान में प्रवेश करने तथा धर्मशालाओं और मुसाफिरखानों के उपयोग में लाने से रोकने पर दण्ड की व्यवस्था की गई। ऐसे व्यक्ति को छ. मास के कारावास या 500 रुपया जुर्माना या दोनों की सजा दी जा सकती है। इस कानून में यह भी बतलाया गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को नदी, कुए, तालाब या नल, घाट, श्मशान, कब्रिस्तान आदि को काम में लेने से या किसी मोहल्ले में जमीन खरीदने, मकान बनवाने या रहने से रोकेगा तो उसके इस कार्य को दण्डनीय अपराध माना जायेगा। प्रत्येक को किसी सार्वजनिक बस्ती, सवारी, आभूषण या अलंकार के उपयोग की पूरी स्वतन्त्रता होगी।

इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को सार्वजनिक चिकित्सालयों, औषधालयों, शिक्षण संस्थाओं तथा छात्रावासों में प्रवेश का समान अधिकार दिया गया है। किसी प्रकार का भेदभाव बरतने या प्रवेश देने से इन्कार करने पर दण्ड की उपयुक्त प्रकार से व्यवस्था की गई है। यदि कोई दुकानदार अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कोई भी वस्तु बेचने या सेवा प्रदान करने से इन्कार करता है तो उसके लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम में यह भी बतलाया गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी अस्पृश्य को उत्पीड़ित करता है, क्षति पहुँचाता है, बहिष्कार करता है या उसके जीवन में बाधा डालने की कोशिश करता

है तो उसका कार्य दण्डनीय अपराध होगा। यदि कोई लिखित रूप में या बोले गये शब्दों के द्वारा अस्पृश्यता को प्रोत्साहित करता है तो उसके लिए भी छः मास के कारावास या 500 रुपया जुर्माना या दोनों के दण्ड की व्यवस्था की गई है।

इस अधिनियम के द्वारा अस्पृश्यता सम्बन्धी आचरण तथा अस्पृश्यता को किसी भी रूप मे प्रोत्साहन देने पर प्रतिबन्ध अवश्य लगा दिया गया है परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह आज भी पाई जाती है। कई स्थानों पर और विशेषत. ग्रामों में आज भी अस्पृश्यता सम्बन्धी आचरण दिखलाई पड़ते हैं। अस्पृश्यता को दूर करने में कानून उसी समय महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है जब उसे कठोर बनाया जाय, सख्ती के साथ लागू किया जाय तथा उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाय। कानून को सफल बनाने के लिए प्रचार माध्यम की विशेष सहायता ली जानी चाहिए। राज्य सरकारों ने जिलाधिकारियों और जन-सम्पर्क अधिकारियों को अस्पृश्यता निवारण हेतु प्रयास करने के लिए आदेश दे रखे हैं। प्रति वर्ष 'हरिजन दिवस' व 'हरिजन-सप्ताह' भी मनाये जाते हैं। सरकार द्वारा अस्पृश्यता निवारण के लिए प्रचार साहित्य तथा दृश्य-श्रव्य साधनों का काफी प्रयोग किया जा रहा है। सरकार समय-समय पर रेडियो, फिल्मों, पोस्टरों, तथा हैंडबिलों के द्वारा भी अस्पृश्यता विरोधी प्रचार करती है। ऐसा करके अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार किया जा रहा है।

निष्कर्ष (Conclusion)

डा० आर० एन० सक्सेना ने अस्पृश्यता निवारण हेतु सरकार के द्वारा किये गये प्रयत्नों की सफलता के सम्बन्ध में बतलाया है, "राजनीतिक आरक्षण ने अछूतोद्धार में कहाँ तक सहयोग प्रदान किया है, इस पर कई मत हो सकते हैं। अस्पृश्यता एक मानसिक प्रमेय है और उसके आधार हैं वे दृष्टिकोण जो समाजीकरण की प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। राजनीतिक आरक्षण से ऐसे दृष्टिकोण का निराकरण सम्भव नहीं है। इस आरक्षण ने अछूतों में एक प्रकार की परिजीविता की भावनाओं को जन्म दिया है जिसके कारण उनका स्वयं का उत्साह समाप्त-सा हो गया है। सरकार के ऊपर निर्भर करने की भावना उनमे घर कर रही है। अछूतों का नेतृत्व राजनीतिक दलों के हाथ मे है और इस कारण अछूतोद्धार आज राजनीतिक अखाड़ा बन गया है।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज सरकार पर निर्भर रहने की भावना न केवल अनुसूचित जातियों बल्कि जनजातियों तथा शेष सभी अन्य पिछड़े वर्गों में पायी जाती है। अस्पृश्यता निवारण की दृष्टि से 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955' पारित किया गया और यह आशा व्यक्त की गयी कि इस कानून

---

1 डा० आर० एन० सक्सेना, भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ, पृष्ठ 106-107.

के बन जाने से इस समस्या से छुटकारा प्राप्त किया जा सकेगा। लेकिन कानून बना देने मात्र से किसी सामाजिक समस्या को हल नहीं किया जा सकता, अस्पृश्यता समाप्त नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी ने लिखा है, "अस्पृश्यता कानून के बल से भी दूर नहीं होगी। वह तभी दूर होगी जब हिन्दुओं का बहुमत इस बात को अनुभव कर ले कि अस्पृश्यता ईश्वर और मनुष्य के विरुद्ध एक अपराध है और इसके लिए लज्जित हो।"[1] इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए डा० पणिक्कर ने लिखा है, "इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अस्पृश्यता से सम्बन्धित निर्योग्यताएँ कानूनी रूप से समाप्त हो गई हैं, लेकिन इस आधार पर यह सोचना मूर्खता होगी कि अस्पृश्यता समाप्ति की घोषणा के साथ ही उनकी सामाजिक निर्योग्यताओं का अस्तित्व खत्म हो गया है। सामाजिक संस्थाएँ जो कम से कम पिछले तीन हजार वर्षों से चली आ रही हैं और जो हिन्दू जीवन का अभिन्न अंग बन गई हैं, एकाएक कार्य करना कैसे बन्द कर सकती हैं? यद्यपि कानून की दृष्टि से निर्योग्यताएँ समाप्त हो गई हैं तथापि वे परिवर्तित रूप में मौजूद हैं और उन्हें केवल कई वर्षों के सतत प्रयत्नों से बदला जा सकता है।"[2] स्पष्ट है कि अस्पृश्यता की समस्या को हल करने के लिए केवल कानून बना देना मात्र काफी नहीं है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार और विविध संगठनों के द्वारा अस्पृश्यता-निवारण तथा पिछड़े वर्गों के उत्थान के लगातार प्रयत्न किये जाते रहे हैं। इन प्रयत्नों की सफलता इस बात पर आधारित है कि अछूतोद्धार के कार्य में लगे लोग कहाँ तक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, अपने दायित्व को कितनी उत्तमता के साथ निभाते हैं। अस्पृश्यता को समाप्त करने और पिछड़े वर्गों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि अधिकांश हिन्दुओं के हृदय परिवर्तित हों, अर्थात् वे स्वयं यह महसूस करने लगें कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज के लिए कलंक है, समाज के एक बड़े वर्ग के प्रति अन्यायपूर्ण नीति का परिणाम है। यहाँ हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि केवल शोर मचाने, हरिजन दिवस और हरिजन सप्ताह मनाने से ही अस्पृश्यता की समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता।

नगरों में अस्पृश्यता निवारण हेतु काफी प्रयत्न हुए हैं और उनमें कुछ सफलता मिली है। लेकिन अधिकांशतः अस्पृश्य और पिछड़ी जातियों के लोग ग्रामीण क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इन क्षेत्रों में प्रचार तथा सामाजिक शिक्षा की *अत्यन्त आवश्यकता* है। सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था उन सवर्ण हिन्दुओं के लिए की जानी चाहिए जो ऊँच नीच में, सामाजिक भेदभाव तथा असमानताओं में विश्वास करते हैं और

1 हरिजन सेवक, 23-9-1939, पृष्ठ 255.

2 K. M. Pannikar, *Hindu Society at Cross Roads*, pp 25-26.

जो अस्पृश्यता की भावना से प्रेरित होकर व्यवहार करते हैं। समस्या के निराकरण के लिए आवश्यक है कि सन 1965 में नियुक्त 'अनुसूचित जाति के आर्थिक तथा शैक्षणिक विकास और एलायन्स सम्बन्धी समिति' द्वारा मार्च 1969 में प्रस्तुत रिपोर्ट में दिये गये सुझावों के अनुसार निष्ठापूर्वक प्रयत्न किया जाय। रिपोर्ट में बतलाया गया है कि अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए जरूरी है कि विरासती पुरोहित की प्रथा समाप्त हो, छुआछूत का कानून कठोर बनाया जाय, अस्पृश्यता बरतने वालों को वित्तीय सहायता एवं सरकारी ऋण न दिये जायें। ऋण देते समय अनुसूचित जातियों को प्राथमिकता दी जाय, उनके निवास की भूमि पर उनका अधिकार हो, बेगार प्रथा को गैर-कानूनी रूप दिया जाय तथा अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाय। श्रम के प्रति श्रद्धा और समानता के व्यवहार को महत्ता प्रदान की जानी चाहिए।

संवैधानिक व्यवस्थाओं एवं राजनीतिक आरक्षणों ने अस्पृश्य जातियों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों को अपनी शक्ति को पहचानने का अवसर दिया है। वे अपने अधिकारों के उपयोग में लगे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्पृश्यों की स्थिति को सुधारने के प्रयत्न स्वतन्त्र भारत में काफी हुए हैं और समय समय पर सुधार-कार्यों के मूल्यांकन हेतु समितियों का गठन भी किया जाता रहा है। इन समितियों के अनुसार अस्पृश्यों के उत्थान हेतु योजनाओं को परिवर्तित रूप में लागू करने का प्रयत्न भी किया गया है। लेकिन यहाँ मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कहाँ तक इन लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकी है, कहाँ तक अस्पृश्यों की समस्याएं हल हो चुकी हैं और कहाँ तक उनका उत्थान हुआ है। शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं का लाभ अस्पृश्य एवं पिछड़े वर्गों ने काफी उठाया है परन्तु इन जातियों के अनेक लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने ही समाज के लोगों से दूर हो गये। सरकारी नौकरियों में इनके लिए स्थान सुरक्षित होने, इनको आयु सीमा और योग्यता के मान दण्ड में छूट तथा पदोन्नति में इनका प्रतिशत निश्चित होने से जहाँ इन लोगों को नौकरियां प्राप्त करने और पदोन्नति का अवसर मिला है, वहाँ विविध सेवाओं एवं सरकारी काम-काज में कुशलता में गिरावट आई है। वास्तव में सभी प्रकार की सेवाओं में प्रविष्ट होने का एकमात्र आधार होना चाहिए—व्यक्ति की योग्यता। जाति, वर्ग, धर्म तथा अन्य किसी भी आधार पर कोई भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए। इतना अवश्य है कि अस्पृश्य जातियों तथा पिछड़े वर्गों के लोगों को शिक्षा एवं प्रशिक्षण सम्बन्धी पूरी-पूरी सुविधाएँ अवश्य मिलनी चाहिए। ऐसा होने पर राष्ट्र को योग्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवाओं का पूर्ण लाभ मिल सकेगा अन्यथा सम्भव है कि सवर्ण और अवर्ण का भेद और बढ़ जाये तथा दोनों में आपस में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाये। अब समय आ गया है जब इस मूल प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए कि आरक्षण कब तक चले और आरक्षण का आधार जाति हो अथवा आर्थिक स्थिति।

हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि केवल अपार धन-राशि खर्च करने मात्र से ही पिछड़े वर्गों का उत्थान नहीं हो जायेगा। आज प्रमुख आवश्यकता यह है कि पिछड़े वर्गों के परम्परागत पेशों को स्थायी आधार एवं संरक्षण प्रदान किया जाय ताकि ये लोग आर्थिक दृष्टि से उन्नत हो सकें। परम्परागत पेशों में निपुणता प्राप्त करने हेतु इन लोगों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिए। इन्हें काफी सुविधाएँ प्रदान कर लघु उद्योग-धन्धों में लगाया जाना चाहिए। इच्छुक व्यक्तियों को विभिन्न शिल्पों की शिक्षा दी जानी चाहिए। सुझाव के रूप में हमें निम्नलिखित बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए : "परम्परागत पेशों के नवीनीकरण का प्रयत्न तथा श्रम के महत्त्व को प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। यदि पूरी लगन के साथ यह सब किया गया तो निश्चित रूप से पिछड़े वर्गों की आर्थिक प्रगति होगी, देश में उत्पादन बढ़ेगा, राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनेगा और ये लोग नौकरियों की तलाश में नगरों की ओर नहीं भागेंगे। इन लोगों के पिछड़ेपन का लाभ उठाकर राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं को पनपाना राष्ट्र हित में नहीं है। सुविधाओं के नाम पर पृथक वर्गों के रूप में इनके अस्तित्व को अधिक समय तक बनाये रखना किसी भी दृष्टि से न्याय-संगत नहीं है। यदि अनुसूचित जातियों अथवा पिछड़े वर्गों का केवल इनके साथ लगाये रखा गया तो सवर्ण हिन्दुओं से ये और अधिक दूर हो जायेंगे, आपस में ईर्ष्या और विरोध की भावना पनपेगी और अलगाव बढ़ेगा। यदि उपर्युक्त सुझाव के अनुसार इनको आर्थिक विकास के सुअवसर प्रदान किये गये तो ये अपने पाँवों पर खड़े हो सकेंगे और इनकी आय में अवश्य वृद्धि होगी। इससे इनका रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा, विविध अवसरों पर अन्य जाति के लोगों के साथ इनका सम्पर्क बढ़ेगा, धीरे-धीरे सामाजिक दूरी कम होगी और एक दिन ये राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में समाहित हो सकेंगे। यही हमारा इच्छित लक्ष्य होना चाहिए। चेतन अथवा अचेतन प्रयत्न द्वारा किसी भी रूप में हमें अलगाव को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए।"[1] अस्पृश्यों की समस्याओं के निराकरण के लिए समाजशास्त्रीय अनुसन्धानों का विशेष लाभ उठाया जाना चाहिए।

अस्पृश्य जातियों एवं पिछड़े वर्गों का भविष्य भारतीय समाज की संरचना के साथ जुड़ा हुआ है। वर्तमान में भारतीय समाज में काफी परिवर्तन हो रहे हैं। उदाहरण के रूप में परम्परात्मक खण्डात्मक संरचना की बहुत-सी विशेषताएँ समाप्त होती जा रही हैं। एक खण्ड के लोगों का प्रवेश दूसरे खण्डों में हो रहा है। जाति और समुदाय की सीमाओं के परे व्यक्तियों के सम्बन्ध स्थापित होते जा रहे हैं। नवीन आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं ने इन अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की स्थापना में काफी योग दिया है। आज बदलती हुई परिस्थितियों में संस्कारात्मक मूल्यों (ritual

---

1 मोतीलाल गुप्ता, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 127.

values) का महत्त्व भी कमजोर पड़ गया है जिन्होंने संरचनात्मक दूरी को बनाये रखने में निर्णायक भूमिका अदा की। इन जातियों के भविष्य के सम्बन्ध में आन्द्रे बिताई ने लिखा है, "यह सत्य है कि आधुनिकीकरण की शक्तियाँ अभी तक प्रमुखतः भारतीय समाज के एक सीमित क्षेत्र में ही क्रियाशील हैं। उनका प्रभाव विशेषतः पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग के लोगों पर दिखायी देता है और यह भी मुख्यतः नगरीय केन्द्रों में। पिछड़े वर्ग अभी तक अधिकांशतः ग्रामीण क्षेत्रों में ही केन्द्रित हैं, और उन पर पश्चिमीकरण का प्रभाव उच्च जातियों की तुलना में कम पड़ा है। अतः यह सम्भव है कि पिछड़े वर्ग और विशेषतः अनुसूचित जनजातियाँ तथा अनुसूचित जातियाँ आने वाले कुछ वर्षों तक अपना अभिन्न रूप बनाये रखें।"[1] उपरोक्त कथन में सत्यता का काफी अंश है। आज स्थिति यह बन गयी है कि ये लोग अपने पृथक अस्तित्व को बनाये रखने में रुचि लेने लगे हैं।

साम्प्रदायिकता
(COMMUNALISM)

साम्प्रदायिक तनाव राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। इस देश में प्रमुखतः हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामंजस्य की समस्या पायी जाती है। हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमान हिन्दुओं को शंका की दृष्टि से देखते रहे हैं। साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि में एक महत्वपूर्ण कारण यह पाया जाता है कि हिन्दू मुसलमानों को आक्रमणकारी मानते रहे हैं। यह ऐतिहासिक सत्य भी है कि मुसलमानों ने इस देश पर आक्रमण किया और अपना राज्य स्थापित किया। कुछ मुस्लिम शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया तो कुछ ने धार्मिक असहिष्णुता का। धार्मिक असहिष्णुता और हिन्दू-मुस्लिम के बीच भेदभाव करने की नीति ने इन दोनों समूहों को एक दूसरे से काफी पृथक कर दिया। इन दोनों समूहों में सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से काफी अन्तर पाये जाते हैं। अंग्रेजों ने इस देश में अपनी स्वार्थ-पूर्ति के उद्देश्य से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा ही दिया। उन्होंने 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को अपनाया। वे सदैव इस ओर प्रयत्नशील रहे कि हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ते रहें और वे यहाँ अपना आधिपत्य बनाये रख सकें। अंग्रेजों के प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप ही सन् 1947 में देश का विभाजन हुआ और पाकिस्तान बना। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व और पश्चात् अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। अलीगढ़, राँची, मेरठ, कलकत्ता, औरंगाबाद, अहमदाबाद तथा जमशेदपुर आदि स्थानों पर समय-समय पर ऐसे दंगे होते रहे हैं। मूल प्रश्न यह उठता है कि औद्योगिक और सांस्कृतिक महत्व के इन स्थानों पर साम्प्रदायिक तनाव क्यों पाया जाता है, दंगे और मारकाट क्यों होती है। साम्प्रदायिकता की समस्या

1 Andre Beteille. The Future of the Backward Classes: The Competing Demands of Status and Power,' in *Unity and Diversity—India and Ceylon* pp 119-20.

इतनी सरल नहीं है कि कुछ साधारण से कारणों के आधार पर इसकी व्याख्या की जा सके। यह एक गम्भीर समस्या है जिसके निदान के लिए वैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त आवश्यक है।

साम्प्रदायिकता अपने ही जातीय समूह के प्रति न कि समग्र समाज के प्रति तीव्र निष्ठा की भावना है।[1] साम्प्रदायिकता एक सामाजिक समस्या के रूप में अन्तर-धार्मिक सम्बन्धात्मक परिस्थिति है जिसमें पारस्परिक घृणा, पक्षपात, पूर्वाग्रह तथा सन्देह पाये जाते हैं जो हिंसा को भड़काने में योग देते हैं। भारतीय सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता की समस्या प्रमुखतः हिन्दुओं तथा मुसलमानों से सम्बन्धित है। साम्प्रदायिकता के वशीभूत होकर लोग अपनी कौम, सम्प्रदाय अथवा जातीय समूह को विशेष महत्त्व देते हैं। ऐसा करते समय वे सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र के हितों की अवहेलना करते हैं। साम्प्रदायिकता वह संकुचित निष्ठा है जो हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे के प्रति घृणा, सन्देह तथा दुराग्रह रखने की ओर प्रेरित करती है। इन सबका परिणाम होता है साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि भारत में साम्प्रदायिकता का प्रारम्भ प्रमुखतः 19वीं शताब्दी में हुआ। सन् 1920 में सईद अहमद बरेलवी ने मक्का से लौटने के पश्चात् जिहाद आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप सिक्खों और मुसलमानों में वैमनस्य की भावना तीव्र हुई। सर सय्यद अहमद खाँ के सन् 1857 के अलीगढ़ आन्दोलन के कारण इस वैमनस्य ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया। सर सय्यद अहमद खाँ के प्रयत्नों से 'राजभक्त मुसलमान' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। आपके ही प्रयत्नों से सन् 1887 में मुस्लिम सम्मेलन तथा देश-भक्त मुसलमानों के ऐसोसियेशन की स्थापना हुई। मुसलमानों के इन सारे प्रयत्नों से प्रभावित होकर अंग्रेजों ने मुसलमानों को साम्प्रदायिकता के आधार पर प्रतिनिधित्व की माँग करने के लिए प्रोत्साहित किया। 30 दिसम्बर, 1906 को मुहम्मद अली जिन्ना के प्रयत्न से ढाका में मुस्लिम लीग की नींव रखी गयी। स्वयं जिन्ना ने लिखा है कि हिन्दू और मुस्लिम दो पृथक राष्ट्र हैं। उनके अलग-अलग धार्मिक दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाज और साहित्य हैं। वे आपस में विवाह नहीं करते, भोजन नहीं करते और वास्तव में अलग-अलग सभ्यताओं से सम्बन्ध रखते हैं, जिनका आधार एक-दूसरे की विरोधी विचारधारा है। उनके राष्ट्रीय वीर अलग-अलग हैं। उनके इतिहास एवं परम्पराएँ अलग-अलग हैं। अतः इस महाद्वीप में शान्ति स्थापित करने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं कि इसको बाँटकर पाकिस्तान की स्थापना की जाए।

सन् 1909 में मुसलमानों को अपने अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। उनके लिए अलग विश्वविद्यालय बनाने की बात को स्वीकार

1 *The Random House Dictionary of English Language*, 1957, p. 297.

कर लिया गया तथा वाणिज्य सघ तथा नगरपालिकाओ मे उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये। सन् 1921 मे देश मे हिन्दू मुसलमानो के बीच दगे हुए। सन् 1937 मे मुस्लिम लीग ने द्विराष्ट्र के सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान की माँग की। सन् 1940 मे जिन्ना ने कहा कि मुसलमान राष्ट्रीयता की किसी भी परिभाषा के अनुसार एक राष्ट्र है और निश्चित रूप मे उनकी मातृभूमि और राष्ट्र अलग होने चाहिए। इस स्थिति ने देश मे साम्प्रदायिकता को बढ़ाने मे योग दिया। हिन्दू महा सभा के नेता वीर सावरकर ने कहा कि भारतवर्ष हिन्दुओ का मूल स्थान है, जिसके अनुसार हिन्दू एक राष्ट्र है और इसकी राष्ट्र-भाषा हिन्दी है। मुस्लिम नेताओ के प्रयत्नो के फलस्वरूप धीरे धीरे पाकिस्तान की माँग और अधिक बलवती होती जा रही थी। सन् 1946 मे पाकिस्तान की माँग को लेकर मुस्लिम लीग ने सीधी कार्यवाही करने का रवैया अपनाया। इसके फलस्वरूप स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक दगे हुए। काँग्रेस ने यद्यपि मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग का काफी विरोध किया परन्तु अन्त मे परिस्थितियो से विवश हो अग्रेजों के दबाव के कारण उन्होने इस माँग को स्वीकार कर लिया। परिणाम हुआ—देश का विभाजन। विभाजन के समय साम्प्रदायिक तनाव और सघर्ष विकराल रूप धारण किये हुए थे।

भारत में साम्प्रदायिकता का विकास—विभिन्न आधार (*Development of Communalism—Different Bases*)

साम्प्रदायिकता के विकास मे अनेक कारकों का योग रहा है। साम्प्रदायिकता की समस्या न केवल सामाजिक और आर्थिक ही है बल्कि राजनैतिक भी है। चुनावों के अवसर पर विभिन्न राजनैतिक दलों के द्वारा जाति और धर्म का सहारा लिया जाता है। कई राजनेता साम्प्रदायिकता को भड़काकर व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। राजनैतिक स्वार्थों के वशीभूत होकर प्रमुख राजनैतिक दलों ने भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया है, मुसलमानों मे भय और असुरक्षा का वातावरण पैदा किया है। राष्ट्रीय हित को ताक मे रखकर सभी मुसलमानो के वोट स्वय प्राप्त करने की राजनैतिक दलों की आकांक्षा ने साम्प्रदायिकता को इस देश मे बहुत भड़काया है। जब धर्म और राजनीति में समझौता हो जाता है तो परिणाम बड़े भयकर होते हैं। व्यावसायिक राजनीतिज्ञों के द्वारा शक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप मे धर्म का प्रयोग किया जाता है। जब राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए धर्म का दुरुपयोग किया जाता है तो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। राजनीतिज्ञ और बड़े-बड़े उद्योगपति धर्म के आधार पर जन समूहो को विभाजित कर देते हैं।

साम्प्रदायिक तनावो के फलस्वरूप इस देश में अनेक दगे हुए हैं। साम्प्रदायिक तनावों और सघर्षों के मूल कारणों की खोज करने पर हम पाते हैं कि कुछ

ऐसे आर्थिक और सामाजिक आधार हैं जो इस सम्पूर्ण परिस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। सन् 1969 मे इस देश मे 210 साम्प्रदायिक दगे हुए—बिहार मे 41, पश्चिमी बगाल मे 14, उत्तर प्रदेश मे 9, केरल मे 9, उडीसा मे 7, गुजरात मे 5, महाराष्ट्र मे 2, मध्य प्रदेश मे 2 और राजस्थान मे 5। इन दगो के कारणो पर विचार करने पर हम पाते हैं कि सबसे अधिक दगे विभिन्न जातियो एव सम्प्रदायो के उत्सवो तथा विवाहो के अवसर पर हुए। इन कारणो के आधार पर 37 दगे हुए। पशु हत्या और गौ हत्या को लेकर 18, भू-स्वामित्व के कारण 22, मन्दिर-मस्जिदो के कारण 9, होली के अवसर पर 10, विभिन्न सम्प्रदायो की स्त्रियो का अपमान करने के कारण 15 और चुनावो के अवसर पर 5 दगे हुए। इन दगो मे धन और जन की हानि होती है। मारकाट और तोड-फोड होती है। कई बेगुनाह लोगो को अपनी जान और माल से हाथ धोना पडता है। इन दगो मे लूटपाट की जाती है, सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट किया जाता है, रेलवे, डाकघर, बसें तथा यातायात के अन्य साधनो को नुकसान पहुँचाया जाता है।

साम्प्रदायिक तनावो और सघर्षों का एक मूल आधार आर्थिक है। अधिकाश समूह-तनावो मे आर्थिक कारको की सदैव प्रधानता पायी जाती है। पारिवारिक झगडो अथवा साम्प्रदायिक दगो मे इसी आधार की प्रधानता देखने को मिलती है। साम्प्रदायिक दगो के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है कि धनी लोगो को यदाकदा ही इन दगो मे कोई नुकसान होता है। इन दगो से प्रमुख हानि गरीबो को ही होती है। कलकत्ता मे हुए साम्प्रदायिक दगों से यह बात स्पष्ट है कि वहाँ गुण्डो के द्वारा गरीब मुसलमानो की बस्तियो को उजाडा गया। इन गुण्डो को स्थानीय धनी-व्यापारियों से काफी पैसा मिलता था। धनी व्यापारी उन उजड़ी हुई बस्तियो की भूमि का प्रयोग अपने उद्योग धन्धों के लिए करना चाहते थे। भारतवर्ष प्रमुखत. एक गरीब देश है जिसमे अभावमय स्थिति मे लोगो को अपना जीवन बिताना पड़ता है। गरीबी के कारण भडक उठने वाला आर्थिक युद्ध साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लेता है, और हिंसात्मक हो जाता है। परिणाम यह होता है कि गरीब अधिक गरीब होता जाता है और धनी व्यक्ति को अधिकाधिक शक्ति और सम्पदा प्राप्त होती जाती है। अहमदाबाद में हुए दगों मे स्पष्ट है कि श्रमिक वर्ग को भी साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित किया जा सकता है। बर्मन का कथन है कि बहुत से मामलो मे हिन्दू श्रमिक, विशेषत अनुसूचित जातियो के श्रमिक और मुसलमान श्रमिक एक दूसरे के विरुद्ध सघर्ष हुए थे। यह भी बतलाया गया है कि एक ही स्थान से आने वाले दो समुदायों के श्रमिक एक दूसरे को मारने मे नही हिचकिचाये।[1]

---

1 B. K. R. Burman. *Social Profits of Ahmedabad and the Communal Disturbances*, paper contributed to a Seminar organized by Gandhi-Peace Foundation on December 13 and 14 1969, 1970, p. 7.

साम्प्रदायिक तनावो के आर्थिक आधार के सम्बन्ध मे डा० बृजमोहन[1] ने कुछ महत्वपूर्ण अवलोकनो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है

(1) साम्प्रदायिक तनाव तथा हिंसा को भड़काने मे निहित स्वार्थों की भूमिका को नहीं भूलना चाहिए।

(2) प्रमुख आर्थिक चर (variable) अनिवार्यत विभिन्न स्वतन्त्र सामाजिक चरो से सम्बन्धित होता है और इन दोनो की पारस्परिक अन्त क्रिया को समझने के लिए सामाजिक चरो का विश्लेषण अनिवार्य है।

(3) जब गड़बड़ या अशान्ति पैदा करने वाले तात्कालिक कारक प्रकट रूप मे राजनैतिक मालूम पड़ते हैं, तब भी सामाजिक-आर्थिक विस्फोटक नीचे की सतह मे काम करते रहते हैं।

(4) वर्ग-संघर्ष से ध्यान हटाने के लिए साम्प्रदायिक विक्षोभ को स्थानीय समूह तनावो के रूप मे मोड़ दे दिया जाता है।

स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक तनावो के आधार के रूप मे आर्थिक कारक का विशेष महत्त्व पाया जाता है।

साम्प्रदायिक तनावो का एक अन्य प्रमुख आधार सामाजिक है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की है जिसमे जाति और धर्म के आधार पर अनेक भेदभाव पाये जाते हैं। यहाँ ऊँच-नीच का एक संस्तरण भी पाया जाता है। एक जाति अपनी तुलना मे दूसरी को ऊँचा अथवा नीचा मानती है। भारतीय समाज मे निहित स्वार्थों के कारण वर्ग-विभेद भी काफी पाया जाता है। इस समाज मे व्यक्ति की स्थिति के निर्धारण मे धन का विशेष महत्त्व रहा है। इस देश मे धन अर्जित करने के साधनो की सीमितता विभिन्न समूहो में तनाव उत्पन्न करती है। प्रत्येक समूह आर्थिक साधनो पर अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहता है। परिणाम यह होता है कि कमजोर वर्गों का जिसमे अल्पसंख्यक समूह भी आते हैं, शोषण होता है। स्पष्ट है कि उपेक्षित लोगों की चिन्ताएँ, कष्ट और असुरक्षाएँ साम्प्रदायिक तनावों का आधार बन जाती हैं। राजनीतिज्ञों तथा अन्य स्वार्थी लोगों के द्वारा इस विस्फोटक परिस्थिति का स्वय के हितो की पूर्ति के लिए शोषण किया जाता है। प्रतिक्रियावादी पुलिस तथा अनुत्तरदायी प्रशासन इस कार्य मे सहयोग ही प्रदान करता है। अनेक स्वार्थी लोग शक्ति और सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से व्यवस्थित प्रचार के द्वारा साम्प्रदायिक घृणा को फैलाते हैं और तनाव को प्रोत्साहन देते हैं। ऊँच नीच और शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था को बदलना साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए आवश्यक है।

1 Brij Mohan, *Communalism India's Social Problems*, p. 31

साम्प्रदायिक तनाव का राजनैतिक आधार भी कम महत्वपूर्ण नहीं है जिसकी विवेचना साम्प्रदायिकता पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते समय की जा चुकी है।

साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने हेतु कुछ सुझाव (Some Suggestions to Solve the Problem of Communalism)

साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने के उद्देश्य से केन्द्रीय स्तर पर राष्ट्रीय एकता परिषद का गठन किया गया। 16 अक्टूबर, 1969 को दिल्ली में हुई बैठक में यह तय किया गया कि देश के सभी राजनैतिक दलों को जन-साधारण मे साम्प्रदायिक सद्भाव जागृत करने के लिए विचार तथा शिक्षा के व्यापक कार्यक्रम अपनाने चाहिए। इस बैठक मे इस बात पर भी जोर दिया गया कि देश के शासन की प्रशासनिक इकाइयो को साम्प्रदायिक दगो को समाप्त करने हेतु कठोर कदम उठाने चाहिए। इस अवसर पर इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया कि अल्पसख्यक समूहो की समस्याओ के निराकरण पर विशेष ध्यान दिया जाय।

हिन्दुस्तान टाइम्स ने 31 अक्टूबर, 1968 के अक मे 'बुद्धिजीवी और साम्प्रदायिकता का विनाश', नामक लेख मे बतलाया कि भारत मे अल्पसख्यको की समस्याओ के कारण साम्प्रदायिकता की समस्या का विकास होता है। यदि बहुसख्यक हिन्दू इन अल्पसख्यको को सहयोग प्रदान करें तो यह समस्या हल हो सकती है। लेख मे यह भी बतलाया गया कि वैज्ञानिक विधि से इस समस्या के निराकरण के लिए आवश्यक है कि सामाजिक वैज्ञानिको द्वारा अनुसधान किये जायें। साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने हेतु निम्नलिखित सुझावो पर तुरन्त ध्यान दिया जाना चाहिए :

(1) प्रजातान्त्रिक मूल्यो के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के महत्व को मान्यता दी जानी चाहिए। धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Technology) के मूल्यो को पूर्णतः स्वीकार किया जाय।

(2) देश की सम्पूर्ण जनसख्या के लिए सामाजिक सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। भारत का साधारण व्यक्ति अनेक असुरक्षाओ के मध्य रहता है। साधारण जनता को जो कि अभावो के बीच पलती है, विविध प्रकार के खतरो से सुरक्षा प्रदान करना सरकार का प्रमुख दायित्व है। राष्ट्रीय आय तथा साधनों को इस प्रकार से काम मे लिया जाना चाहिए कि अधिकतर लोगों की अधिक से अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। इसके लिए शोषण एवं एकाधिकार को समाप्त करना आवश्यक है।

(3) किसी भी राजनैतिक दल अथवा अन्य सगठन को धार्मिक आधार पर घृणा एवं वैमनस्य फैलाने की स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए। ऐसा करने वालों के विरुद्ध सरकार को कड़ी कार्यवाही करनी चाहिए।

(4) अनिवार्य शिक्षा और कार्य के अधिकार को सार्वभौमिक रूप से मान्यता दी जानी चाहिए। ज्ञान और जागरूकता साम्प्रदायिक घृणा और विद्वेष को दूर करने में काफी सहायक सिद्ध होंगे। शिक्षा की अन्तर-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो समानता, बन्धुत्व, सामाजिक न्याय और धर्म निरपेक्षता के लक्ष्यों की प्राप्ति में योग दे सके।

(5) प्रशासनिक शिथिलता साम्प्रदायिक हिंसा को भड़काने में विशेष योग देती है। अधिकारियों को प्रशासकीय कार्यों तथा उत्तरदायित्वों को पूर्ण गम्भीरता के साथ निभाना चाहिए। स्वच्छ प्रशासन की सम्भावना उसी अवस्था में रहती है जब राजनीतिज्ञ अपने दायित्वों का सही ढंग से निर्वाह करें।

(6) कोई भी राष्ट्र महान नेताओं के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। साम्प्रदायिक शान्ति को बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि ग्राम स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर के नेता समाज और देश के हितों को प्रधानता देते हुए प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनायें। नेताओं को जाति धर्म, भाषा, प्रान्तीयता और संकीर्ण स्वार्थों के दृष्टिकोण से सोचने और कार्य करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना होगा।

(7) साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने के लिए आवश्यक है कि धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया जाय। इस हेतु विभिन्न सम्प्रदायों के त्यौहारों और उत्सवों को सामूहिक रूप से राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जाना चाहिए। विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अधिकाधिक अवसर दिया जाना चाहिए। भिन्न भिन्न धार्मिक समूहों में सद्भावना और शान्ति उसी समय बनी रह सकती है जब उन्हें एक दूसरे को जानने, समझने और स्वीकार करने का अवसर मिले। यह उसी समय सम्भव है जब सभी धर्मों के लोग इस भारत राष्ट्र के प्रति पूर्ण निष्ठा रखें, देश के सुख-दुख और हानि-लाभ में अपनी पूर्ण सहभागिता अनुभव करें।

(8) साम्प्रदायिकता की समस्या के निवारण के लिए चलचित्र संगठनों के माध्यम से देश में राष्ट्रीय एकात्मकता के विचारों का प्रसार किया जाना चाहिए। चलचित्र और पत्रकारिता संगठन इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

(9) साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने में स्त्रियाँ महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार कर उन्हें राष्ट्रीय हितों और सामाजिक सुधारों के प्रति जागरूक बनाया जा सकता है। उन्हें अपने संगठन बनाकर घनी हिन्दू मुस्लिम बस्तियों में कार्य करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

(10) साम्प्रदायिकता की समस्या के निराकरण के लिए अल्पसंख्यकों की दशा सुधारने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिए। उन्हें शिक्षा प्राप्त कर नौकरियों या उद्योग धन्धों में प्रविष्ट होने का पूरा अवसर मिलना चाहिए। यदि देश में गरीबी और बेकारी की समस्या पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सका तो अल्पसंख्यकों का स्वार्थी लोग शोषण नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक तनावों व संघर्षों से छुटकारा प्राप्त किया जा सकेगा।

सभी प्रकार के सामाजिक भेदभावों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति के जीवन को इस दृष्टि से संस्कारित किया जाय कि उनमें प्रखर राष्ट्रीयता जागृत हो, उनमें राष्ट्र-भक्ति के भाव जगें और वे संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठें। यह सब कुछ उसी समय सम्भव है जब व्यक्तियों का समाजीकरण प्रारम्भ से ही इस प्रकार से हो कि वे अपने आपको भारत राष्ट्र का योग्य नागरिक बना सकें।

प्रश्न

1. सामाजिक भेदभाव से आप क्या समझते हैं ? भारत में सामाजिक भेदभाव किस रूप में पाया जाता है ?
2. स्वतन्त्र भारत में जातिवाद को समाप्त करने हेतु अपनाये गये उपायों की व्याख्या कीजिए।
3. "केवल कानून ही जातिवाद और साम्प्रदायिकता की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता।" तर्क दीजिए।
4. भारत में अस्पृश्यता का एक सामाजिक समस्या के रूप में विवरण दीजिए। इसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?
5. साम्प्रदायिक संघर्षों के आर्थिक और सामाजिक आधारों की व्याख्या कीजिए।
6. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए ·
   (अ) जातिवाद और राजनीति।
   (ब) अस्पृश्यता के कुपरिणाम।

11

विविध समस्याएँ
(MISCELLANEOUS PROBLEMS)

भारत एक विशाल देश है जिसमें विभिन्न धर्मों, भाषाओं, सम्प्रदायों, मतों, प्रजातियों एवं जातियों से सम्बन्धित लोग निवास करते हैं। इन विभिन्नताओं ने भारत को एक विचित्र देश ही नहीं बनाया वरन् समय-समय पर अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न की हैं। ये समस्याएँ हमारे राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के लिए चुनौती रही हैं। भारत की समस्याओं में प्रमुख समस्याएँ अपराध, बाल-अपराध, भिक्षावृत्ति, बेकारी, भ्रष्टाचार, जातिवाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद तथा वेश्यावृत्ति आदि हैं। गन्दी बस्तियों की समस्या, मद्यपान, गरीबी, बेकारी, जनजाति कल्याण की समस्या, राष्ट्रीय एकीकरण, छात्र असन्तोष, जनसंख्या की वृद्धि तथा नगरीकरण एवं औद्योगीकरण से जनित अनेक समस्याएँ भी यहाँ पायी जाती हैं। इन समस्याओं के हल के लिए सरकार ने समय-समय पर सामाजिक एवं आर्थिक नियोजन किया है, अनेक समितियों एवं कमीशनों की नियुक्तियाँ की हैं तथा कान्फ्रेंसों आदि का आयोजन किया है। यहाँ समय-समय पर पंचवर्षीय योजनाएँ सामुदायिक योजनाएँ, सुधारालय, मातृ एवं शिशु कल्याण, जनजाति कल्याण, समाज कल्याण तथा श्रम कल्याण आदि के कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये हैं। इतना सब कुछ होने पर भी कई समस्याएँ ज्यों की त्यों हैं। पिछले अध्यायों में हम अपराध, बाल-अपराध, मद्यपान, बेकारी, गरीबी, छात्र असन्तोष, राष्ट्रीय एकीकरण, जनसंख्या वृद्धि, सामाजिक असमानता आदि कुछ समस्याओं का उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ हम भिक्षावृत्ति, गन्दी बस्तियों, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिक एवं भाषायी तनाव तथा जनजातियों की समस्याओं का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

भिक्षावृत्ति
(BEGGARY)

आज भारत में भिक्षावृत्ति भी एक गम्भीर समस्या है। भिक्षावृत्ति किसी न किसी रूप में थोड़ी बहुत सभी देशों में पायी जाती है किन्तु वहाँ यह एक भयंकर समस्या नहीं है। भारत में भिक्षावृत्ति को जन्म देने में अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कारकों का योगदान रहा है। भूखे व्यक्ति को भोजन देकर लोग आत्म-सन्तोष

महसूस करते हैं। भिक्षा देना, दान, दया, सहिष्णुता, परोपकार, अतिथि-सत्कार, सहायता आदि धर्म, पुण्य एवं स्वर्गप्राप्ति की भावना पर आधारित हैं। प्राचीनकाल में शिष्य गुरु के आश्रम में अध्ययन करते थे और वे बस्ती में भीख माँगकर ही अपना जीवन बसर करते थे। ब्राह्मणों के लिए तो भिक्षा को ही जीवन व्यतीत करने का उचित साधन बताया गया है।

वर्तमान में नवीन सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों की स्थापना के कारण भिक्षावृत्ति को उचित नहीं माना जाता है। भिक्षावृत्ति आज एक व्यवसाय के रूप में विकसित हुई है और यह एक सामाजिक-आर्थिक समस्या बन गई है। भिक्षा माँगने के लिए भिखारी छल-कपट, बनावट, धर्म, नकली वेश-भूषा तथा धोखा-धड़ी आदि का प्रयोग करते हैं। वे आने-जाने वाले लोगों में दया की भावना जाग्रत करते हैं तथा कभी कभी तो भीख देने के लिए लोगों को मजबूर भी कर देते हैं। जो व्यक्ति भिक्षा के द्वारा अपना जीवन व्यतीत करता है और जिसके पास जीवन-यापन का कोई प्रकट साधन नहीं है, वह भिक्षुक या भिखारी कहलाता है।

परिभाषा

भिक्षुक की परिभाषा बम्बई भिक्षा अधिनियम, 1945 में इस प्रकार से दी गई है, "जीविकोपार्जन के साधन के बिना सार्वजनिक स्थानों पर आत्म-प्रदर्शन कर माँगने वाला कोई व्यक्ति भिक्षुक है।"[1]

भारतीय अपराध विधान संहिता की धारा 109 (ब) के अनुसार "एक भिक्षुक वह व्यक्ति है जो अपनी जीविका के साधनों से रहित है या जो स्वयं के साथ खाना नहीं रखता है।"[2] इंगलैण्ड में भिक्षुक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है "वे सब लोग भिखारी हैं जो इधर-उधर घूमते हैं या जो सार्वजनिक स्थानों जैसे सड़क, कचहरी आदि के आस-पास रहते हैं या जो स्वयं भीख माँगते हैं या किसी 16 वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं को भीख माँगने के लिए रख लेते हैं। इसमें वे लोग भी सम्मिलित हैं जो अपने घाव या अंग-भंग दिखा कर जनता से पैसा लेते हैं और वे लोग भी भिखारी हैं जो किसी झूठे उद्देश्य से दान या चन्दा एकत्रित करते हैं।"[3]

भिक्षावृत्ति के कारण (Causes of Beggary)

भिक्षावृत्ति के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं जिनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे :

(1) आर्थिक कारण—आर्थिक परिस्थितियाँ भी व्यक्ति को भिक्षावृत्ति के लिए मजबूर करती हैं। भिक्षावृत्ति के लिए प्रमुख दो आर्थिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी

1 *Bombay Beggars Act* (1945).
2 *Indian Constitution: Criminal Code*, Article, 109, (B).
3 Quoted by Cama H. Katayun in *Type of Beggars Our Beggar Problems* (Ed.), M. Kumarappa (1945) p 4.

(6) अन्य कारण—कई बार लोगों को भीख माँगने के लिए मजबूर किया जाता है। शहरों में कई ऐसे गिरोह होते हैं जो बच्चों को उठा लेते हैं, उनके अंग-भंग कर देते हैं और उनसे भिक्षा माँगने का कार्य करवाते हैं।

भिखारियों के प्रकार (Types of Beggars)

विभिन्न आधारों पर भिखारियों को अलग-अलग श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इर्विन जॉन टकर (Ervin John Tucker) ने तीन प्रकार के भिखारियों का उल्लेख किया है :

(1) होबोस (Hobos) जो कि मजदूरी के लिए इधर-उधर घूमते हैं और भीख भी माँगते हैं। (2) ट्रैम्प्स या घुमक्कड़ (Trams) जो कि मजदूरी नहीं करते और भिक्षा के लिए ही घूमते रहते हैं। (3) बम्स् (Bums) जो कि सार्वजनिक स्थानों, सड़कों, गलियों, आदि पर बैठकर भीख माँगते हैं।

एण्डर्सन (Anderson) ने भिखारियों को दो प्रमुख भागों में बाँटा है : (1) मौसमी मजदूर भिखारी (Seasonal labour beggars) जो ऐसे समय भीख माँगते हैं जब उनके पास मजदूरी का कार्य नहीं होता। (2) अस्थायी आकस्मिक भिखारी (Migratory causal beggars) जो कभी-कभी भीख माँगते हैं।

इसके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रकार के भिखारियों का उल्लेख भी किया जा सकता है, जैसे,

(1) बालक भिखारी।

(2) स्वस्थ शरीर वाला युवा भिखारी।

(3) स्त्री भिखारी।

(4) शारीरिक रूप से अक्षम भिखारी। इनमें हम बहरे, अन्धे, लूले-लँगड़े तथा अंग-भंग हुए भिखारियों को गिन सकते हैं।

(5) मानसिक रूप से विक्षिप्त भिखारी। इनमें हम अयोग्य मस्तिष्क वाले तथा विक्षिप्तता, मूर्खता, पागलपन आदि के कारण भीख माँगने वाले लोगों को सम्मिलित कर सकते हैं।

(6) साधु-भिखारी। इस श्रेणी में हम योगी, बैरागी, फकीर, जोगी, साधु-संन्यासी आदि को गिन सकते हैं जो भगवा वस्त्र पहन कर या साधु की वेश-भूषा धारण कर हाथ में चिमटा, दंड-कमंडल, खप्पर, माला आदि लिए हुए भिक्षा का कार्य करते हैं।

(7) वृद्ध एवं दुर्बल भिखारी आदि।

भीख माँगने की विधि

वर्तमान में भिक्षावृत्ति एक व्यवसाय बनता जा रहा है और भिक्षा के लिए अनेक तरीके काम में लिए जा रहे हैं। भिखारी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग

करते हैं जिससे व्यक्ति में दया और दान की भावना जाग्रत हो। इसके लिए स्वर्ग-नरक, पाप पुण्य धर्म आदि की दुहाई दी जाती है। भीख देने वाले को सम्पत्ति और पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया जाता है। इस प्रकार भिखारी लोगों की भावनाओं को छूते हैं। बनावटी शारीरिक आकृतियाँ बनाते हैं, शरीर को रंगो से पोतते हैं, चेहरे पर दया एवं करुणा की भावना उत्पन्न करते हैं। कई लोग गौ-पालन, मन्दिर बनवाने अनाथालय चलाने आदि के नाम पर भी भीख माँगते हैं। कई भिखारी तो लोगों को भीख देने के लिए मजबूर तक कर देते हैं और जब तक उन्हें भीख नहीं दी जाती वे पीछा नहीं छोड़ते हैं। कुछ लोग विभिन्न प्रकार के जानवरों जैसे रीछ, गाय बन्दर आदि के करतब दिखाकर ज्योतिषी बनकर, भविष्य वाणी करके भी भिक्षा माँगने का कार्य करते हैं। कई बार भिक्षावृत्ति के लिए कई तरीके अपनाये जाते हैं जैसे बच्चों के अंग-भंग कर दिये जाते हैं, उन्हें अन्धा कर दिया जाता है, उनके शरीर पर घाव बनाये जाते हैं और उन्हें दिखा कर भीख माँगने का कार्य किया जाता है।

भिक्षावृत्ति की रोकथाम

भारत में भिखारियों की एक बहुत बड़ी सेना है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार देश में 7,44,500 भिक्षुक हैं। भिक्षावृत्ति को रोकने के लिए बनाये गये विभिन्न कानूनों के बावजूद भी भिखारियों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। इसके लिए बेरोजगारी, गरीबी प्राकृतिक विपदायें महामारियाँ, अकाल, बाढ़, शारीरिक अपंगता आदि उत्तरदायी हैं। एम० एस० गोरे ने दिल्ली में 74%, एम० वी० मूर्ति ने बम्बई में 80% एवं सुशील चन्द्र ने लखनऊ के सर्वेक्षण में 79.5% पुरुष भिखारियों का उल्लेख किया है। भिखारियों में बच्चों की संख्या भी बड़ी मात्रा में है। ये लोग भीख में इतना पैसा एकत्रित कर लेते हैं कि वे इसे छोड़ कर दूसरा कार्य नहीं करना चाहते हैं।

भिक्षावृत्ति की समाप्ति के लिए कई राज्यों ने अपने यहाँ कानून बना कर रोक लगाई है। बंगाल में सन् 1942 में, महाराष्ट्र और आन्ध्र में 1945 में, कर्नाटक में 1944 में बिहार में 1952 में और गुजरात में 1959 में भिक्षावृत्ति पर रोक सम्बन्धी कानून बनाये गये। इसके अतिरिक्त विभिन्न शहरों में भी स्थानीय स्तर पर नगरपालिकाओं आदि के द्वारा इस पर रोक लगाई गई है।

भिखारियों को रोगों से मुक्त करने, उनकी चिकित्सा करने एवं भोजन आदि की सुविधायें प्रदान करने के लिए कलकत्ता, मद्रास, मदुराई, कोयम्बटूर, आदि नगरों एवं विभिन्न प्रान्तों में उचित व्यवस्था की गई है। कई प्रान्तों में दरिद्र गृहों (Poor Houses) की स्थापना की गई है, तो कई स्थानों पर 'रैन बसेरा' की सुविधायें जुटाई गई हैं। कई स्थानों पर स्वस्थ एवं सक्षम भिखारियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था भी की गई है। इस समस्या से निपटने के लिए

गरीबी एवं बेकारी की समस्या का अन्त करना होगा। वृद्ध, बीमार, पागल एवं अपंग लोगों के लिए भोजन एवं निवास की उचित व्यवस्था करनी पड़ेगी और उनके लिए पुनर्वास की योजनाएँ बनानी होंगी। गरीबी एवं बेकारी के लिए सहायता कोष की स्थापना की जाय जिसमें सरकार एवं जनता चन्दा दे, सामाजिक सेवा केन्द्रों की स्थापना की जाय तथा कुष्ठ रोग एवं अन्य बीमारियों से पीड़ित लोगों के लिए चिकित्सा की उचित व्यवस्था की जाय। धार्मिक साधुओं को लाइसेन्स दिये जायें। आर्थिक विकास एव परिवार कल्याण की योजनाओं का विस्तार किया जाय।

गन्दी बस्तियाँ
(SLUMS)

वर्तमान में औद्योगिक केन्द्रों में गन्दी बस्तियों की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। इन गन्दी बस्तियों में गृह-विहीन, बेकार, निक्कड़ श्रमिक भिखारी, वेश्याएँ और वेश्यागामी लोग निवास करते हैं। इन लोगों से सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने एव व्यवस्था बनाये रखने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। वर्तमान में गन्दी बस्तियों को जन्म देने में नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया का मुख्य हाथ है। गन्दी बस्तियों में स्वस्थ सामाजिक सामुदायिक जीवन का विकास नहीं हो पाता है। अतः हम इन्हें 'विघटन के केन्द्र' कह सकते हैं। इन क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों का स्वास्थ्य और जीवन-स्तर निम्न होता है, उनका मस्तिष्क चिन्ता, भय, तनाव और संघर्ष युक्त होता है। गन्दी बस्तियाँ वेश्यावृत्ति, अपराध, जुआखोरी, यौन शिथिलता, दुर्व्यसनों, आलस्य और अकुशलता के केन्द्र होते हैं। भारत में कानपुर, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, अहमदाबाद, मद्रास, और अनेक औद्योगिक नगरों में गन्दी बस्तियाँ हैं जहाँ निवास भीड़-भाड़ युक्त है और एक ही कमरे में 10-15 तक व्यक्ति निवास करते हैं। वहाँ मकान अँधेरे एवं सीलनयुक्त हैं जिनमें पाखाने, पानी, बिजली और रोशनी की पर्याप्त सुविधाओं का अभाव है। मच्छर, खटमल, जुएँ, छिपकलियों, चूहों और बीमारी के कीटाणुओं की यहाँ बहुलता है।

गन्दी बस्ती का अर्थ

गन्दी बस्तियों एव रोगग्रस्त क्षेत्रों (blighted areas) को अधिकांशतः पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि दोनों की प्रकृति में पर्याप्त समानता है। क्वीन एव थोमस भी इन दोनों को पर्यायवाची समझते हैं।[1] किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। रोगग्रस्त क्षेत्र निवास सम्बन्धी और अनिवास सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं जबकि गन्दी बस्ती सदा ही निवास सम्बन्धी क्षेत्र ही होता है। रोगग्रस्त क्षेत्र सदा पतन की अवस्था में होते हैं जबकि गन्दी बस्तियों में यह प्रक्रिया नहीं पायी जाती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी गन्दी बस्तियाँ

1 F. Queen and Thomas, *The City*, Chap. 17.

बनावट के आधार पर भी भारत में तीन प्रकार की गन्दी बस्तियाँ पायी जाती हैं—(i) घास फूस से बनी झोंपड़ियाँ। (ii) टीन से बनी कोठरियाँ। (iii) मिट्टी एवं गोबर से बने घर तथा कपड़े के बने टैण्ट आदि। ये तीनों प्रकार की बस्तियाँ अधिकांशत: नगर के सीमावर्ती क्षेत्रों में पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त चूने एवं पत्थर से बनी हुई गन्दी बस्तियाँ भी हैं जिन्हें अहाते, चाल या बस्तियाँ कहते हैं।

गन्दी बस्तियों के विकास के कारण

अनेक परिस्थितियाँ मिलकर गन्दी बस्तियों को जन्म देती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं

(1) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण—औद्योगिक केन्द्रों एवं शहरों में गाँवों से प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में लोग व्यवसाय की खोज में आते हैं और बेकार तथा गरीब होने के कारण स्वास्थ्यप्रद मकानों में नहीं रह पाते, किराया अधिक होने से भी ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में ये लोग सड़क के किनारे, रेल के पुलों के पास, गन्दे नालों और रिक्त सार्वजनिक स्थानों पर अपनी झुग्गी-झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगते हैं।

(2) जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी लोगों को पर्याप्त मकान नहीं मिल पाते और एक ही कमरे में कई व्यक्ति साथ-साथ रहने लगते हैं।

(3) गाँवों का पतन होने पर—अकाल पड़ने, फसल नष्ट होने एवं कुटीर व्यवसाय समाप्त होने पर भी ग्रामीण लोग शहरों में आकर बस जाते हैं।

(4) प्राकृतिक विपदायें—बाढ़ भूकम्प, भूचाल, अकाल, संक्रामक रोग एवं महामारी तथा कीड़ों एवं टिड्डी दल के कारण फसल नष्ट होने पर ग्रामीण कृषक अपना मूल निवास-स्थान छोड़कर शहरों एवं सुरक्षित स्थानों पर चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में ये स्थान भी भीड़-भाड़युक्त गन्दी बस्तियों के रूप में विकसित हो जाते हैं।

(5) नगरीय सुविधायें—कई लोग नगरों में उपलब्ध पानी, बिजली, मनोरंजन, शिक्षा, सामाजिक आर्थिक सुरक्षा, चिकित्सा की सुविधा एवं शहरी तड़क-भड़क से आकर्षित होकर भी नगरों में निवास के लिए चले आते हैं।

(6) व्यापार करने एवं सामान की बिक्री करने तथा छोटा-मोटा व्यवसाय चलाने की गरज से भी लोग शहरों में चले आते हैं।

(7) निवास के प्रति निम्न दृष्टिकोण—कई लोग गन्दी बस्तियों में रहना ही पसन्द करते हैं। वे शहरों में आकर भी ऐसी बस्तियों में रहने लगते हैं और वहीं उनका सामंजस्य हो जाता है।

(8) निम्न वर्ग एवं श्रमिकों की अशिक्षा के कारण भी गन्दी बस्तियों का विकास होता है। इन लोगों की मनोवृत्ति ही ऐसी होती है कि वे भीड़-भाड़ में रहना पसन्द करते हैं।

(9) *सामाजिक पृथकता*—भारत में जातियों के आधार पर मुहल्ले, गलियाँ और बस्तियाँ पायी जाती हैं। एक व्यक्ति अपनी जाति के लोगों के साथ रहना ही अधिक पसन्द करता है। अत जहाँ पहले आने वाले लोग भी रह रहे होते हैं, गाँव से आने वाले लोग भी उनके साथ ही गन्दी बस्तियों में रहने लगते हैं।

(10) एक ही प्रान्त, भाषा, धर्म एवं सम्प्रदाय से सम्बन्धित लोग भी एक स्थान पर निवास करना पसन्द करते हैं जिससे एक स्थान पर जनसंख्या का केन्द्रीयकरण होता जाता है, भीड़ भाड़ बढ़ती जाती है और वे स्थान गन्दी बस्तियाँ बन जाते हैं।

(11) वर्तमान में लोगों में गतिशीलता एवं देशान्तरण-गमन बढ़ा है। निवास के अभाव में शहरों में बाहर से आने वाले लोगों का एक स्थान पर जमघट लग जाता है और वहाँ गन्दगी पनपने लगती है।

(12) गरीबी—कमजोर आर्थिक स्थिति के कारण लोग सुविधाजनक और स्वास्थ्यप्रद मकानों का न तो निर्माण कर सकते हैं और न किराये पर लेकर ही रह सकते हैं। अत मजबूरन उन्हें गन्दी बस्तियों में रहना होता है।

गन्दी बस्तियों से सम्बन्धित समस्याएँ

गन्दी बस्तियाँ अनेक समस्याओं से युक्त होती हैं। यहाँ की दशा अस्वास्थ्यकर होती है। इनमें पानी बिजली हवा एवं रोशनी का अभाव होता है। मकानों का अभाव तथा मकान भीड़-भाड़ युक्त गन्दे छोटे छोटे सीलन युक्त तथा मच्छर, खटमल, जूँ चूहों एवं बीमारी के कीटाणुओं से भरपूर होते हैं। ये स्थान रोगों के घर होते हैं जहाँ अनेक संक्रामक रोग, हैजा, मलेरिया, प्लेग, पेट दर्द, गैस बनने की बीमारी, त्वचा, आँख और गले आदि से सम्बन्धित अनेक रोग पनपते हैं। इन स्थानों पर गन्दगी और कूड़ा करकट का ढेर लगा होता है। पार्क, बगीचों, सिनेमा घरों, मनोरंजन के साधनों, खेल के मैदान एवं बच्चों के लिए खेलकूद की सुविधाओं का अभाव होता है। यहाँ मानसिक रोग, यौन रोग और मृत्यु दर तथा जन्म दर की अधिकता पायी जाती है। भिक्षुक, जुआरियों, वेश्याओं और वेश्यागमन करने वालों, पागलियों दीर्घकालिक रोगियों, बेकार व गृहविहीन लोगों का अधिकांश इन्हीं बस्तियों में निवास होता है। अपराधी अपराधी और बाल-अपराधी भी इन बस्तियों में निवास करते हैं। ऐसे स्थान अपराधियों और आवारा बच्चों के जन्म-स्थल होते हैं। ये पापों के अड्डे हैं।

इन बस्तियों ने नगर प्रशासन, पुलिस प्रशासन और कानून को लागू करने में सम्बन्धित समस्याएँ उत्पन्न की हैं। इन सभी में सफाई, पुलिस सुरक्षा, चिकित्सा, शिक्षा, मनोरंजन आदि की समस्याएँ खड़ी कर दी हैं।

समस्या का निराकरण

गन्दी बस्तियों की दयनीय दशा को सुधार कर ही हम इस बात के लिए आश्वस्त हो सकते हैं कि गन्दी बस्तियों के न रहने पर अपराध कम एवं होंगे, मान-

मिक एवं शारीरिक रोग कम हो जावेंगे और परिणामतः धन का अपव्यय कम हो जायेगा, मानव संकट कम होंगे, बाल गिरोह, प्रौढ़ गिरोह आदि मे भी कमी आयेगी। गन्दी बस्तियों के लिए नगर विकास और कल्याण की आधुनिकतम योजनाएँ लगभग सभी बड़े-बड़े शहरों मे प्रारम्भ की गई हैं। नगरो में स्वच्छ पेय जल, बिजली, नालियो स्वास्थ्यप्रद मकानों, यातायात, सड़कों, खेलकूद के मैदान, पार्क और बगीचो, शौचालय एव पेशाबघरों, मनोरंजन के स्थानों, सिनेमा घरो, आदि की उचित व्यवस्था की जाने लगी है।

नगरों की अनेक समस्याएँ जैसे भौतिक दुर्दशा, भीड़-भाड़युक्त निवास, बेकारी, गरीबी, अपराध, मद्यपान, वेश्यालय, जुआखोरी, मनोरंजन का अभाव तथा चिकित्सा आदि की कमियो से निपटने का प्रयत्न किया जा रहा है। शहरो मे आवासन बोर्ड बने हैं जो योजनाबद्ध बस्तियो का निर्माण करते हैं। इसके अतिरिक्त सामुदायिक जीवन का विकास, पड़ौसी समुदायों मे सामाजिक एकता, नागरिक गौरव का विकास और आर्थिक श्रेष्ठताओं को प्राप्त करने के प्रयास किये गये हैं।

गन्दी बस्तियां शहर के बुरे भाग हैं जिनकी ओर सरकार तथा सार्वजनिक सस्थाओ एव जनता का शीघ्र ध्यान जाना आवश्यक है। गन्दी बस्तियों की समस्याओ को हल करने के लिए लोगों को भवन बनाने के लिए कम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण दिया जाय। निवास के लिए सुरक्षित एव पर्याप्त भूमि की व्यवस्था की जाय, जन-घनत्व को कम करने के लिए लघु उद्योगो की गाँवो मे स्थापना की जाय जिससे गाँवो से शहरों की ओर आने वाले लोगों की सख्या कम होगी। राज्य सरकारों एवं केन्द्रीय सरकारों द्वारा नई बस्तियों एव कॉलोनियो का निर्माण किया जाय। प्रशासन मनोरंजन, शिक्षा, चिकित्सा, पुलिस एव कानून आदि की इन क्षेत्रों मे उचित व्यवस्था की जाय।

साम्प्रदायिक एवं भाषायी तनाव व संघर्ष
(COMMUNAL AND LINGUISTIC TENSIONS AND CONFLICTS)

साम्प्रदायिकता के आधार पर भी भारत मे समय-समय पर तनाव और संघर्ष होते रहे हैं। साम्प्रदायिक तनावो का बीज अंग्रेजों ने बोया था। उनकी कूटनीति सफल हुई और वे हिन्दुओं तथा मुसलमानो को लड़ाते रहे और अपना शासन चलाते रहे। साम्प्रदायिकता की समस्या का उल्लेख हम राष्ट्रीय एकीकरण तथा सामाजिक विभेदीकरण के अध्यायो मे कर चुके हैं।

भाषा को लेकर भी अनेक बार विभिन्न प्रान्तों मे दंगे, आगजनी, मारपीट, हत्या, पथराव और तोड़-फोड़ की घटनाएँ हुई हैं। विविध प्रश्नो को लेकर भाषा की समस्या खड़ी हुई है जैसे राष्ट्रीय भाषा या विविध प्रान्तो की सम्पर्क भाषा क्या हो, शिक्षा का माध्यम क्या हो। क्षेत्रीय भाषाओं को संविधान मे स्थान दिलाने एव भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के प्रश्नो को लेकर अनेक राज्यों मे संघर्ष एव तनाव उत्पन्न हुए हैं। दक्षिण के राज्य हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप मे

थोपे जाने के पक्ष में नहीं थे, तो उत्तर के राज्य अंग्रेजी को हटाने एवं हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के पक्ष में थे। शिक्षा की भाषा एवं केन्द्रीय सरकार की प्रतियोगी परीक्षाओं का माध्यम अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी को बनाये रखने के लिए विवाद हुए। विभिन्न प्रान्तों ने अपनी मातृ-भाषा में ही शिक्षा देने पर जोर दिया। उत्तर प्रदेश में उर्दू को राज्य स्तर की भाषा का दर्जा दिलाने के लिए आन्दोलन हुआ। पंजाब पुराना बम्बई राज्य, बंगाल, आन्ध्र और असम में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग ने बल पकड़ा। कई राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन हुआ जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, नागालैण्ड, असम आदि का। अल्पसंख्यकों की भाषा को सुरक्षा प्रदान करने की भी माँग की गई। आज भी भाषा की समस्या पूरी तरह हल नहीं हो पायी है। भाषा की समस्या का उल्लेख हम राष्ट्रीय एकीकरण वाले अध्याय में कर चुके हैं।

भ्रष्टाचार
(CORRUPTION)

वर्तमान समय में भ्रष्टाचार की समस्या सभी देशों में पाई जाती है और इसका कोई न कोई रूप सर्वत्र देखने को मिलता है। प्राचीन समय में छोटे-छोटे राज्य होने और आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध तथा पारस्परिक परिचय के कारण भ्रष्टाचार की गम्भीर समस्या नहीं थी। उस समय अधिकारियों का अधिकार क्षेत्र भी सीमित था। अतः उनके भ्रष्ट होने के अवसर कम थे। लघु समाजों एवं प्राचीन समाजों में राजनैतिक पद उच्च वर्गों एवं उच्च जातियों के लोगों के पास ही थे। अतः उस समय भ्रष्टाचार कुछ सीमित लोगों तक ही व्याप्त था। चाणक्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचारों का उल्लेख किया है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना और विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारत में भ्रष्टाचार का बोलबाला विशेष रूप से हुआ है।

भ्रष्टाचार में व्यक्ति सामाजिक नियमों का चेतन रूप में उल्लंघन करता है तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों के हितों की अवहेलना करता है। भ्रष्टाचार में एक व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है, मिलावट, रिश्वत, निर्माण के कार्यों में घटिया स्तर की वस्तुओं का उपयोग, पक्षपात आदि का प्रयोग करता है। आजादी के बाद भारत में भ्रष्टाचार की मात्रा बढ़ी है और विधायक, मन्त्री, डाक्टर, इन्जीनियर, प्रशासक एवं राजनीतिज्ञों द्वारा भ्रष्टाचार के अनेक मामले प्रकाश में आये हैं। इसके निवारण के लिए कई विभागों और समितियों की स्थापना की जाती रही है किन्तु भ्रष्टाचार उन्मूलन के स्थान पर इसमें बढ़ोतरी ही हुई है।

भ्रष्टाचार की अवधारणा (Concept of Corruption)

भ्रष्टाचार के अनेक प्रकार होने के कारण इसकी परिभाषा करना कठिन प्रतीत होता है। भ्रष्टाचार की परिभाषायें इस प्रकार हैं. (1) भ्रष्टाचार विरोध

समिति, 1964 के अनुसार 'शब्द के व्यापक अर्थ में एक सार्वजनिक पद (office) अथवा जन-जीवन में उपलब्ध एक विशेष स्थिति (position) के साथ सलग्न शक्ति तथा प्रभाव का अनुचित या स्वार्थपूर्ण प्रयोग ही भ्रष्टाचार है।"[1] रॉबर्ट सी० ब्रुक्स के अनुसार, "कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए जान-बूझकर प्रदत्त कर्त्तव्य का पालन न करना राजनैतिक भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार सदैव कभी किसी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट लाभ के लिए कानून एवं समाज के विरोध में किया जाने वाला कार्य है।[2]

भ्रष्टाचार में किसी न किसी तरह व्यक्ति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। भ्रष्टाचार में हम निम्नांकित तत्वों को सम्मिलित कर सकते हैं.

(1) स्वार्थ पूर्ति के लिए लघु मार्ग (Short cut) अपनाया जाता है।

(2) नकद या वस्तु के रूप में घूँस दी जाती है।

(3) अयोग्य के प्रति पक्षपात और योग्य के प्रति अन्याय होता है। इससे अन्ततः समाज को हानि होती है।

(4) यह लेन-देन के सिद्धान्त पर आधारित है।

(5) भ्रष्टाचार में पैसा उद्देश्य भी है और साधन भी।[3]

(6) भ्रष्टाचार में कानून या नियमों की अवहेलना की जाती है। कभी-कभी कानून के विपरीत न होने पर भी न्याय एवं नैतिकता के विरुद्ध आचरण भ्रष्टाचार कहलाता है।

भ्रष्टाचार के कारण (Causes of Corruption)

भ्रष्टाचार के प्रमुख कारण इस प्रकार से हैं :

(1) राजनैतिक संस्थाओं का विशाल क्षेत्र होने के कारण सभी व्यक्ति इन संस्थाओं के कार्यों का लाभ नहीं उठा पाते। प्राचीन समय में स्थानीय और लघु समुदायों में राजनैतिक लाभ प्राप्त करना सरल था किन्तु वर्तमान में इन लाभों के सभी व्यक्ति हिस्सेदार नहीं बन सकते। अतः उन्हें प्राप्त करने के लिए भ्रष्टाचार की विधियों का प्रयोग किया जाता है।

(2) बड़े-बड़े व्यापारियों और राजनीतिज्ञों के गठबन्धन द्वारा व्यापारी लोग राजनीतिज्ञों की चुनाव के समय आर्थिक सहायता करते हैं तथा बदले में उनसे अनेक लाभ चाहते हैं। ऐसे लोग चाहते हैं कि वे कम टैक्स चुकायें, टैक्स की चोरी करें, वस्तुओं में मिलावट करें और वस्तुओं का संग्रह करें, अधिक मुनाफे कमायें और इन सारे कार्यों के लिए राजनेता उन्हें संरक्षण प्रदान करें। भ्रष्टाचार के स्थान पर अँग्रेजी

---

1 *Report of the Committee on Prevention of Corruption* (1964). Govt. of India, Ministry of Home Affairs, p. 5

2 R. C. Brooks, *Corruption in American Politics and Life* (1910). Also see, Elliott and Merrill, *Social Disorganization*, p. 525.

3 Brij Mohan, *India's Social Problems*, p. 83.

में 'ग्राफ्ट' (Graft) शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसके अनुसार ग्राफ्ट राज्य के साधनों एवं शक्ति पर अपने नियन्त्रण का व्यक्तिगत या दल के हित के लिए उपयोग करता है। ग्राफ्ट में शक्ति का दुरुपयोग होता है, कानून प्रथाओं एवं नैतिकता का उल्लंघन होता है। सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए व्यापारियों द्वारा राजनेताओं को आर्थिक या चुनाव सम्बन्धी सहायता प्रदान करना ग्राफ्ट ही है।

(3) प्रजातन्त्र में दलीय-प्रणाली महत्त्वपूर्ण है। दल को समर्थन देने वाले व्यक्ति अपने हितों के अनुरूप शासक दल से कार्य करवाते हैं।

(4) सरकार का विशाल कार्य क्षेत्र होने के कारण सरकार के कार्यों के लिए कोई एक ही व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है। अतः हर व्यक्ति इस स्थिति का लाभ उठाकर धन कमाना चाहता है।

(5) मूल्यों में परिवर्तन—वर्तमान समय में सामाजिक मूल्य बदले हैं। व्यक्तिवाद और भौतिक लाभ को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। व्यक्ति का मूल्यांकन धन के आधार पर होने लगा है। अतः व्यक्ति सभी प्रकार के उचित साधनों का प्रयोग कर सम्पत्तिशाली बनना चाहता है।

(6) मुद्रा व्यवस्था के प्रचलन के कारण धन संग्रह करना और उसे छुपाकर रखना सरल है।

(7) भ्रष्टाचार निवारण के लिए उचित कदम न उठाये जाने के कारण भी इसे बढ़ावा मिला है।

(8) सभी लोगों को विकास के समान अवसरों के न मिलने से भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है।

(9) गरीबी भी व्यक्ति को भ्रष्ट आचरण के लिए प्रोत्साहित करती है।

(10) चरित्र एवं नैतिकता का दिनोंदिन होने वाला पतन भी भ्रष्टाचार के लिए उत्तरदायी है।

(11) प्रशासनीय कठिनाइयों एवं बारीकियों से हर व्यक्ति परिचित नहीं है। अतः उनसे मुक्ति पाने के लिए वह रिश्वत के रूप में पैसा देता है।

(12) लोगों में संग्रह वृत्ति की भावना बढ़ी है।

(13) शिक्षा का अभाव।

(14) बेरोजगारी एव निर्धनता।

गुन्नार मिर्डल ने भ्रष्टाचार के कुल कारण इस प्रकार से बताये हैं :

(1) व्यक्ति द्वारा सामुदायिक हितों के स्थान पर परिवार, नातेदारी व जाति को अधिक महत्व देना। इसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजेवाद का जन्म हुआ है।

(2) कई देश उपनिवेशवाद से मुक्त हुये हैं और उन्हें स्वराज्य मिल गया है। ऐसे देशों में धन प्राप्त करने एवं सम्पन्न बनने तथा राजनैतिक सत्ता हथियाने की प्रतिस्पर्धा के कारण भ्रष्टाचार पनपा है।

(3) प्रशासकों को प्राप्त स्वविवेक के आधार पर निर्णय देने के अधिकारों का दुरुपयोग।

(4) कम वेतन होने पर भरण-पोषण व अन्य सुविधायें जुटाने के लिए कई कर्मचारीगण भ्रष्ट तरीकों से पैसा बटोरते हैं।

(5) भ्रष्टाचार का कुचक्र भी भ्रष्टाचार को जन्म देता है। छोटा अधिकारी बड़े को और बड़ा अधिकारी अपने से ऊँचे अधिकारी को घूंस देकर काम निकालता है।

भ्रष्टाचार के प्रकार (Types of Corruption)

(1) राजनैतिक भ्रष्टाचार—राजनैतिक दलों एवं नेताओं द्वारा सत्ता प्राप्त करने, वोट प्राप्त करने एवं पदों पर बने रहने के लिए भ्रष्ट तरीकों का सहारा लिया जाता है। चुनाव के लिए ये उद्योगपतियों एवं व्यापारियों से चन्दा लेते हैं और बदले में उन्हें परमिट, राजनैतिक संरक्षण, संग्रह करने एवं मूल्य वृद्धि की छूट देते हैं। सरकारी कर्मचारियों के चयन, स्थानान्तरण, बरखास्त करने तथा प्रतियोगी परीक्षाओं में सफल होने के लिए राजनेताओं का सहारा लिया जाता है। विभिन्न प्रकार के ठेके प्राप्त करने एवं सरकारी विभागों में अपने माल को ही खरीदने के लिए राजनेताओं को पैसा दिया जाता है।

सरकारी अधिकारी भी परमिट देने, ठेके देने, पदों पर चयन करने एवं स्थानान्तरण करने के लिए भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। पुलिस विभाग में भी भ्रष्टाचार का बोलबाला है। पुलिस को पैसा देकर अपराधी कई बार कानून की गिरफ्तारी से से बच जाता है। कई बार ईमानदार पुलिस अधिकारियों को भ्रष्ट लोग कई तरह से परेशान करते हैं।

(2) व्यापार में भ्रष्टाचार—इसके अन्तर्गत हम अनेक भ्रष्ट तरीके देख सकते हैं, जैसे मिलावट करना, अनुचित लाभ कमाना, वस्तुओं का संग्रह करना, मूल्य वृद्धि, चोरी-छिपे माल बेचना, बाजार में कृत्रिम कमी पैदा करना तथा कालाबाजारी करना, माप चुराना, टैक्स की चोरी करना, झूठी एवं फर्जी फर्मों के नाम परमिट प्राप्त करना आदि। ये सारे कार्य व्यापारी लोग राजनीतिज्ञों एवं प्रशासकीय अधिकारियों के सहयोग से ही कर पाते हैं।

(3) श्वेत वस्त्र अपराध—इस श्रेणी में उच्च वर्ग के व्यक्ति जैसे उद्योगपति, वकील, न्यायाधीश, प्रशासक, डाक्टर, इन्जीनियर, प्राध्यापक आदि आते हैं जो अपने व्यवसाय के दौरान भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं।

(4) संगठित अपराध—कई लोग भ्रष्टाचार के लिए एक संगठन का निर्माण करते हैं और योजनाबद्ध रूप से धन कमाने के लिए कानून की अवहेलना करते हैं।

(5) शैक्षणिक भ्रष्टाचार—परीक्षा मे नकल करवाना, पेपर आउट कराना, अंक बढाना ट्यूशन के लिए छात्रो को मजबूर करना, कम वेतन देकर अधिक पर हस्ताक्षर करवाना आदि शैक्षणिक भ्रष्टाचार के उदाहरण हैं।

भ्रष्टाचारी क्रियाएं (Corrupt Practices)

भ्रष्टाचारी क्रियाओ म हम निम्नाकित तत्वो को सम्मिलित कर सकते हैं,

(1) रिश्वत लेना—रिश्वत भी अनेक रूपों मे दी जाती है। यह नकद धन या वस्तुओ के रूप म दी जा सकती है यह चपरासी व बाबुओ को चाय पानी के खर्चे के नाम से दी जाती है तो बडे अधिकारियों को बडी रकम वस्तुओं के रूप में।

(2) करो मे चोरी करके काला धन कमाया जाता है। प्रत्यक्ष कर जाँच समिति की रिपोर्ट के अनुसार सन 1971 मे देश मे 3,000 से 3,500 करोड रुपये का काला धन प्रचलन म था।[1]

(3) मिलावट—दूध, दवाइयो, सीमेण्ट, मसालो, खाद्य-पदार्थों आदि मे मिलावट की जाती है। आज किसी भी वस्तु को शुद्ध रूप मे प्राप्त करना एक कठिन समस्या है।

(4) लालफीताशाही के कारण कार्य की धीमी गति।

(5) पक्षपात एव सिफारिश का प्रचलन।

(6) अपने निर्धारित कर्त्तव्यो का पालन न करना।

(7) पद या अधिकार का दुरुपयोग करना।

(8) कानून की अवहेलना करना आदि।

भ्रष्टाचार के परिणाम (Consequences of Corruption)

भ्रष्टाचार भी त्याग की तरह ऊपर से ही प्रारम्भ होता है और नीचे की तरफ प्रसारित होकर सम्पूर्ण समाज को अपने रग मे रंग लेता है।[2]

भ्रष्टाचार क निम्नाकित परिणाम होते है—

(1) वृहत वफादारी के स्थान पर स्थानीय वफादारी बढती है और देश एवं सामुदायिक हितों के स्थान पर व्यक्तिगत एवं स्थानीय हितो को महत्त्व दिया जाता है। परिणामस्वरूप राजनैतिक स्थिरता और एकता खतरे मे पड जाती है।

(2) मिर्डल का मत है कि भ्रष्टाचार के कारण लालफीताशाही व उत्तरदायित्व से भागने की प्रवृत्ति बढ़ती है और लोग अक्षम हो जाते हैं तथा विकास का कार्य रुक जाता है।

(3) नियमहीनता और कानूनो की अवहेलना मे वृद्धि होती है।

(4) कीमतें बढ़ती हैं।

---

1 *National Herald*, Lucknow, April 7, 1971

2 'Corruption like sacrifice starts at the top and percolating down, colours the whole society."
—Ronald Segal, *The Crisis India*, pp. 277-310

(5) लोगों में निराशा, तनाव एव संघर्ष पैदा होता है।

(6) राष्ट्रीय चरित्र एवं नैतिकता का पतन होता है।

भ्रष्टाचार को रोकने के उपाय (Measures for Controlling Corruption)

भ्रष्टाचार के कारण सामाजिक मूल्यों की अवहेलना होती है। समाज मे बेईमान, चोर एवं घूँसखोर लोग आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं। नेक तथा ईमानदार लोगों को कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इसे दूर करने के लिए बडे बडे संकल्प किये गये, अनेक समितियो और आयोगो का गठन किया गया, फिर भी इससे अभी तक मुक्ति नहीं मिली है। भ्रष्टाचार निवारण के लिए निम्नांकित उपाय अपनाये जाने चाहिए :

(1) व्यावसायिक वर्गों मे सुरक्षा तथा सरकारी नीतियों मे स्थिरता उत्पन्न की जाय।

(2) राजनैतिक कार्यकर्ताओं, अधिकारियो तथा व्यापारियो मे ईमानदारी की भावना पैदा की जाय।

(3) लोगों मे नैनिक गुणो, चरित्र और व्यावहारिक आदर्शों को उत्पन्न किया जाय।

(4) कठोर कानूनी व्यवस्था उत्पन्न की जाय तथा भ्रष्टाचार निवारण के लिए भ्रष्टाचार निवारण विभाग की स्थापना की जाय एव केन्द्रीय इन्टेलीजेन्स ब्यूरो द्वारा भ्रष्ट अधिकारियों की जाँच करने की व्यवस्था हो। पुलिस तथा सतर्कता विभाग ईमानदारी से काम करें।

(5) बेरोजगारी समाप्त की जाय।

(6) निर्धनता को दूर किया जाय।

(7) आय कर का मूल्यांकन सार्वजनिक रूप से हो।

(8) अधिकारियो के स्वविवेकी अधिकारो को कम किया जाय।

(9) मन्त्रियों एव विधायको के विरुद्ध भ्रष्टाचार की शिकायतें सुनने के लिए आयोग का गठन किया जाय।

(10) जनसाधारण मे जागरण पैदा किया जाय।

(11) सामाजिक मूल्यो मे परिवर्तन करके धन के स्थान पर व्यक्ति के गुणों को महत्व दिया जाय।

(12) भ्रष्ट लोगो की सार्वजनिक रूप से निन्दा की जाय।

(13) शिकायत करने वालों को सुरक्षा प्रदान की जाय।

(14) राजनीतिक दलों को चन्दा देने पर नियन्त्रण लगाया जाय।

भारत सरकार ने भ्रष्टाचार निवारण के लिए समय-समय पर कई प्रयास किये हैं। सन् 1947 मे भ्रष्टाचार निवारण कानून पारित किया गया। गृह मंत्रा-

लय ने सन् 1955 में प्रशासन सतर्कता विभाग (Administrative Vigilance Division) की स्थापना की। सन् 1964 में भ्रष्टाचार निवारण समिति ने अपनी रिपोर्ट में भ्रष्टाचार निवारण के लिए कई सुझाव दिये जिनमें से प्रमुख ये हैं : (i) सतर्कता विभाग की स्थापना की जाय। (ii) मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार की शिकायतों की सुनवाई राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक सदस्यीय समिति के द्वारा हो। यह समिति आवश्यकता होने पर केन्द्रीय जाँच ब्यूरो की सहायता भी ले सकती है। (iii) विधान सभा एवं लोकसभा के सदस्यों के लिए आचरण संहिता तैयार की जाय। न्यायपालिका के क्षेत्र में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के पथ-प्रदर्शन में सभी उच्च न्यायालयों में सतर्कता आयोगों का गठन किया जाय।

जन-जातियों की समस्याएँ
(TRIBAL PROBLEMS)

भारत एक विशाल भूखण्ड है जिसमें विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं एवं जनजातियों से सम्बन्धित लोग निवास करते हैं। सन् 1971 की जन-गणना के अनुसार भारत में 3 करोड़ जनसंख्या आदिम जातियों या जनजातियों की है जोकि सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग 7% है। भारत में 212 जनजातीय समूह हैं। सभी जनजातियों की यह सामान्य विशेषता है कि वे ऐसे क्षेत्रों में निवास करती हैं जहाँ आधुनिक सभ्यता का प्रकाश साधारणतः नहीं पहुँच पाया है और इन लोगों का जीवन संघर्षमय है। जनजाति की परिभाषा करते हुए गिलिन एवं गिलिन लिखते हैं, स्थानीय पूर्व-लिखित (Pre-literate) समूहों के किसी भी संग्रह को जो एक सामान्य क्षेत्र में रह रहा हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का प्रयोग में लाता हो, एक जन-जाति कहते हैं।[1] डॉ० मजूमदार के अनुसार, "एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य सामान्य भू-भाग पर रहते हैं एवं सामान्य भाषा बोलते हैं, जो विवाह व्यवसाय या पेशे के सम्बन्ध में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और जिन्होंने एक निश्चित और मूल्यांकित परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास किया है।[2] उपरोक्त दोनों ही परिभाषाएँ जनजाति की विशेषताओं को प्रकट करती है।

वर्तमान में भारतीय जनजातियों को अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। हम उनकी समस्याओं का यहाँ उल्लेख करेंगे। सम्पूर्ण जनजातीय समाज भारत में संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। एक तरफ जन-जातियाँ आधुनिकता के सम्पर्क में आई हैं जिसमें उनकी परम्परात्मक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना और आर्थिक जीवन में कई परिवर्तन हुए

1 Gillin and Gillin, *Cultural Sociology* p 292
2 Majumdar, *Races and Culture of India*, p. 355.

है तो दूसरी तरफ अब भी वे कई परम्परात्मक व्यवस्थाओं को अपनाए हुए हैं। इस दुविधा की स्थिति ने भी उनके सामने कई समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। कुछ जन-जातियों की जनसंख्या घट रही है तो कुछ की संस्कृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। जनजातीय समाजों की प्रमुख समस्याएँ इस प्रकार से हैं :

(1) दुर्गम निवास—लगभग सभी जन-जातियाँ जंगलों, पहाडों, दलदली स्थानों और ऐसे क्षेत्रों में निवास करती हैं जहाँ सड़क, बस, रेल, वायु मार्ग आदि यातायात की सुविधाओं का अभाव है। दुर्गम निवास के कारण वे आधुनिकता के सम्पर्क में नहीं आ पायी हैं और वैज्ञानिक एवं नवीन आविष्कारों से अनभिज्ञ रही हैं। नवीन आविष्कारों एवं साधनों का प्रयोग उनकी समस्याओं को हल करने में नहीं किया जा सका है।

(2) सांस्कृतिक समस्या—दुर्गम निवास के कारण ही जनजातीय संस्कृति का आधुनिक संस्कृति से सम्पर्क नहीं हो पाया है। अत: वे पिछड़ गई हैं। किन्तु जन-जातियाँ ऐसी हैं जिनका हिन्दू और ईसाई संस्कृति से अत्यधिक सम्पर्क हुआ है, परिणामस्वरूप उनकी मूल संस्कृति ही समाप्त होने लगी है। उनकी अपनी कला, संगीत, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, युवागृहों, भाषा आदि का ह्रास हुआ है।

(3) आर्थिक समस्या—जनजातियों की आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय है। जनजातीय क्षेत्रों में कृषि योग्य भूमि का अभाव है तथा कृषि उपज का अधिकांश भाग जमींदारों के हाथों में चला जाता है। साहूकारों ने इनका खूब शोषण किया है। ठेकेदारों ने भी इनसे कठोर श्रम लिया है और बदले में उचित मजदूरी नहीं दी है। ईसाई मिशनरियों ने इनकी गरीबी का लाभ उठाकर अपनी संस्कृति और धर्म को उन पर थोपा है। इन लोगों का कृषि का तरीका परम्परात्मक है जिसकी वजह से उत्पादन कम होता है। कई जनजातियाँ स्थानान्तरित खेती करती हैं जिसके लिए वे जंगल जला डालती हैं। परिणामस्वरूप बहुमूल्य लकड़ियाँ जल जाती हैं और भूमि का कटाव बढ़ता है तथा कृषि योग्य भूमि कम होती जाती है। ये सभी कारक उन लोगों में सामान्य गरीबी को उत्पन्न करते हैं।

(4) सामाजिक समस्याएँ—आधुनिकता के सम्पर्क के परिणामस्वरूप जन-जातियों में कई नवीन सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। हिन्दुओं के सम्पर्क में आने से उनमें बाल-विवाह तथा कन्या मूल्य का प्रचलन हुआ है। वर्तमान में आदि-वासियों के युवागृहों को हीन दृष्टि से देखा जाता है। ये युवागृह कभी आदिवासियों के मनोरंजन, सामाजिक प्रशिक्षण, शिक्षा तथा आर्थिक हितों की पूर्ति के केन्द्र थे। रूढ़िवादिता, धार्मिक अन्ध-विश्वास, वेश्यावृत्ति और पूर्व-विवाह यौन सम्बन्ध की समस्याएँ भी जनजातियों में व्याप्त हैं।

(2) स्वास्थ्य की समस्याएँ—गरीबी के कारण ये लोग गन्दे और गीले कपड़े पहने रहते हैं जिससे उन्हें अनेक प्रकार के चर्म रोग हो जाते हैं। मलेरिया, निमो-

निया रोहे, चेचक, अपच एव गुप्तांगो की बीमारियाँ आदि भी इन लोगों में पायी जाती हैं। चिकित्सा के लिए इन लोगों के पास न तो डाक्टरों की और न ही आधुनिक साधनों की सुविधा है। पौष्टिक और संतुलित आहार का अभाव होने से तथा शराब के प्रयोग के कारण इनका स्वास्थ्य निम्न स्तर का है। चिकित्सा के लिए जगली जड़ी-बूटियों, फूंक और जादू-टोने का प्रयोग किया जाता है जिनकी सफलता संदेहास्पद है।

(6) शिक्षा की समस्याएँ—सन् 1968 में केवल 9% जनजातीय जनसंख्या साक्षर थी। अशिक्षा के कारण ही जनजातीय लोग अनेक अन्ध-विश्वासों एवं कुरीतियों के शिकार हुए हैं। साथ ही अज्ञानता के कारण उनका शोषण भी हुआ है।

(7) राजनीतिक चेतना की समस्या—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली अपनायी गई जिसके अन्तर्गत देश के सभी नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया गया। इस अधिकार का प्रयोग जनजातीय लोग अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु करने लगे हैं। अब वे राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। इस राजनीतिक जागृति के कारण कभी-कभी तनाव की स्थिति भी पैदा हो जाती है।

(8) सबसे कमजोर कड़ी का पता लगाना—अनुसूचित जाति एव जनजाति आयुक्त ने अपने 1967-68 के प्रतिवेदन में जनजातियों की एक समस्या सब से कमजोर कड़ी का पता लगाना बताया है, अर्थात् उन जनजातियों का पता लगाना है जो सबसे गरीब एवं उपेक्षित हैं जिससे कि उनके विकास के लिए उचित कदम उठाये जा सकें।

(9) एकीकरण की समस्या—भारतीय जनजातियों की संस्कृति, अर्थ-व्यवस्था, धर्म एव समाज में भिन्नता पायी जाती है। जनजातियों की समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि जनजातियाँ अपने को देश के अन्य लोगों से पृथक् नहीं समझें और अपने को देश की मुख्य जीवन-धारा से जोड़ लें। इस प्रकार जनजातियों का एकीकरण करना भी एक बहुत बड़ी समस्या है।

(10) सीमाप्रान्त जनजातियों की समस्याएँ—भारत के उत्तरी-पूर्वी सीमा प्रान्तों में निवास करने वाली जनजातियों की देश के अन्य भागों में बसने वाली जनजातियों से भिन्न समस्याएँ हैं। इन जनजातियों में से नागा, मिजिर आदि ने स्वायत्त शासन की माँग की है और वे भारत राष्ट्र से अलग पृथक् राज्य बनाना चाहते हैं। इस उद्देश्य को लेकर उन्होंने कई बार सशस्त्र संघर्ष भी किये हैं और आज भी यह समस्या बनी हुई है।

अतः स्पष्ट है कि भारतीय जनजातियाँ अनेक धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं से पीड़ित हैं। राजनैतिक और मानवीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इनकी समस्याओं का समाधान किया जाय।

जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु किये गये प्रयत्न

जनजातीय समस्याओं को हल करने के लिए अनेक समाज-सेवी संस्थाओं, धार्मिक आन्दोलनों, मानवशास्त्रियों तथा सरकार द्वारा प्रयास किये गये हैं। अंग्रेजों के समय में यह नीति अपनाई गई थी कि जनजातियों को शेष लोगों से पृथक रखा जाय और इनकी संस्कृति को स्वतन्त्र रूप से फलने-फूलने दिया जाय। हट्टन तथा मजुमदार आदि मानवशास्त्रियों का मत है कि जनजातियों की सामाजिक सांस्कृतिक धरोहर की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए उनका पृथक् अस्तित्व बनाये रखा जाय। आधुनिकता के सम्पर्क के कारण जनजातियों पर कई दुष्प्रभाव पड़े हैं। इन दुष्प्रभावों से बचने के लिए ऐसे क्षेत्र विकसित किये जायें जो स्वयं जनजातियों द्वारा प्रशासित हों तथा वे स्वयं ही यह तय करें कि कौन से परिवर्तन उन्हें अपनाने चाहिए और कौन से नहीं।

डा० घुरिये का मत है कि जनजातियाँ हिन्दुओं की पिछड़ी जातियाँ हैं। आपने इन्हें पिछड़े हिन्दू (Backward Hindus) माना और सुझाव दिया है कि इन्हें हिन्दू जाति व्यवस्था में मिला दिया जाय। ठक्कर बापा, देसाई जनजातियों के भारतीय समाज में आत्मसात (Assimilation) का सुझाव देते हैं। एस० सी० राय तथा वेरियर एल्विन जनजातियों की खोई हुई संस्कृति को पुनर्जीवित कर उनके पुनरुद्धार का सुझाव देते हैं। किन्तु केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने जनजातियों के लिए आधुनिक समय में इस नीति को अस्वीकार किया है तथा उन्हें आधुनिकता के सम्पर्क में लाने, शिक्षित बनाने, उनकी आर्थिक दशा सुधारने आदि के लिए प्रयत्न किये हैं। कृषि एवं सिंचाई के साधनों के लिए ऋण तथा अनुदान देने की सुविधाएँ जुटाई गई हैं। सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में तथा लोक सभा और विधान सभाओं में इनके लिए सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई है। शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् रोजगार मिलने तक की अवधि में इन्हें बेरोजगारी भत्ता देने की भी व्यवस्था की गई है। 20 सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पिछड़ी जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए भूमि सुधार, ऋणों से मुक्ति, बेगार से मुक्ति दिलाने आदि के लिए कई नये कदम उठाये। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं और सामुदायिक विकास योजनाओं में जनजातीय क्षेत्रों के विकास के लिए अलग से धनराशि खर्च करने का प्रावधान रखा जाता रहा है।

संविधान में इनकी समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न उपायों को अपनाने के सुझाव दिये गये हैं। संविधान की पाँचवीं अनुसूची में जनजातीय क्षेत्रों

वाले राज्यों में जनजातीय सलाहकार परिषदों की स्थापना करने की व्यवस्था है। भारत सरकार ने इनके लिए अनुसूचित जनजाति आयुक्त तथा जनजाति कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की है। संविधान के भाग 4 का अनुच्छेद 46 उन्हें आर्थिक और शैक्षणिक संरक्षण प्रदान करता है, अनुच्छेद 16 (ए) तथा 355 इनके लिए सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था करता है। ईसाई मिशनरियों, आर्य समाज तथा विश्व हिन्दू परिषद् आदि संस्थाओं ने भी आदिवासियों के आर्थिक और धार्मिक जीवन को उन्नत करने का प्रयास किया है। मानवशास्त्रियों ने इनकी समस्याओं के हल के लिए इनके सामाजिक सांस्कृतिक संगठनों, मूल्यों एवं प्रथाओं आदि का अध्ययन किया है और इनके लिए विकास की योजनाएँ प्रस्तुत की हैं।

मूल्यांकन

इसमें कोई दो राय नहीं है कि जनजातियों की समस्याओं के हल के लिए सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर अनेक प्रयास किये गये हैं। इनके लिए नई बस्तियाँ बसाई गई हैं तथा कृषि और उद्योगों के विकास के लिए ऋण तथा अनुदान की व्यवस्था की गई है। इसके बावजूद भी आदिवासियों की परम्परात्मक स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए हैं और अनेक समस्याएँ ज्यों की त्यों हैं। आधुनिकता के सम्पर्क के कारण उनमें कई नवीन समस्याओं ने जन्म लिया है। ईसाई मिशनरियों ने सामाजिक और आर्थिक सुधार के नाम पर उन्हें प्रलोभन देकर उन पर अपना धर्म थोपा है। इसीलिए डॉक्टर दुबे कहते हैं कि "वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना कठिन है कि धार्मिक प्रयासों ने आदिवासियों का हित अधिक किया है या अहित। यदि आदिवासियों का धर्म-परिवर्तन उन्हें अपने पड़ोसी समुदायों से दूर किये बिना ही उनकी सामाजिक एकता में सहायक होता है और उन्हें आधुनिक जीवन में भाग लेने को तैयार करता है तो उसका विरोध नहीं किया जा सकता है किन्तु यदि यह धर्म-परिवर्तन उनमें सांस्कृतिक विघटन उत्पन्न कर उन्हें भारतीय जीवन की मुख्य धारा से विमुख करता है तो उसकी उपयोगिता संदिग्ध होगी।"[1]

सरकार ने आदिवासियों के विकास के लिए योजनाएँ तो अच्छी बनाई हैं किन्तु उनके क्रियान्वयन करने वाले प्रशासकीय अधिकारियों ने उनके प्रति अरुचि और उदासीनता प्रकट की है। फलस्वरूप इन योजनाओं का पूरा-पूरा लाभ इन लोगों को नहीं मिल पाया है। कई बार इनको दिये जाने वाले ऋण और अनुदान का बहुत बड़ा भाग प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा ही हड़प लिया जाता है। इन लोगों में कृषि तथा निवास हेतु वितरित भूमि न तो कृषि-योग्य है और न ही निवास योग्य। ठेकेदारों ने और साहूकारों ने भी इनका खूब आर्थिक शोषण किया है और इन्हें

1 डॉ॰ दुबे, मानव और संस्कृति, पृष्ठ 294.

शोषण से मुक्त कराने की योजनाएँ केवल कागजी कार्यवाही बनकर रह गई हैं। व्यवहार मे अब भी इन लोगों का शोषण हो रहा है। ठेकेदारों ने भी इन लोगों से कठोर परिश्रम लिया है और बदले में निर्धारित न्यूनतम मजदूरी भी नहीं दी है। आदिवासी स्त्रियों का सरकारी अधिकारियों एवं ठेकेदारो द्वारा उपभोग किया गया है। इसके फलस्वरूप उनमे अनेक बीमारियाँ पनपी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिवासियों की समस्याओ को हल करने के लिए किये गये प्रयासों के आदर्श तो उच्च हैं किन्तु व्यवहार मे उनके माध्यम से उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पाई है।

जनजातीय समस्याओं को हल करने हेतु कुछ सुझाव

आदिवासियो की समस्याओ के हल के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं किन्तु हम इन्हें पर्याप्त नहीं कह सकते। इन समस्याओ के हल के लिए हम निम्नांकित सुझाव दे सकते हैं :

(1) आदिवासी क्षेत्रों मे यातायात के साधनों का विकास किया जाय और उनके गाँवों को मुख्य सड़कों और शहरों से जोड़ा जाय।

(2) इन लोगो को कृषि योग्य भूमि तथा आधुनिक कृषि के साधनों, उन्नत किस्म के बीज, खाद, सिंचाई के साधनों आदि की सुविधाएँ प्रदान की जायें।

(3) इन्हें स्वास्थ्यप्रद मकानों, पीने के पानी और बिजली आदि की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायें।

(4) विभिन्न प्रकार के कुटीर व्यवसाय खोलने की सुविधाएँ प्रदान की जायें।

(5) साहूकारों के चंगुल से मुक्ति प्रदान करने के लिए सहकारी समितियो की स्थापना की जाय जो इन्हें कम ब्याज पर ऋण दे।

(6) कानून द्वारा बाल-विवाह, कन्या-मूल्य प्रथा आदि पर रोक लगाई जाय तथा साथ ही कुप्रथाओ के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाय।

(7) युवागृहो का पुनरुत्थान किया जाय।

(8) आदिवासी क्षेत्रों में चिकित्सा और दवाओं का उचित प्रबन्ध किया जाय। बीमारियों की रोकथाम हेतु टीके लगाये जायें तथा इन लोगों को स्वास्थ्य के नियमों से परिचित कराया जाय।

(9) आदिवासी क्षेत्रों में अधिकाधिक शिक्षण संस्थायें खोली जायें। साथ ही उन्हें विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जाय। शिक्षा के प्रसार से से इनमें प्रचलित अन्ध-विश्वास समाप्त हो सकेंगे।

(10) आदिवासियों की कला, धर्म और संस्कृति को संरक्षण प्रदान किया जाय।

(11) केन्द्रीय और राज्य सरकारों को ऐसी नीति बनानी चाहिए जिससे प्रत्येक जनजाति की व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान हो सके। इन समस्याओं को हल करने के लिए समाजशास्त्रियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं जनता का सहयोग प्राप्त किया जाय।

(12) जनजातियों से सम्बन्धित योजनाओं को लागू करने का कार्य ऐसे कार्यकर्ताओं को सौंपा जाय जो इन लोगों के विकास में रुचि रखते हों।[1]

आज के इस वैज्ञानिक युग में सभी प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाय। समस्याओं के कार्य-कारणों की समुचित जाँच की जानी चाहिए। उन्हें हल करने के लिए हमें यथार्थ के धरातल पर आना होगा। योजनाएँ अपने आप में उत्तम होती हैं लेकिन उनके क्रियान्वयन में अनेक दोष पाये जाते हैं। देश के सम्मुख आज सबसे बड़ा संकट चरित्र का है। व्यक्ति की स्वार्थपरता इतनी बढ़ चुकी है कि वह समाज और राष्ट्र के हित की बात सोच ही नहीं पाता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने आप में सिमट जाता है, स्वार्थ-पूर्ति और अधिकारों के दुरुपयोग में लग जाता है। यह स्थिति किसी भी विकसित राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर नहीं है। अतः सामाजिक समस्याओं के हल के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षण संस्थाओं को चरित्र निर्माण की संस्थाएँ बनाया जाय, बालकों का उचित समाजीकरण किया जाय, योग्य व्यक्तियों को आगे आने के अवसर प्रदान किये जायें और प्रत्येक व्यक्ति में अपने दायित्व के निर्वाह के भाव को जाग्रत किया जाय। इस सारे प्रयत्न में राजनेताओं और नीति-निर्धारकों का विशेष दायित्व है। रोग का उचित निदान होने पर ही सही उपचार की आशा की जा सकती है। यही बात सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में भी सही है। केवल ऊपरी सतह को छूने वाले समस्याओं के उपचार समस्याओं को हल करने के बजाय उन्हें और अधिक जटिल बना देते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाय और उन्हें हल करने के व्यावहारिक उपाय ढूँढ़े जायें। यह सब कुछ दृढ़ संकल्प-शक्ति और निष्ठापूर्ण प्रयत्नों से ही सम्भव है।

प्रश्न

1. भारत में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के भिखारियों का उल्लेख कीजिए तथा इस देश में भिक्षावृत्ति के आर्थिक पहलू पर प्रकाश डालिए।
2. बाल-भिखारियों की समस्या को सुलझाने के लिए उपयुक्त सुझाव दीजिए।

---

1 देखिए, सामाजिक मानवशास्त्र—द्वारा एम० एल० गुप्ता एवं डी० डी० शर्मा, द्वितीय संस्करण, अध्याय 15, तथा भारतीय सामाजिक समस्याएँ, द्वारा मोती लाल गुप्ता, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 516-523.

3 भारत के बड़े नगरो मे भिक्षावृत्ति क्यो बढ़ती जा रही है ?

4. गन्दी-बस्ती से क्या तात्पर्य है ? गन्दी बस्तियो के विकास के लिए कौन-से कारक उत्तरदायी हैं ?

5. गन्दी-बस्तियो से सम्बन्धित समस्याओ पर प्रकाश डालिए तथा इनके निवारण हेतु उपाय सुझाइए ।

6. भारत मे भाषायी एव साम्प्रदायिक तनावो पर एक लेख लिखिए ।

7. भ्रष्टाचार का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके प्रकारो एव कारणो की विवेचना कीजिए ।

8. भ्रष्टाचार के दुष्परिणाम बताइए तथा इसके निवारण हेतु उपाय सुझाइए ।

9. जनजातियो की प्रमुख समस्याओ पर प्रकाश डालिए ।

10. जनजातीय समस्याओ को हल करने हेतु अभी तक किये गये प्रयत्नो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए ।